चौदह-रत्न ज्ञान-सागर

तथा—

गुप्त-ज्ञान-गुटका

रचयिता—

श्रीमत् परमहंस परिव्राजकाचार्य पूज्यपाद
अवधूत जी
श्रीगुप्तानन्द जी महाराज

तथा—

तत्व ज्ञान-गुटका

रचयिता—

श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य पूज्यपाद
अवधूत जी
श्रीकेशवानन्दजी महाराज (केशव भगवान)

प्रकाशक—
भाईलाल भाई डी॰ त्रिवेदी वकील
खम्बात (Cambay)
सम्वत् १९९३

तृतीयावृत्ति १०००]   मूल्य २)

मुद्रक — रामनारायण पाठक,

प्रस्तावना

सर्व सज्जनों को विदित हो कि:—कुछ समय के पूर्व वशिष्ठ विश्वामित्रादि प्रात: स्मरणीय महर्षियों की नाई जिज्ञासु भक्तों के सुकृत कर्मों की व्यक्तिदत्त मूर्ति ब्रह्मनिष्ठ, ब्रह्मश्रोत्रिय, महा अवधूत श्री गुप्तानन्दजी महाराज मुमुक्षुजनों के हितार्थ मध्यप्रदेश में बहुत काल तक चन्द्रवत् सानन्द विचरते रहे और सम्वत् १९७९ में मन्दसौर ग्राम के मध्य विष्णुपुरी नामक स्थान में समाधिस्थ हुवे।

वास्तव में मनुष्य चार प्रकार के होते हैं (१) पामर (२) विषयी (३) जिज्ञासु और (४) मुक्त. इन के लिये क्रम पूर्वक वेद में एक लाख मन्त्र हैं। जिन में ८० हजार कर्म के प्रतिपादक और १६ हजार उपासना के प्रतिपादक-रोचक, भयानक, विधि तथा, निशेध-वाक्य हैं, तथा शेष ४ हजार ज्ञान-काड संबंधी यथार्थ वाक्य हैं। परन्तु-वेद भगवान् का तात्पर्य साक्षात् तथा परम्परा करके अधिकारि के प्रति कर्म रूपी बंधन की अत्यन्त निवृति और परमानन्द की प्राप्ति मोक्ष का प्रदान करना है तात्पर्य यह है कि-क्रम से प्रथम पामर को निषेध कर्म छुड़ाने के लिये स्वर्गसुख का लालच

दिया जाता है और विहित कर्म में गुडजिव्हा न्याय से प्रवृत कराके विषयी बनाते हैं, पश्चात विषयी पुरुष को भी सांसारिक तथा–स्वर्गादिक सुखों में परिच्छिन्नता व दुःखरूपता बताकर विचार पूर्वक वैराग्य उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार वैराग्यवान् जिज्ञासु होकर, अन्त में ब्रह्मात्मस्वरूप असंग निश्चय करके मुक्त होता है। आत्मा स्वयंप्रकाश होने से सदैव ही सर्व को स्वतः सिद्ध है। इसमें संशय युक्त विपरीत भावनामय अज्ञानरूपी तम के नाश करने के अर्थ महात्माओं की वाणी वेद से अभेद ज्ञानरूपी सूर्य के समान है। इस प्रकार की वाणी चाहे भाषा में हो अथवा–संस्कृत में उसका श्रवण मनन करना ही परमपुरुषार्थ है। इसके अतिरिक्त विवेकीजनों को कुछ भी कर्तव्य नहीं। यही कारण है कि–इन महात्मा ने यह ग्रन्थ 'गुरु' शिष्य संवाद रूप में सहज ही बोध कराने के लिये "चौदहरत्न गुप्तसागर" नाम से निर्माण किया है। जैसे परमात्मा ने अगाध समुद्र से जग विख्यात चौदह रत्न निकाले थे, उसी प्रकार महात्मा श्री गुप्तानन्दजी महाराज ने वेद रूपी महा–सागर से मुक्ति रत्न से लेकर विदेह रत्न पर्यन्त १४ रत्न निकाल कर जिज्ञासुजनों के सम्यक्ज्ञान, मोक्षधाम, तथा–विद्या नियों के चित्त का चन्द्रमा प्रकट किया है और बोध की दृढ़ता के अर्थ हर एक रत्न में अनेक युक्ति प्रमाण न्याय दृष्टान्त तथा दा र्ष्टान्त कथन किये हैं, जिनके रहस्य को निश्चय कर अनुभव रूपी निराकार सच्चिदानन्द ब्रह्मरूपी आत्मा स्वतःसिद्ध अपरोक्ष

सगोचर नित्य प्राप्त की प्राप्ती का अलभ्य लाभ उठा के जन्म मरण रूपी संसारमूलअविद्या से मुक्त होते हुवे तुलाशेष पर्यन्त जीवनमुक्त होकर स्वच्छन्द विचर ने का सयोग प्राप्त होता है। कर्म उपासना की अवधि केवल अन्त करण को शुद्धि पर्यन्स ही है। सो भी इस ग्रंथ के श्रवण मनन द्वारा सत्संग पूर्वक सिद्ध होकर अनेक मुमुक्षुजनों को जीवन मुक्ति का लाभ मिल सकता है।

इसके साथ ही दूसरा ग्रथ "गुप्तज्ञान-गुटका" नामक छन्दो बद्ध निदिध्यासनरूप परमार्थ छन्द लावणी, गजल, होली आदि पद रसिक विद्वानो के प्रति सर्वोपयोगी इन्हीं महात्मा का कथन किया हुवा प्रकाशित है।

यह पुस्तक प्रथम सम्वत् १९७८ मे इन्दौर निवासी मानाजो नानूराम वर्मा ने परम पूज्य स्वामीजो की आज्ञा से छपाकर प्रकाशित की थी। पुस्तक का विषय अति गहन होते हुवे भी वहुत ही सरल रीति से पतिपादित किया गया है। इतना ही नहीं किन्तु रचयिता महानुभाव के बचन अनुभव सिद्ध हाने के कारण उन का रसिक जनों के हृदय पर विशेष प्रकार का प्रभाव पड़ता है। यही कारण है कि-प्रथम सस्करण की सब प्रतियाँ शीघ्र ही बिक गई। तदुपरान्त इस परम उपयोगी तथा-अमूल्य ग्रथ का अभाव दूर करने के अर्थ अनेक सत्संग प्रेमी सज्जनों की हार्दिक प्रेरणा के कारण से इसे द्वितीयवार छापकर सर्व हितार्थ प्रकाशित करने का सयोग प्राप्त हुआ है। ॐ

तृतीयावृत्ति की प्रस्तावना

प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रथम और द्वितीय आवृत्तिकी समस्त प्रतियाँ बहुत समय हुवे बीत जाने और चारों ओर से अत्यधिक माग होने के कारण, परब्रह्म-परमात्म स्वरूप महा-अवधूत श्री बापजी श्री १०८ श्री नित्यानन्दजी महाराज के पवित्र आदेशानुसार यह तृतीय आवृत्त प्रकाशित हो रही है। "ऐसे महान् उपयोगी संग्रह योग्य ग्रन्थ की आवृत्ति तो अब से कई वर्ष प्रथम ही प्रकाशित हो जानी चाहिये थी ?" ऐसी शंका एक बार उठने पर इस ग्रन्थ की उत्पत्ति और प्रकाश में आने की एक सत्य-घटना सुनने में आयी है, जो नीचे दीजाती है —

परब्रह्म स्वरूप, महाविरक्त,महा अवधूत ,ब्रह्मलीन श्री १०८ श्री शुभानन्दजी महाराज मालवाप्रान्त के मन्दसौर नगर में जिस स्थान पर पिछले दिनों विराजते रहे, वह पवित्र स्थान, नदी के किनारे बनी हुई 'स्मशान की छिपरी' आज भी विद्यमान है।

बहुधा चातुर्मास्य के दिनों में नदी में बाढ़ (रेल) आने पर वह छिपरी जलमग्न होजाया करती है। अस्तु—प्रस्तुत ग्रन्थ पूर्ण होजाने पर एक बार एकाएक बहुत ही प्रबल बाढ़ आगयी, श्री शुभानन्दजी महाराज उस पुस्तक को एक तख्ते (जोकि बाढ़ में भी बह नहीं सकता था) के साथ बंधा छोड़कर छिपरी से निकल आये। इतने में लोगों के देखते २ उस तख्ते सहित वह पुस्तक जल के प्रवाह में प्रवाहित होगयी।

लोगों को इसका बहुत ,ही दुःख हुवा । क्योंकि-सच्चे महापुरुष प्रथम तो किसी से बोलते ही नहीं है, और फिर बोलते हैं, तो उनके मुख से निकली वाणी वेदार्थ को ही प्रगट करने वाली होती है । तदनुसार श्री गुप्तानन्दजी महाराज के मुख से निकली वाणी को समीपस्थ अधिकारी पुरुष नोट कर लिया करते थे, वह सारा भंडार इस प्रकार नष्ट होते देख किस पुरुष को दुःख न होता ? अस्तु ! कुछ दिनों बाद वह तख्ता जो नदी तटवर्ती १०।१२ मील पर रिथन ? गाव में पड़ा मिल गया,परन्तु-बन्धन सहित वहग्रन्थ नहीं मिला ।

६ मास के पश्चात् एक दिन नदी के किनारे २ घूमते हुवे ५।६ मील आगे जाकर एक स्थान पर श्री गुप्तानन्दजी महाराज ने अपने साथी पुरुषों से भूमि खोदने को कहा । ४।५ हाथ खोदने पर यह महा ग्रथ अपनी असली दशा में निकल आया । जिसे देखकर प्रत्येक व्यक्ति को साश्चर्य अपार हर्ष हुवा ।

अनन्तर सभी जिज्ञासु भक्तों के अत्यधिक साग्रह प्रार्थना करने पर कई वर्ष के पश्चात् श्री अवधूतजी महाराज ने इसके छपाने की आज्ञा दी । और यह ग्रन्थ प्रकाश में आया । ॐ ।

अब रही इस ग्रन्थ की उपोगिता,सो इस के बारे में एक अक्षर भी लिखना सूर्य को दीपक द्वारा दिखाना जैसा है । एवं द्वितीयावृत्ति की भूमिका मे,प्रकाशक-(ब्रह्मलीन-श्रीपं०कन्हैयालालजी उपाध्याय वकील रतलाम) ने कुछ संक्षेप में लिखाहो है । अस्तु

इस आवृत्ति में आकार परिवर्तन के साथ श्री ब्रह्मलीन महा अवधूत श्री १०८ श्रीकेशवानन्द जी महाराज (श्रीकेशव भगवान्) की वाणी का संग्रह रूप "तत्व-ज्ञान गुटका" नामक ग्रन्थ भी इसके पीछे सम्बद्धकर दिया है। तथा-श्री गुप्तानन्द जी महाराज के जो पद,कवित्त आदि तत्व ज्ञान गुटका,के पीछे लगा दिये गये थे, वह अब "गुप्त ज्ञान-गुटका" में यथा स्थान रख दिये गये हैं।

यद्यपि—'श्रीराधेश्याम-प्रेस, बरेली' के अध्यक्ष, मैनेजर कम्पोजिटर तथा-प्रेसमैनों तक ने इसे शुद्ध सुपाठ्य और अच्छे ढंग से प्रकाशित करने का पूर्ण यत्न किया है,तथापि-अनेक त्रुटियाँ रह गयी हैं,जो आशा है-चतुर्थ आवृत्ति में सन्तों के श्रीचरणों की कृपा से सुधर जायेंगी,क्योंकि-त्रिगुणी के बनानेवाले हैं। ❁ तत्सत्।

प्रकाशक—

नोट—(१) "बोधक रत्न-गुप्तसागर", तथा "गुप्तज्ञान-गुटका" में बहुधा 'ने' की जगह 'का' का प्रयोग पूज्य ग्रन्थ कर्ता ने किया है। हो सकता है, ऐसा प्रयोग करने में कोई गम्भीर रहस्य हो। इसी प्रकार अनेक स्थलों में विभक्तियों का परिवर्तन होसकता है, अतः भावुक पुरुषों के-अतिरिक्त साहित्यिक महानुभावों से प्रार्थना है वह इस नोट पर ध्यान देवें। तथा-यह भी ध्यान में रक्खें कि- आज से लगभग २५। ३० वर्ष पहिले हिन्दी में जिस ढंग की कविता का प्रचार था उसी ढंग की कवितायें उक्त महा पुरुष की भी वाणी से प्रगट हुई हैं और उसी ढंग से इनको पढ़ने से विशेष आनन्द की प्राप्ति होगी इस में संशय नहीं।

निवेदक—

शिशु०

विषयानुक्रमणिका

सूची

"चौदहरत्न-गुप्तसागर"

विषय

चौदह रत्न गुप्त सागर प्रारंभः

मङ्गलाचरण

शिवः केवलो ऽहं शिवः केवलो ऽहमस्मि ।
शिवः केवलो ऽहं शिवः केवलो ऽहमस्मि ॥
शिवः केवलो ऽहं शिवः कवलो ऽहमस्मि ।
शिवः केवलो ऽहं शिवः केवलो ऽहमस्मि ॥

—०—

इस मङ्गलाचरण के अतिरिक्त और भी मङ्गल करते हैं:—

❀ त्रोटक छन्द ❀

निज आतम मङ्गल रूप सदा । फिर मङ्गल किसका कीजै जुदा ।
वो सब मङ्गल का मङ्गल है । तिसतें भिन्न और अमङ्गल है ॥१॥
दशहू दिशि मङ्गल है जिसको । जिन व्यापकरूप लख्या तिसको ।
हरि हर सुर गणेश जिते । सब आतम में कल्पित हैं तिते ॥२॥

आतम सब का आधारा है। वह नाम रूप से न्यारा है ॥
जिसमें मिथ्या संसारा है। सो अभ्ययरूप अपारा है ॥३॥
सत् चेतन का चमकारा है। वो आनन्द रूप हमारा है।
दूजे का मजहब क्या कीज। जो काल पाय के सब छीज ॥४॥
आतम त्रिकाला आप सही। दूजे का जिसमें लेश नहीं ॥
कोइ लोक न वेद न पक्ष सुरा। गुरु शिष्य न जामें परम्परा ॥५॥
कोइ मजहब न पन्थ सन्यास जहाँ। कोइ साधन साध्य न ज्ञान सहाँ ॥
सो ज्ञान सरूप सदा नित है। नहिं योगी नहीं इन्द्रीजित है ॥६॥
नहिं दृष्ट सृष्ट में आवत है। खोजे जब आपहि पावत है ॥
हम आपन मजहब आप किया। सब करना हम से दूर हुआ ॥७॥
क्रिया का मुझ में लेश नहीं। कोइ देश और परदेश नहीं ॥
मैं ही व्यापक गुप्त बिना काया। कोइ जीवन ईश नहीं माया ॥८॥

अनुबन्ध

अधिकारी के लक्षण जो मुक्ति रत्न से लेकर जिज्ञासा रत्न पर्यन्त कथन किये हैं सो जानने योग्य हैं। प्रतिपाद्य प्रतिपादक भाव रूप जो 'संबंध' है सो भी इस ग्रंथ में यथाक्रम कथन किया गया है। वास्तव में जीव ब्रह्म की एकता इस ग्रंथ का मुख्य 'विषय' है जो ज्ञान रत्न में विशेष रूप से प्रतिपादन किया गया है। इसी प्रकार जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति-रत्न में इसके प्रयोजन का विवेचन करने में आया है।

॥ अथ युक्ति रत्न ॥

शिष्य गया गुरु देव ढिंग, छांडि कपट छल बंक ॥
कर प्रणाम लखि मुदित मन, पूछन लगा निशंक॥१॥
सुख की चाहूं प्राप्ति मैं, सभी दुःख की हान ॥
सो कैसेकर होत है, कहिये कृपा निधान ॥२॥

किसी समय एक शिष्य, कपट, छल, बक्रभाव (अर्थात्-प्रमाद) आदि त्याग कर, अपने सद्गुरु के पास गया और प्रणाम करके उसने देखा कि—इस समय गुरु महाराज अपने पर बहुत प्रसन्न हैं, तब तो वह संकोच रहित, अर्थात् निर्भय होकर सविनय पूछने लगा—

हे गुरु देव! मैं सुख की प्राप्ति और सब प्रकार के दुःखों की निवृत्ति चाहता हूँ, सो हे कृपानिधान! आप मुझ पर दया करके कहिये, मेरी यह इच्छा कैसे सफल हो सकती है?" शिष्य के दीनता पूर्वक इस प्रकार प्रश्न करने पर गुरु बोले —

'हे शिष्य! तू किसके वास्ते और कैसा सुख चाहता है? वेदों में दो प्रकार के पदार्थ कहे हैं—(१) आत्म और (२) अनात्म, इनमें से तू आत्मा के सुखकी प्राप्ति चाहता है?

अथवा अनात्मा के ? यदि तू कहे कि—अनात्मा के सुख को चाहता हूँ, तो तेरा यह कहना वृथा है, क्यों कि—अनात्मा का तात्पर्य अपने से भिन्न का है, और यह स्पष्ट है कि तेरे से भिन्न वाले दूसरे के आराम से तेरे को आराम नहीं होता है। जैसे किसी मनुष्य को निधि प्राप्त हो तो उस निधि-जनित-सुख की प्राप्ति भी उसी को होगी दूसरे को नहीं होगी। इसी प्रकार अनात्म को सुख प्राप्त होने से तेरा प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा।

वेद ने अनात्म-पदार्थों को सुख रूप नहीं कहे हैं,—बल्कि असत्, जड़ और दुःखरूप ही कहे हैं। इसलिये इस लोक तथा परलोक के सभी अनात्म पदार्थों को सुख की प्राप्ति होना संभव नहीं।

अब यदि तू कहे कि—आत्मा के लिए सुख की प्राप्ति चाहता हूँ तो तेरा यह कथन भी बनता नहीं, क्योंकि—वेद ने आत्मा को सुख रूप कहा है और इस शरीर से लेकर स्त्री पुत्र और शरीर के उपकारक—धन, पशु आदि सभी लौकिक तथा पारलौकिक अनात्म पदार्थों को दुःखरूप बताया है।

गुरु के उक्त वचन सुनकर शिष्य बोला—हे भगवन्! आप कहते हैं कि—'पदार्थों में सुख नहीं है,' परन्तु—मुझे यह कथन जँचता नहीं है, क्योंकि मेरे को तो पदार्थों में सुख प्रतीत होता है। यदि पदार्थों में सुख नहीं हो तो उनके प्राप्त होने से जो आनन्द होता है वो नहीं होना चाहिए, क्योंकि, बिना हुए पदार्थ

की प्रतीति होती नहीं है। यदि विना हुये पदार्थ की प्रतीति मानें तो वन्ध्या पुत्र आदि की प्रतीति होना चाहिये कि-जो किसी को भी होती नहीं। अत -ऐसा प्रत्यक्ष दिखाई देता है कि-पदार्थों मे ही आनन्द हैं। आप कहते हैं कि-'पदार्थ सुख रूप नहीं हैं'। यह कथन मेरी समझ मे नहीं आता।

यदि ऐसा कहा जाय कि-आत्मसुख का ही विषय मे भान होता है, तो मेरे विचारानुसार यह भी सभव नहीं, क्योंकि-आत्मा का तो किसी काल में अभाव नहीं होता, आत्मा नित्य है, ऐसी स्थिति में सुख का भी कदापि-अभाव नहीं होना चाहिये। यदि विषय में आत्म सुख का भान हो तो सदैव ही सुख की प्राप्ति होना चाहिये. परन्तु-सुख सदैव होता नहीं है। इससे यही जाना जाता है कि-विषय में ही आनन्द है, और प्रत्यक्ष भी देखने और सुनने मे आता है 'मेरे स्त्री, पुत्र, धन, नहीं इस करके मैं बहुत दुखी हू'। और शास्त्र द्वारा सुनने मे आता है कि-"जिस काल मे देवराज इंद्रका और दैत्यो का पदार्थो के वास्ते बड़ा भारी युद्ध हुआ तब दैत्यों ने जय पाई और इद्र हार गया और भोगों की इच्छा करके दीन होगया, तब विष्णु भगवान् के पास जा के विषय सुख के वास्ते बहुत दीनता की, "यदि विषय में सुख नहीं होता तो-अमरेश विष्णु की कृपा का पात्र क्यों होता? इससे जाना जाता है कि-विषय में ही सुख है"।

गुरुउवाच'—हे शिष्य ! तुमने जो कहा कि—'विषय में ही सुख है' सो ऐसी बुद्धि तो विषयी पुरुषों की होती है, तू काहे को विषयी बनता है। और तुमने किसी रीति से विषय में सुख की प्रतीति भी होती है, तो तेरे से यह पूछते हैं कि—विषय में सुख अनित्य है कि नित्य ? यदि तुम प्रथम पक्ष स्वीकार करो कि—विषय सुख अनित्य है तो अनित्य सुख की कोई भी जिज्ञासु इच्छा करता नहीं और अनित्य सुख की जो इच्छा करते हैं वे जिज्ञासु नहीं। और जो तुम दूसरा पक्ष अङ्गीकार करो कि—विषय सुख नित्य है, तो आत्मा का स्वरूप ही सुख होवेगा। क्योंकि वेद में आत्मा को सुखस्वरूप और नित्य कहा है इसलिये आत्मा से भिन्न अनात्म वस्तु कोई भी सुख रूप है नहीं, एक आत्मा ही सुखरूप है, जिसको सुख की प्राप्ति कहना बनता नहीं क्योंकि पहिले जो वस्तु नहीं होवे तिसकी ही प्राप्ति कहना बनता है सो आत्मा वेद न आत्म स्वरूप कहा है तिसको सुख प्राप्ति की चाहना बने नहीं। और जो तूने यह बात कही थी 'जो आत्मसुख ही विषय में मान होवे तो सब काल सुख की प्रतीति होनी चाहिए।' आत्मा नित्य होने से यह कहना भी तेरा बनता नहीं। क्योंकि—आत्मा का तो उत्पत्ति नाश होता नहीं और तुम भी अंगीकार करते नहीं हो क्योंकि वह नित्य है।

परन्तु साक्षी आत्मा के आश्रित जो मनरूपा अन्तःकरण की वृत्ति वह इंद्रिय द्वारा निकल के बाह्य देश में आकर अनुकूल वा प्रतिकूल

पदार्थ से मिल के सुखाकार वा दुखाकार होती है। और जब अनुकूल विषय की प्राप्ति होती है तब वृत्ति सुखाकार होती है। यद्यपि वह वृत्ति राजस है, तिस वृत्ति से सुख की प्राप्ति कहना संभवे नहीं, क्योंकि सुख-सात्त्विकी वृत्ति से होता है तिसका कोई निमित्त है नहीं, तथापि-तिस विषय को जो प्राप्ति हुई है तिस विषय की प्राप्ति से तिस राजस वृत्ति का नाश होगया है; परन्तु तिस वृत्ति के नाश से अनन्तर दूसरी सात्त्विकी वृत्ति उत्पन्न होवे है, तिस वृत्ति के उत्पन्न होने में राजस वृत्ति का नाश ही निमित्त है, परन्तु बहिर्विषय के आनन्द का विषय करने से वह वृत्ति भी बहिर्मुख ही होती है, तिस वृत्ति से भी अन्तर आनन्द का भान होवे नहीं, परन्तु तिस बहिर्मुख सात्त्विकी वृत्ति के पीछे और अन्तर्मुख वृत्ति उत्पन्न होवे है, तिस वृत्ति से अन्तर्मुख जो अन्त करण उपहित आनन्द है तिसका ही भान होवे है और बहिर्मुख जो सात्त्विकी वृत्ति हुई है और विषय के आनन्द का जो लाभ हुआ है, तिस आनन्द से वृत्ति की स्थिति हुई है, यही तिस अन्तर्मुख वृत्ति के होने मे निमित्त है, ।

तात्पर्य यह है कि-जितना कि अन्तर और बाहर जो आनन्द भान होता है सो सब वृत्ति के ही उत्पत्ति और नाश से होवे है, इसी करके सुख का नाश होवे है और वृत्ति की स्थिरता होने से विषय में आनन्द का भान होवे है सो आत्मा का ही

आनन्द है। जैसे जितने पदार्थन में जो मीठा मालूम होता है सो सभी गन्ने का रस है, क्योंकि जितनी कि अन्न मिश्रित मिठाई बनती हैं सो सब खांड करके मीठी होती है, तैसे ही जितना कि जो आनन्द का भान होवे है बाहर और अन्दर सो सभी ब्रह्म आत्मा जिस ब्रह्म का ही है, आत्मा स भिन्न और कोई भी आनन्द स्वरूप है नहीं। इस करके जो तू आत्मा क वास्ते सुख को चाहे सो तेरा कथन बने नहीं, क्योंकि आत्मा सदा आनन्दस्वरूप है और वेद मे भी कहा है—

"प्रज्ञानमानन्दब्रह्म"

तिस महा वाक्य करके प्रज्ञान पद जीव-आत्मा का वाचक है और ब्रह्म पद ईश्वर का वाचक है। और आनन्द पद दोनों को अपने में ही बतावे है, इस करके भी आत्मा सुख रूप ही है, परन्तु—भाग त्याग लक्षणा करके देखिये तब तेरे को मालूम होवेगा कि—आत्मा आनन्द स्वरूप ही है, और जो तू सुखादिकों को आत्मा के गुण कहे सो भी बात तेरी बने नहीं क्योंकि—गुण और गुणी का तादात्म्य सम्बन्ध होता है सो भी तिन अनात्म पदार्थों का ही होता है और जो जिसका जिसमें तादात्म्य होता है सो तिसका स्वरूप ही होव है जैसे जाति और व्यक्ति का तादात्म्य होत सो जाति व्यक्ति स्वरूप ही है, व्यक्ति स भिन्न करके दखिये तो जाति कहीं मिलती नहीं। यातें आ"त्म

पदार्थन का भी जिनका तादात्म्य होवे है, तिनका भी कल्पित ही भेद होवे है, वास्तव में गुण और गुणी का अभेद ही होवे है तब अनात्म पदार्थो का भी अभेद ही है, जब अनात्म है तो निर्गुण कहाँ है ? तिस निर्गुण आत्मा का गुणों से कौन सम्बन्ध है ?

संयोग अथवा समवाय सम्बन्ध है, सो समवाय सम्बन्ध तो पूर्व की रीति से बनता नहीं क्योंकि–जिन पदार्थन का न्याय शास्त्र में समवाय सम्बन्ध माना है उन पदार्थन का वेदान्तशास्त्र में तादात्म्य-सम्बन्ध माना है, तादात्म्य के नहीं बनने से समवाय भी बनता नहीं. और दूसरा सयोग सम्बन्ध कहा सो भी बनता नहीं, क्योंकि संयोग दो के आसरे रहता है याते कोई भी आसरा संयोग का बनता नहीं।

जो ऐसा कहे कि आत्मा के आसरे संयोग रहे है, सो यह कहना बनता नहीं, क्योंकि आत्मा को असंग कहा है, याते असग आत्मा में संयोग का आसरा बनता नहीं। और जो दूसरा पक्ष कहे कि 'गुणन के आसरे सयोग रहता है' सो भी बात बनती नहीं, क्योंकि गुण जड होने से संयोग का आसरा बनते नहीं, इस करके सुखादिक गुणन का और आत्मा का कोई भी सम्बन्ध है नहीं। यातें भी सुखादिक आत्मा के गुण नहीं है, सुखादिक आत्मा के स्वरूप ही है जो जिसका स्वरूप ही होवे है, सो तिस से भिन्न होवे नहीं। जैसे द्रवता जल का स्वरूप है, जैसे

उष्णता अग्नि का स्वरूप है, वैसे ही सुखादिक आत्मा के गुण नहीं है, आत्मा के स्वरूप हो है, और जो तुम ऐसे कहो कि—

'सुखादिक आत्मा के धर्म हैं' तो हम यह पूछते हैं कि सुखादिक अन्तरात्मा के धर्म सो तैने कैसे जाना ? यह आप बताइये जो तुम यह कहो कि आत्मा करके जाना सो यह तुम्हारा कहना बनता नहीं, क्योंकि आत्मा सब धर्मों से रहित वेद ने कहा, जैसे और सर्व धर्मन से रहित है, वैसे जानना भी एक धर्म है सो तिस जानन से भी रहित है या ते साक्षी आत्मा में जानना बनता नहीं। तो यद्यपि अनात्मा में भी जानना बनता नहीं और सुखादिकों का भान होता है सो नहीं होना चाहिये तथापि जैसे दूर देश में वस्तु होवे तिसके देखने में नेत्र की सामर्थ नहीं होवे है, और एक दूरबीन शीशा होता है केवल तिसमें भी सामर्थ नहीं होवे है और जब उस दर्पण को नेत्र से मिलाइये तब दूर देश स्थित वस्तु जानी जाती है, तैसे साक्षी आत्मा में भी जानना नहीं है और जड़ अनात्मा जो अन्तःकरण तिसमें भी जानना बनता नहीं, परन्तु— चेतन आत्मा के आश्रित जो जड़ अन्तःकरण तिस अन्तःकरण की वृत्ति आत्मा के प्रकाश करके प्रकाशित हुई सुखादिकन को प्रकाशती है तिस साभास वृत्ति करके सुखादिक जाने जावे हैं इस रीति से सुखादिक आत्मा के धर्म जाने हैं।

न्यायशास्त्र में सुखादिक आत्मा के ही धर्म कहे हैं इस

करके भी सुखादिक आत्मा के ही धर्म सिद्ध होवे हैं। इस युक्ति से और न्यायशास्त्र का प्रमाण देके सुखादिक आत्मा के धर्म सिद्ध करे सो भी कहना बनता नहीं, क्योंकि प्रथम तो आत्मा को सर्व धर्म से रहित ही कहा है, उस सर्व धर्म रहित आत्मा मे किसी धर्म के आरोपण करने का नाम भ्राति है। जैसे उष्णता से रहित को उष्णतासहित कहना, तथा—दंडरहित को दंडी कहना बनता नहीं, क्योकि तत्–धर्म रहित को तत्–धर्म विशिष्ट कहना ही भ्रांति है, सो ऐसी भ्राति तेरे को कहाँ से प्राप्त हुई है।

सुखादिक आत्मा के धर्म हैं यह कहना तेरा ऐसा है, जैसे कोई कहे चंद्रमा की किरण से मेरे को बड़ी तप्ती मालूम हुई और मरुस्थल की नदी में मैंने जलपान और स्नान किया तब मेरे को शीतलता हुई ऐसे ही तू कहता है कि मैंने साभास वृत्ति से सुखादिक आत्मा के धर्म जाने हैं, सो आत्मा के धर्म सुखादिक किस वृत्ति से जाने हैं? सात्त्विकी वृत्ति करके जाने हैं अथवा राजसी वृत्ति करके जाने हैं? अथवा तामसी वृत्ति करके जाने हैं? इसमें भी वृत्ति के भेद हैं, एक सात्त्विक सात्त्विकी होती है, दूसरी सात्त्विक राजसी है और तीसरी सात्त्विक तामसी होती है। जैसे सात्त्विक वृत्ति के तीन भेद हैं वैसेही राजस और तामस के भी जान लेना पर उनसे किसी का ज्ञान कहना सभव नहीं, सात्त्विक वृत्ति से ही सभव है।

उष्णता अग्नि का स्वरूप है, तैसे ही सुखादिक आत्मा के गुण नहीं हैं, आत्मा के स्वरूप ही हैं, और जो तुम ऐसे कहो कि—

'सुखादिक आत्मा के धर्म हैं' तो हम यह पूछते हैं कि सुखादिक अन्तरात्मा के धर्म सो तैने कैसे जाना? यह आप बताइये जो तुम यह कहो कि आत्मा करके जाना सो यह तुम्हारा कहना बनता नहीं, क्योंकि आत्मा सब धर्मों से रहित वेद ने कहा जैसे और सर्व धर्मन से रहित है, तैसे जानना भी एक धर्म है सो तिस जानने से भी रहित है या ते साक्षी आत्मा में जानना बनता नहीं। तो यद्यपि अनात्मा में भी जानना बनता नहीं और सुखादिकों का भान होता है सो नहीं होना चाहिये तथापि जैसे दूर देश में वस्तु होय तिसके देखने में नेत्र की सामर्थ नहीं होवे है, और एक दूरबीन शीशा होता है केवल तिसमें भी सामर्थ नहीं होवे है और जब उस दर्पण को नेत्र से मिलाइये तब दूर देश स्थित वस्तु जानी जाती है, तैसे साक्षी आत्मा में भी जानना नहीं है और जड़ अनात्मा जो अन्तःकरण तिसमें भी जानना बनता नहीं, परन्तु—चेतन आत्मा के आश्रित जो जड़ अन्तःकरण तिस अन्तःकरण की वृत्ति आत्मा के प्रकाश करके प्रकाशित हुई सुखादिकन को प्रकाशती है तिस साभास वृत्ति करके सुखादिक जाने जाते हैं इस रीति से सुखादिक आत्मा के धर्म जाने हैं।

न्यायशास्त्र में सुखादिक आत्मा के ही धर्म कहे हैं इस

नि वृत्ति है अथवा लक्षणा वृत्ति है? जो तू ऐसा कहे
खादिक हमने जाने हैं सो भी तेरा कहना
ई में जिस अर्थ को शक्ति होती है सो
होता है, और तिस को वाच्य अर्थ
करके सात्त्विक वृत्ति द्वारा सुखादिक
य वाचक का भेद मानता अथवा अभेद
भेद मानता है, यदि तू कहे कि वाच्य
मानता हूं तो वास्तव से भेद मानता है
ानता है, जो तू ऐसे कहे कि–'वास्तव में भेद
तरा कहना बनें नहीं, क्योंकि वाच्य और वाचक
. होता है। जैसे घट पद वाचक है और कलश
च्य है, सो घट पद और तिसका वाच्य अर्थ
क ही वस्तु के नाम हैं, इस करके वाच्य और
ास्तव में भेद बने नहीं, और दूसरा कल्पित भेद कहे,
ल्पना मात्र ही है, क्योंकि कल्पित वस्तु अधिष्ठान से
ी नहीं इस से तो हमारा ही मत सिद्ध होता है।

दूसरा अभेद पक्ष कहे सो भी बनता नहीं, क्योंकि वाच्य वाचक
अभेद हो तो जैसे अग्नि पद का अंगार वाच्य है, जो अग्नि से
त्यंत अभिन्न होवे तो अग्नि पद उच्चारण करने से मुख का दाह
होना चाहिये, ऐसे ही उदक पद उच्चारण करने से मुख शीतल होना

फिर यह पूछते हैं—जो पूर्व तीन भेद कहे हैं,उनमें स सात्त्विक सात्त्विकी से सुखादिक आत्मा के धर्म जाने जाते हैं अथवा सात्त्विक राजस स जाने जाते हैं अथवा सात्त्विक तामस से जाने जाते हैं?' यह बात तुम हमारेको बताओ ।

यदि तुम कहो कि "सात्त्विक सात्त्विकी वृत्ति से सुखादिक आत्मा के धर्म हमने जाने है" तो यह कहना तुम्हारा बनता नहीं, क्योंकि जाग्रत अवस्था में कोई कथा प्रसंग सुनके जो चित्त का एकाग्र होजाना है अथवा-किसी ध्यान करके जो मन एकाकार होके अन्य वस्तु में वृत्ति के प्रवाह की समाप्ति होती है उसी वृत्ति को सात्त्विक सात्त्विकी कहते हैं। और इसी प्रकार जाग्रत अवस्था में स्वर्ग के भोगों की इच्छा करके यज्ञादि कर्म का करना सात्त्विक राजस वृत्ति का काय है और जाग्रत अवस्था में आलस्य निद्रा क वश होके करन योग्य कार्य को नहीं करना ही सात्त्विक तामस वृत्ति है, ऐस ही राजस और तामस को भी जान लेना। वास्तव में राजस तामस वृत्ति स तो कोई भी ज्ञान यथावत् बनता नहीं, किन्तु सात्त्विक वृत्ति स ही बनता है, ऐसा कहना पड़ेगा और हम यह भी जानते हैं कि भगवत् वचन का प्रमाण भी तुम देओगे कि "सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एवच" इस प्रकार स सुखादिक आत्मा के धर्म हैं' ऐसा तुम कहो तो हम पूछते हैं कि— जिस सात्त्विकी वृत्ति करके सुखादिक आत्मा के धर्म जाने हैं

सो वह शक्ति वृत्ति है अथवा लक्षणा वृत्ति है? जो तू ऐसा कहे कि शक्ति वृत्ति करके सुखादिक हमने जाने हैं सो भी तेरा कहना बनता नहीं, क्योंकि—जिस पद मे जिस अर्थ को शक्ति होती है सो अर्थ तिस पद का शक्य अर्थ होता है, और तिस को वाच्य अर्थ भी कहते हैं, सो धर्म सिद्ध करके सात्विक वृत्ति द्वारा सुखादिक अन्तिम आत्मा के तू वाच्य वाचक का भेद मानता अथवा अभेद मानता है, अथवा-भेदाभेद मानता है, यदि तू कहे कि वाच्य और वाचक का भेद मानता हु तो वास्तव से भेद मानता है अथवा कल्पित भेद मानता है, जो तू ऐसे कहे कि-'वास्तव में भेद मानता हूँ, तो यह तेरा कहना बनें नहीं, क्योंकि वाच्य और वाचक का नाम मात्र भेद होता है। जैसे घट पद वाचक है और कलश अर्थ तिसका वाच्य है, सो घट पद और तिसका वाच्य अर्थ कलश दोनों एक ही वस्तु के नाम हैं, इस करके वाच्य और वाचक का वास्तव मे भेद बने नहीं, और दूसरा कल्पित भेद कहे, सो वह कल्पना मात्र ही है, क्योंकि कल्पित वस्तु अधिष्ठान से भिन्न होती नहीं इस से तो हमारा ही मत सिद्ध होता है।

दूसरा अभेद पक्ष कहे सो भी बनता नहीं, क्योंकि वाच्य वाचक का अभेद हो तो जैसे अग्नि पद का अगार वाच्य है, जो अग्नि से अत्यत अभिन्न होवे तो अग्नि पद उचारण करने से मुख का दाह होना चाहिये, ऐसे ही उदक पद उचारण करने से मुख शीतल होना

फिर यह पूछते हैं—जो पूर्व तीन भेद कहे हैं उनमें से सात्विक सात्विकी से शुक्लादिक आत्मा के धर्म जान जाते हैं अथवा सात्विक राजस से जाने जाते हैं अथवा सात्विक तामस से जाने जाते हैं?' यह बात तुम हमारेको बताओ।

यदि तुम कहो कि "सात्विक सात्विकी वृत्ति से शुक्लादिक आत्मा के धर्म हमने जाने हैं" तो यह कहना तुम्हारा बनता नहीं क्योंकि जाग्रत अवस्था में कोई कथा प्रसंग सुनके जो चित्त का एकाग्र होजाना है अथवा-किसी ध्यान करके जो मन एकाकार होके ध्येय वस्तु में वृत्ति के प्रवाह की समाप्ति होती है उसी वृत्ति को सात्विक सात्विकी कहते हैं। और इसी प्रकार जाग्रत अवस्था में स्वर्ग के भोगों का इच्छा करके यज्ञादि कर्म का करना सात्विक राजस वृत्ति का काम है और जाग्रत अवस्था में आलस्य निद्रा के वश होके करने योग्य कार्य को नहीं करना ही सात्विक तामस वृत्ति है, ऐसे ही राजस और तामस को भी जान लेना। वास्तव में राजस तामस वृत्ति से तो कोई भी ज्ञान यथावत् बनता नहीं, किन्तु सात्विक वृत्ति से ही बनता है, ऐसा कहना पड़ेगा और हम यह भी जानते हैं कि भगवान वचन का प्रमाण भी तुम देओगे कि 'सत्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एवच' इस प्रकार से शुक्लादिक आत्मा के धर्म हैं ऐसा तुम कहो तो हम पूछते हैं कि—जिस सात्विकी वृत्ति करके शुक्लादिक आत्मा के धर्म जाने हैं

यदि आत्मा से जुदी हो तब तो तेरा कहना बने, क्योंकि आत्मा तो सर्वव्यापक है। इससें जितनो अनात्म वस्तु है सो आत्मा से भिन्न है नहीं, और तुझे भिन्न भासती हैं, यह तेरे को आत्मा के अज्ञान करके प्रतीत होती है।

जैसे जेवरी के अज्ञान करके नाना प्रकार के सर्प दण्डादिक पदार्थ भासते हैं, जब जेवरी का सम्यक्ज्ञान होता है तब एक जेवरी ही प्रतीत होती है, तैसे ही तिस आत्मा के अज्ञान करके नाना प्रकार के सुखादिक धर्म आत्मा के भासते हैं। सो वह आत्मा के ज्ञान से ही दूर होंगे। दूर ऐसा नहीं जानना कि कोई पोस दो कोस चले जावेंगे। जैसे सर्प दँडादिक कहीं से आये नहीं, और कहीं जाते भी दीखे नहीं, केवल रज्जू के अज्ञान के कारण भासते थे, रज्जू का ज्ञान होने से रज्जू स्वरूप ही हो जाते हैं, तैसे आत्मा के अज्ञान करके आत्मा में सुखादिक धर्म भासते हैं, सो केवल आत्मा के ज्ञान से ही आत्म स्वरुप भासते हैं। और जो तू यह कहे, कि शक्ति वृत्ति करके आत्मा के ज्ञान के असम्भव होने से सुखादिक आत्मा के धर्म विषय नहीं होवें तो लक्षणा वृत्ति से आत्मा का ज्ञान होने से सुखादिक धर्मों का ज्ञान होवेगा,

सो भी कहना बने नहीं, क्योंकि लक्षणा वृत्ति दो प्रकार की होती है, एक केवल लक्षणा और दूसरी लक्षित लक्षणा। केवल लक्षणा के तीन भेद हैं-जहती, अजहती और भागत्याग।

चाहिये सो होता नहीं इससे बाध्य और बाधक का अभेद कहना संभव नहीं, और जो तीसरा भेदाभेद पक्ष कहें सो अत्यन्त ही विरुद्ध है, क्योंकि जिस वस्तु का अपर वस्तु से भेद होता है तिस वस्तु का दूसरी वस्तु से अभेद होता नहीं जैसे एक आम्र के वृक्ष में अपना अभेद होता है, भेद होता नहीं, और जैसे आम्र के वृक्ष का और करंजुवे के वृक्ष का भेद होता है तिसका अभेद होता नहीं, क्योंकि भेद और अभेद आपस में विरोधी होने से तिनका समावेश होता नहीं इस करके तीसरा भेदाभेद पक्ष भी तेरा बनता नहीं इसी से जो तू शक्ति वृत्ति मान के आत्मा के सुखादिक धर्मों का विषय करना कहे, सो तेरा कहना बनता नहीं क्योंकि आत्मा किसी पद का शक्य अर्थ हो तो शक्ति वृत्ति से आत्मा का ज्ञान होवे ।

जब आत्मा का ज्ञान होता है तभी सुखादिकों का ज्ञान भी संभव है । क्योंकि धर्मी के ज्ञान से अनन्तर ही धर्मों का ज्ञान होता है । यह बात सब के अनुभव सिद्ध है, जैसे पक्षी की जो गमन रूपी क्रिया है सो पक्षी का धर्म है सो पक्षी में रहता है, जब तक पक्षी को नहीं जाने तबतक उसके क्रिया रूपी धर्म को भी नहीं जानेंगे तैसे ही अनुभव गम्य आत्मा का किसी वृत्ति करके ज्ञान संभव नहीं तो फिर सुखादिक आत्मा के धर्म हैं यह कहना तेरा कैसे बनेगा ? कदापि भी नहीं बनेगा । क्योंकि-अनुभव वस्तु

यदि आत्मा से जुदी हो तब तो तेरा कहना बने, क्योंकि आत्मा तो सर्वव्यापक है। इससे जितनी अनात्म वस्तु है सो आत्मा से भिन्न है नहीं, और तुझे भिन्न भासती हैं, यह तेरे को आत्मा के अज्ञान करके प्रतीत होती है।

जैसे जेवरी के अज्ञान करके नाना प्रकार के सर्प दण्डादिक पदार्थ भासते हैं, जब जेवरी का सम्यक्ज्ञान होता है तब एक जेवरी ही प्रतीत होती है, तैसे ही तिस आत्मा के अज्ञान करके नाना प्रकार के सुखादिक धर्म आत्मा के भासते हैं। सो वह आत्मा के ज्ञान से ही दूर होगे। दूर ऐसा नहीं जानना कि कोई कोस दो कोस चले जावेंगे। जैसे सर्प दँडादिक कहीं से आये नहीं, और कहीं जाते भी दीखे नहीं, केवल रज्जू के अज्ञान के कारण भासते थे, रज्जू का ज्ञान होने से रज्जू स्वरूप ही हो जाते हैं, तैसे आत्मा के अज्ञान करके आत्मा में सुखादिक धर्म भासते हैं, सो केवल आत्मा के ज्ञान से ही आत्म स्वरूप भासते हैं। और जो तू यह कहै, कि शक्ति वृत्ति करके आत्मा के ज्ञान के असम्भव होने से सुखादिक आत्मा के धर्म विषय नहीं होवें तो लक्षणा वृत्ति से आत्मा का ज्ञान होने से सुखादिक धर्मों का ज्ञान होवेगा, सो भी कहना बने नहीं, क्योंकि लक्षणा वृत्ति दो प्रकार की होती है, एक केवल लक्षणा और दूसरी लक्षित लक्षणा। केवल लक्षणा के तीन भेद हैं—जहती, अजहती और भागत्याग।

वाच्य अर्थ का जो संबंधी हो सो लक्षणा का स्वरूप कहलाता है, और वाच्य अर्थ सारे का त्याग करके उसके संबंधी का जो प्रतीति होती है उसे जहत्' कहते हैं। और वाच्य अर्थ सारे का ग्रहण होके अधिक उसके संबंधी का भी ग्रहण होवे, उस 'अजहती' लक्षणा कहते हैं। जहाँ वाच्य अर्थ में से एक भाग का त्याग हो और एक भाग का ग्रहण हो वहाँ भागत्याग लक्षणा' होती है।

केवल लक्षणा के तीन भेद हैं। शक्य के साथ साक्षात् जिस पदार्थ का संबंध है उसी को 'केवल लक्षणा' कहते हैं। जहाँ लक्ष्यके साथ किसी पदार्थ का परंपरा संबंध हो वहाँ 'लक्षित लक्षणा' होती है। पद का अपने अर्थ म जो संबंध है उसी का नाम वृत्ति है। आत्मा असंग होने स उस के साथ कि ी भी पदार्थ का संबंध बनता नहीं। यदि तुम कहो कि—नैयायिकों ने आत्मा से मनका संयोग संबन्ध मान के आत्मा में ज्ञान गुण उत्पन्न होना कहा है, इस प्रकार के कथन स आत्मा ज्ञान गुण धर्म वाला ही प्रतीत होता है; ऐसा कहना भी तुम्हारा फ़िजूल है। क्योंकि नैयायिकों ने जो संयोग संबंध माना है सो सावयव पदार्थों का ही माना है और आत्मा को तो श्रुति ने निरवयव कहा है निरवयव का संयोग कैसे होवे ? यदि समवायसंबंध कहो तो भी नहीं बनता क्योंकि समवाय गुण और गुणी का होता है,

आत्मा को तो वेद ने निर्गुण कहा है। ऐसे निर्गुण, निरवयव आत्मा का किसी पदार्थ से कोई भी संयोग कैसे बनेगा? कदापि नहीं बनेगा। किसी सम्बन्ध के नहीं बनने से 'लक्षणावृत्ति' से आत्मा को तुम कैसे जानोगे? और जब आत्मा को नहीं जाना तो फिर उसके सुखादिक धर्म कैसे जाने?

यदि तुम यह कहो कि–' तुमने भी यह बात पूर्व कही थी कि-जितना अतर बाहर जो सुख होता है सो सब वृत्ति से ही होता हैं, साक्षी आत्मा के प्रकाश से प्रकाशित हुई अत करण की वृत्ति सुखाकार वा दु खाकार होती है, ऐसे ही हमने भी 'सामासवृत्ति' से सुखाकार आत्मा के धर्म जाने है तो भी तैने हमारे कहने का अभिप्राय समझा नहीं। क्योंकि–हमारे कहने का यह मतलब कि–अन्तर बाहर जो पदार्थों में सुख प्रतीत होता है–सो सभी 'साभास-वृत्ति' से होता है। आत्मा और आत्मा के धर्म–सुखादिक किसी भी 'साभासवृत्ति' के विषय हमने कहे नहीं।

यदि यह कहा जाय कि–अतर आत्मा के बिना और कौन पदार्थ है? तो सुनः–जैसे जाग्रत् अवस्था मे अंत करण की वृत्ति नेत्रादिक द्वारा निकल के–बाहर देश मे जाकर–व्यावहारिक पदार्थों को विषय करती है, सो वृत्ति का विषय करना यही है कि–पदार्थ व छिन्न चेतन के आश्रित जो आवरण है उसे दूर करती है, यही वृत्ति की विषयता

है। और कोई वृत्ति से पदार्थ का ज्ञान नहीं होता है, परन्तु-वृत्ति में जो चेतन का आभास है उसी को चिदाभास भी कहते हैं। जैसे जाग्रत के पदार्थों के आभास और वृत्ति से ज्ञान होता है तैसे ही स्वप्न के पदार्थों का भी आभास वृत्ति से हो ज्ञान होता है, सो अंतर कहा जाता है, और-साक्षीभास-कहा जाता है। क्योंकि-जिस पदार्थ को अविद्याकी वृत्ति द्वारा साक्षी प्रकाशे सो पदार्थ 'साक्षीभास्य' कहलाता है। इसमें स्वप्न के पदार्थों को साक्षीभास्य' कहते हैं।

तात्पर्य यह है कि-अनात्म पदार्थ ही के प्रकाश करने में वृत्ति और आभास की सफलता है। आत्म पदार्थ के प्रकाश करने का सामर्थ्य किसी भी वृत्ति और आभास का है नहीं। इसी से आत्मा को वेद न स्वयं प्रकाश कहा है, और यदि तू यह कहे कि-वृत्ति और आभास की पदार्थों के ही ज्ञान में सफलता है-तो सुषुप्ति अवस्था में कोई भी पदार्थ है नहीं और सुख का ज्ञान होता है-सो वही आत्म ज्ञान होगा-सो यह कहना भी तेरा ऐसा ही है जैसे –

(१)

वृद्ध बालक न्याय

किसी वृद्ध पुरुष के पास उसका एक बालक खेल रहा था और वहीं एक जलका भरा घट रखा हुआ था। वह बालक घट के पास जाके अपने मुख के प्रतिबिम्ब का देखकर भयभीत हुआ और अपन

पितामह के पास आकर कहने लगा–'यह हमारे को डराता है'। तब बुड्ढे ने कहा:–तेरे को कौन डराता है? बालक बोला कि–इस घड़े मे है?

बुड्ढा उठके घट के पास आकर देखने लगा तो सफेद दाढ़ी सहित उसका प्रतिविंब भासने लगा। तब बुड्ढा कहने लगा.–अरे बेईमान 'धोळी दाढ़ी तेरी होगई अब तक बच्चों को डराता है? तेरे को लज्जा नही आती?' यह बुड्ढे का दृष्टांत है।

दार्ष्टान्त यह है—

जैसे उस बुड्ढे ने नहीं जाना कि–इस घट में मेरा ही प्रतिबिंब है। कोई दूसरा भय देने वाला समझ के उसको धिक्कार देने लगा। तैसे ही तैंने जो कहा कि–'सुषुप्ति अवस्था में कोई भी पदार्थ नहीं है, और सुख का जो भान होता है सो आत्म–सुख होगा'। तू विचार करके देख–सुषुप्ति अवस्था में कारण शरीर रहता है—उस कारण शरीर को ही अज्ञान कहते हैं। और 'प्राज्ञ'नामा जीव रहता है सो अज्ञान की वृत्ति से सुषुप्ति के अज्ञान आवृत आनद को भोगता है। सो भी वृत्ति द्वारा ही आनन्द का भान होता है। और जो ईश्वर की सर्वज्ञता आदि का ज्ञान है सो भी माया की वृत्ति करके होता है। वृत्ति से जो ज्ञान होता है है सो ज्ञान अनात्म पदार्थों का ही है। तू चेतन आत्मा स्वयं प्रकाश होने से किसी भी वृत्ति का विषय नहीं है। और सुषुप्ति

है। और कोई वृत्ति से पदार्थ का ज्ञान नहीं होता है, परन्तु वृत्ति में जो चेतन का आभास है उसी को चिदाभास भी कहते हैं। जैसे जाग्रत के पदार्थों के आभास और वृत्ति से ज्ञान होता है वैसे ही स्वप्न के पदार्थों का भी आभास वृत्ति से ही ज्ञान होता है सो अंतर कहा जाता है, और–साक्षीभास–कहा जाता है। क्योंकि–जिस पदार्थ को अविद्याकी वृत्ति द्वारा साक्षी प्रकाशे सो पदार्थ 'साक्षीभास्य' कहलाता है। इससे स्वप्न के पदार्थों को साक्षीभास्य' कहते हैं।

तात्पर्य यह है कि–अनात्म पदार्थ ही के प्रकाश करने में वृत्ति और आभास की सफलता है। आत्म पदार्थ के प्रकाश करने का सामर्थ्य किसी भी वृत्ति और आभास का है नहीं। इसी से आत्मा को वेद न स्वयं प्रकाश कहा है, और यदि तू यह कहे कि–वृत्ति और आभास की पदार्थों के ही ज्ञान में सफलता है–तो सुषुप्ति अवस्था में कोई भी पदार्थ है नहीं और सुख का ज्ञान होता है–तो वही आत्म ज्ञान होगा–सो यह कहना भी तेरा ऐसा ही है जैसे–

(१)

वृद्ध बालक न्याय

किसी वृद्ध पुरुष के पास उसका एक बालक खेल रहा था और वहीं एक जलका भरा घट रखा हुआ था। वह बालक घट के पास जाके अपने मुख के प्रतिबिम्बका देखकर भयभीत हुआ और अपने

पितामह के पास आकर कहने लगा—'यह हमारे को डराता है'। तब बुड्ढे ने कहा.—तेरे को कौन डराता है? बालक बोला कि—इस घड़े में है?

बुड्ढा उठके घट के पास आकर देखने लगा तो सफेद दाढ़ी सहित उसका प्रतिबिंब भासने लगा। तब बुड्ढा कहने लगा.—अरे बेईमान' धोली दाढ़ी तेरो होगई अब तक बच्चों को डराता है? तेरे को लज्जा नहीं आती? 'यह बुड्ढे का दृष्टांत है।

दार्ष्टान्त यह है—

जैसे उस बुड्ढे ने नहीं जाना कि—इस घट में मेरा ही प्रतिबिंब है। कोई दूसरा भय देने वाला समझ के उसको धिक्कार देने लगा। तैसे ही तैंने जो कहा कि—'सुषुप्ति अवस्था में कोई भी पदार्थ नहीं है, और सुख का जो भान होता है सो आत्म—सुख होगा'। तू विचार करके देख—सुषुप्ति अवस्था में कारण शरीर रहता है—उस कारण शरीर को ही अज्ञान कहते हैं। और 'प्राज्ञ'नामा जीव रहता है सो अज्ञान की वृत्ति से सुषुप्ति के अज्ञान आवृत आनद को भोगता है। सो भी वृत्ति द्वारा ही आनन्द का भान होता है। और जो ईश्वर की सर्वज्ञता आदि का ज्ञान है सो भी माया की वृत्ति करके होता है। वृत्ति से जो ज्ञान होता है है सो ज्ञान अनात्म पदार्थों का ही है। तू चेतन आत्मा स्वयं प्रकाश होने से किसी भी वृत्ति का विषय नहीं है। और सुषुप्ति

का आनन्द सो अज्ञान की वृत्ति से होता है।

तू शुद्धरूप आत्मा अज्ञान में शामिल काहे को होता है। तू सुख को अपने से जुदा समझ के सुखकी प्राप्ति की इच्छा करता है यही इच्छा तेरे को जुदाई की देने वाली है,वास्तव में देखा जाय तो किसी भी रीति से सुख तेरे से न्यारा नहीं। क्योंकि 'अस्ति,भाति,प्रिय, नाम और रूप, यह पांच अंश सब पदार्थों में होते हैं। पट का अस्तित्व यह 'अस्ति,' पट का भान होना यह 'भाति,' पट शीत उष्ण को दूर करता है, यह 'प्रिय' पट यह दो अक्षर 'नाम' और और विस्तृत आकार, शुक्ल 'रूप'।

किसी दैवयोग से इस वस्त्र में अग्नि लगजावे तब पट नाम और शुक्ल रूप दोनों बदल जाते हैं। राख नाम और काला उसका रूप होजाता है। और अस्ति, भाति, प्रिय यह जो तीन अंश हैं सो यहां भी बने रहते हैं। राखो अस्ति, भासती है यह भाति, और बरतन मांजने के काम में आती है इससे प्रिय है। ये तीनों अंश आत्मा के हैं। नाम और रूप दो माया के जाने जाते हैं। क्योंकि—व्यभिचारी होने से ये दोनों अंश कल्पित है। ऐसे ही अस्ति, भाति प्रिय,आत्मा नाम और उसके अंश ये भी नाम होने से सब कल्पित हैं, ये तरे जताने के वास्ते कहे हैं। क्योंकि—कुछ नाम रखने से ही वाणी का व्यापार होता है और नाम से ही नामी जाना जाता है इससे बारंबार

आत्मा का कथन किया है। इसमे शिष्य शंका करता है'-'हे भगवन्, नाम से नामी की प्राप्ति भी होती है और बारम्बार जो आत्मा का कथन किया है सो भी आत्मा के समझने के वास्ते कथन किया है, क्योंकि सूक्ष्म होने से अस्ति भाति जो दो अंश आत्मा के कहे सो तो ठीक हैं, परन्तु प्रियपना, सब पदार्थों मे कैसे घटेगा, क्योंकि-शेर सर्पादिक किसी को प्यारे नहीं लगते हैं, अपने शत्रु मे प्रियपना कैसे घटेगा ? आप इस शंका की निवृत्ति कीजिये।

गुरु कहते हैं कि-हे शिष्य ! सर्व वस्तु सर्व को प्रिय नहीं होती है-यह वार्ता आप की मानी, परन्तु एक अंश से प्रिय-पना सर्व वस्तुओं में घटता है-जैसे सर्पिणी को सर्प प्यारा लगता है, शेरनी कोशेर प्यारा लगता है, और अग्नि-कीट को अग्नि प्यारी लगती है, तैसे ही अपने शत्रु के दुख में प्रियता होती है, सो सर्व के अनुभव सिद्ध है, परंपरा से सर्व को अपना आत्मा ही प्रिय है, जितना चेतन शरीर के अंदर आया है उतने को आत्मा कहते हैं, जैसे जितना आकाश घट में आया है उतने आकाश को घटाकाश बोलते हैं, परन्तु-वह व्यापक आकाश से पृथक् नहीं होगया है।

तैसे ही जो व्यापक चेतन है सो शरीर के अन्तर और बाहर व्याप रहा है।

इससे विषय अविछिन्न और निरविछिन्न जो कुछ आनन्द का भान होता है सो सर्व तेरा ही आनन्द है, तेरे से जुदा

आनन्द कहीं भी है नहीं, फिर तेरे को सुख की इच्छा कैसे सम्भवेगी। तू सदा सुखरूप ही है, और सब ठौर में जो आनन्द प्रतीत होता है सो भी तेरा ही आनन्द है। इसी से तू चेतन स्वरूप है। जो घट पट आदिक चेतन नहीं हैं, सो आनन्द स्वरूप भी नहीं है। जो आनन्द है सो तेरा ही है, तैसे ही जो चेतना है सो भी तुझ चेतन की हा है। तेरे ही प्रकाश को पा के सब कुछ प्रकाशमान हो रहा है

गुरु के ये वचन सुनकर शिष्य बोला—हे भगवन्! आप मेरे प्रकाश से सर्व प्रकाशमान कैसे कहते हो? क्योंकि दिन में तो सूर्य भगवान् प्रकाश करता है और जब सूर्य नहीं होता है तो रात्रि में चन्द्रमा प्रकाश करता है, और चन्द्रमा नहीं होता है तब तारागण का प्रकाश होता है, जब बादलों में तारागण आच्छादित हो जाते हैं, तब अग्नि से प्रकाश होता है, और जब अग्नि भी नहीं होती है, तब बिजली से प्रकाश होता है, और जब बिजली भी नहीं होती है तब वाक्य इन्द्रिय का प्रकाश होता है।

इस रीति से इन पट् ज्योतियों से और इन्द्रियों से और इन्द्रियों के देवताओं से अर्थात्–इस त्रिपुटी से सर्व का प्रकाश देखने में आता है। मेरे प्रकाश से सर्व का प्रकाश कैसे कहते हो? आपका यह कहना असम्भवसा मालूम होता है।

गुरुरुवाच:—हे शिष्य ! तेरा कहना दुरुस्त है,क्योंकि ऐसा ही मालूम होता है, परन्तु जब तू विचार दृष्टि से देखेगा,तब तेरे को मालूम होजावेगा कि–मुझ चेतन आत्मा का ही प्रकाश सर्व ठौर है, सो विचार यह है कि–जब स्वप्न अवस्था होती है तब कोई भी ज्योति है नहीं, और स्वप्न के पदार्थों का प्रकाश होता है, इस से जाना जाता है कि–कोई और ही ज्योति है जो इन ज्योतियों से भिन्न है. यदि तू ऐसा कहे कि– जैसे स्वप्न में पदार्थ कल्पित प्रतीत होवे हैं, तैसे ही सूर्यादिक ज्योति भी कल्पित ही है,जिन से स्वप्न के पदार्थों का प्रकाश होता है' यह कहना तेरा ऐसा है जैसे कोई कहे कि–"मृग तृष्णा के नीर से गारा बना के मैंने घर बनाया था, और शुक्ति ,का रूपा बहुत सा मैंने इकट्ठा किया और उस घर में रखा था–जिसको ठूंठ का चोर फोड़ के निकाल लेगया। उस धन को ढूंढने के लिये मैं गया था, रास्ते में रज्जू के सर्प ने मेरे को काट खाया–इससे मेरे को बड़ा भारी कष्ट हुआ है 'जैसे इस प्रकार के कथन को सुन के सर्व लोगों को हसी आती है–तैसे ही हमें तेरे कहने से हंसी आती है, क्यों कि–'कल्पित पदार्थों' का कल्पित सूर्य्यादिक ज्योतियों से प्रकाश होता है' यह कहना तेरा केवल हसी का ही विषय है,

कल्पित पदार्थ से कल्पित पदार्थ का प्रकाश कहना बनता नहीं, क्योंकि–कल्पित वस्तु कल्पना मात्र ही होती है, उस से किसी का

प्रकाश होता नहीं। अत —जड़पदार्थों का स्वप्न की कल्पित ज्योतियों से जो प्रकाश प्रतीत होता है सो किसी चेतन करके ही होता है। तू अपने चित्त में विचार करके देख—तेरे बिना और कोई भी नहीं है नहीं सर्व को जानने वाला और सर्व को प्रकाशने वाला तूही चेतन, आत्मा, परिपूर्ण, स्वयं प्रकाश है, तेरे प्रकाश से ही सब प्रकाशवान् हो रहा है। जाग्रत, स्वप्न सुषुप्ति और तुरीया तथा तुरीयातीत इन सर्व अवस्थाओं का प्रकाश तेरे से होता है ये सब आपस में व्यभिचारी हैं। तू इन सब में अनुगत है, इससे तेरी चेतना को पाके यह मूत भौतिक जितना अनात्म प्रपंच है सो सब चेतन प्रतीत होरहा है। वास्तव में तू ही चेतन है।

तेरे से भि न और कोई भी चेतन नहीं है तू ही सर्व ज्योतियों का ज्योति है भगवान् ने भी कहा है 'ज्योतिषामपि तद् ज्योति' और वेद ने भी कहा है– यस्य हृदयेऽन्तरात्मा ज्योतिभवति' यही कारण है कि—आनन्द रूप होने से चेतन रूप है, और चेत् रूप होने से सत्स्वरूप भी आत् [illegible] सत् चित् आनन्द आत्मा तू ही ब्रह्म स्वरूप है, [illegible] भी ब्रह्म से नहीं है और जो भेद कहते हैं [illegible] —

दोहा—अस्ति भाति प्रिय [illegible] ।

ताके एक सरूप [illegible]

इसी से कहा है ,"भेदाभेद शब्द गलतो" अर्थात् तुझ चेतन आत्मा में भेद और अभेद का लेश भी नहीं है, और जो भेद और अभेद दो प्रकार के वचन शास्त्रकारो ने कहे इससे तात्पर्य यही है कि–'कहने मे जो बात आती है सो वाणी का विषय होने से अनात्म ही है। क्योंकि वाणी से अनात्म पदार्थ का ही कथन होता है, तू चेतन आत्मा किसी वाणी और मन का विषय नहीं है। और किसी जगह इसे मन और वाणी का विषय भी कहा है–सो दिखाते हैं कि जिस काल मे गुरू द्वारा महावाक्यों का जो उपदेश श्रवण होता है सो वाणी से ही सुना जाता है, उस श्रवण से अनन्तर मनन का कथन किया है, सो मन से ही मनन होता है, मनन किये हुए अर्थ के परिपक्व होजाने को निदिध्यासन कहते हैं और निदिध्यासन की परिपक्व अवस्था को समाधि कहते हैं, इस प्रकार से आत्मा मन और वाणी का विषय भी कहलाता है।

किसी ने मन और वाणी का निषेध भी किया है, दोनों प्रकार के वचनों को सुन के अल्प–श्रुत जिज्ञासु को भ्रम उत्पन्न होजाता है, वह कहीं भेद वचनों को सुनता है और कहीं अभेद को सुनता है परन्तु–शास्त्रकारों के जो कथन हैं सो सारे ही अध्यारोप में बनते हैं।

जितने वेद के वचन हैं सो अधिकारी भेद से सारे ही सफल हैं, जैसे किसी पुरुष को स्वप्न होता है तब उसको वेद

प्रकाश होता नहीं। अत —अकपदार्थों का स्वप्न की कल्पित ज्योतियों से जो प्रकाश प्रतीत होता है सो किसी चेतन करके ही होता है। तू अपने चित्त में विचार करके देख—तेरे बिना और कोई भी नहीं है नहीं सर्व को जानने वाला और सर्व को प्रकाशने वाला तूही चेतन, आत्मा, परिपूर्ण, स्वयं प्रकाश है, तेरे प्रकाश से ही सब प्रकाशवान् हा रहा है। जाग्रत, स्वप्न सुषुप्ति और तुरीया तथा तुरीयातीत इन सर्व अवस्थाओं का प्रकाश तेरे से होता है, ये सब आपस में व्यभिचारी हैं। तू इन सब में अनुगत है, इससे तेरी चेतना को पाके यह भूत भौतिक जितना अनात्म प्रपंच है सो सब चेतन प्रतीत होरहा है। वास्तव में तू ही चेतन है।

तेरे से भिन्न और कोई भी चेतन नहीं है तू ही सर्व ज्योतियों का ज्योति है भगवान् ने भी कहा है 'ज्योतिषामपि तद् ज्योति'" और वेद ने भी कहा है— यस्य हृदयेऽन्तरात्मा ज्योतिर्भवति" यही कारण है कि—आनन्द रूप होने से चतन रूप है, और चेतन रूप होने से सत्यरूप भी आत्मा ही है, सत् चित् आनन्द रूप आत्मा तू ही ब्रह्म स्वरूप है, तेरा किंचित् मात्र भी ब्रह्म से भेद नहीं है और जो भेद कहते हैं उनके वास्ते ऐसा कहा है—

दोहा—अस्ति भांति प्रिय आत्मा ब्रह्म सच्चिदानन्द।
तातें एक सरूप है, भेद कहें मतिमन्द॥

है और चार पुत्र सर्व गुणों की खानि और यौवन अवस्था वाले हैं। दैवयोग से उस राजा के राज मे किसी अन्य राजा ने लड़ाई छेड़ दी, जिसमें उस राजा के चारो पुत्र मारे गये। तब हलकारों खबर दी कि-हे राजन्! आपके कुँवर इस लड़ाई मे मारे गये, इस प्रकार के वचन सुन के राजा को बड़ा भारी शोक हुआ और हाहाकार शब्द करने लगा।

इतने में राजा की निद्रा खुल गई और नेत्र उघड़ते ही उसे बड़ा विस्मय हुआ और सोचने लगा-'किसका राज और किसके पुत्र? देखो, मैं वृथा ही मोह को प्राप्त हो गया था। उसी समय मंत्रियों ने आके राजा से कहा-'हे राजन् आपके कुंवर ने तो अपने कर्म भोग को समाप्ति की, राजा इस प्रकार मन्त्रियों के वचन सुन के सब को अपने पास बिठा कर कहने लगा-'हे मन्त्रियो! तुम सब धैर्य रखो, मैं तुम्हारे से एक गाथा सुनाता हूँ, तुम चित्त लगाकर सुनना, वह गाथा-इस दुखरूप संसार से वैराग्य के कराने वाली है और उसे सुनके तीन लोक की संपदा मृग तृष्णा के जलवत् भासेगी, और वह शोक मोह को दूर करने वाली तथा आनन्द की देनेवाली है वह गाथा इस प्रकार है —

अभी थोड़ी देर पहिले मैं सोता था उस समय मुझे स्वप्न हुआ जिस में मेरे को इस राज से चौगुना राज प्राप्त हुआ, और यह भी देखा कि-बड़ी चतुरगिनी सेना और बड़े २ शूरवीर सेनापति

और वेद का उपदेश कर्ता आचार्य, और जगत् में नाना प्रकार के कर्म, और उनके फल, और उनका प्रेरक ईश्वर, और भोगनेवाला-जीव आदि जो कुछ प्रतीत होता है सो सब ही अविद्या और निद्रा के कारण भासता है, सो सब मिथ्या है। यथार्थ में एक स्वप्नदृष्टा पुरुष ही सत्य होता है, इसी प्रकार एक तू ही सत्रूप है।

तू भ्रम के गुरदे का क्यों रोता है? विवेक रूपी नेत्र खोल कर देख, जैसे यह स्वप्न का प्रपंच बिना हुए ही सर्व अर्थाकार भासता है, तैसे ही यह जाग्रत का प्रपंच भी तू जान, यदि तू ऐसा कहे कि-'जाग्रत प्रपंच में तो पदार्थों के देश, काल, कारण, कार्य, मान भासते हैं और स्वप्न में सर्व पदार्थ सम काल भासते हैं, इन दोनों की एकता कहना बने नहीं'-यह कहना तेरा ठीक नहीं है। क्योंकि-देश काल आदि जैसे जाग्रत में भासते हैं वैसे ही स्वप्न में भी भासते हैं, पर सब अविद्या के कारण प्रतीत होता है। जाग्रत के देश काल आदि में और स्वप्न के देश, काल आदि में कुछ भी अधिक न्यूनता नहीं है, क्योंकि-ये दोनों ही अविद्या रूप हैं, इसी पर तेरे को एक—

(२)

"राजपुत्र शोक-न्याय"

सुनाते हैं-एक राजा रात्रि के समय अपनी शय्या पर सोता था, उस समय उसको ऐसा मालूम हुआ कि मेरा राज बड़ा भारी

है और चार पुत्र सर्व गुणों की खानि और यौवन अवस्था वाले हैं। दैवयोग से उस राजा के राज मे किसी अन्य राजा ने लड़ाई छेड़ दी, जिसमें उस राजा के चारो पुत्र मारे गये। तब हलकारों खबर दी कि–हे राजन्। आपके कुँवर इस लड़ाई मे मारे गये, इस प्रकार के वचन सुन के राजा को बड़ा भारी शोक हुआ और हाहाकार शब्द करने लगा।

इतने में राजा की निद्रा खुल गई और नेत्र उघड़ते ही उसे बड़ा विस्मय हुआ और सोचने लगा–'किसका राज और किसके पुत्र? देखो, मैं वृथा ही मोह को प्राप्त हो गया था। उसी समय मंत्रियों ने आके राजा से कहा–'हे राजन् आपके कुंवर ने तो अपने कर्म भोग की समाप्ति की, राजा इस प्रकार मंत्रियों के वचन सुन के सब को अपने पास बिठा कर कहने लगा–'हे मंत्रियो! तुम सब धैर्य रखो, मैं तुम्हारे से एक गाथा सुनाता हूँ, तुम चित्त लगाकर सुनना, वह गाथा–इस दुखरूप संसार से वैराग्य के कराने वाली है और उसे सुनके तीन लोक की संपदा मृग तृष्णा के जलवत् भासेगी, और वह शोक मोह को दूर करने वाली तथा आनन्द की देनेवाली है वह गाथा इस प्रकार है —

अभी थोड़ी देर पहिले मैं सोता था उस समय मुझे स्वप्न हुआ जिस में मेरे को इस राज से चौगुना राज प्राप्त हुआ, और यह भी देखा कि–बड़ी चतुरंगिनी सेना और बड़े २ शूरवीर सेनापति

और अनेक प्रकार के कोष—खजाने आदि विभूतियाँ हैं और चन्द्रमा के समान मुख जिसके ऐसी मन को मोहने वाली अनेक रानियाँ हैं, और चार-पुत्र सर्व गुण संपन्न, रूपवान और जवान उमर वाले हैं जिनके देखने से मेरे को बड़ा आनन्द होता था। इस प्रकार की महान् विभूति के साथ मेर को चिरकाल व्यतीत होगया और ऐसा भी मालूम होता था कि, मेरे बाप, दादा सभी राज करते आये हैं, और आगे हमारे पुत्र और पौत्र भी राज करेंगे। हे मंत्रियो! एक क्षण मात्र के स्वप्न में मैंने बहुत काल व्यतीत देखा।

दैवयोग से मेरे उस राज में उपद्रव होगया और बड़ा भारी संग्राम हुआ, उसी युद्ध में मेरे बड़े २ शूरवीर मारे गये और मेरे चारों—पुत्र भी युद्ध में अपनी २ सेना लेकर चढ़े और युद्ध करने लगे। बहुत बात क्या कहें—वे चारों कुंवर भी मारे गये। तब हलकारों ने आके कहा—हे पृथ्वीनाथ? आपके कुंवर युद्ध में मारे गये हैं? ये वचन सुनके मेरे को बड़ा भारी शोक हुआ और हाहाकार शब्द करने लगा इतने में मेरी निद्रा खुलगई।

तब मैं बड़े विस्मय को प्राप्त हुआ और अपने चित्त में विचार करता रहा था कि तुमने आके मरे मे कहा कि—तुम्हारे पुत्र ने अपने कर्म भोग की समाप्ति की है। अब मैं तुम्हारे से यह बात पूंछता हूँ कि—उस राज और चारों पुत्रों को रोऊँ? अथवा—इस एक पुत्र को रोऊँ? सो तुम मेरे को बताओ। मंत्री कहते हैं—"हे राजन्!

वह तो स्वप्न की सृष्टि झूठी है, और यह जाग्रत का सच्चा जगत् है। उसका क्या शोच करना है,शोच करने के योग्य तो यह जाग्रत् के भोग्य पदार्थ होते हैं, स्वप्न के पदार्थों का कौन शोच करता है" मंत्रियों की यह वार्त्ता सुन कर राजा बोला—

"हे मन्त्रिया! तुम इस मूर्खता के मोहल्ले में आके काहे का इसको सच्चा कहते हो ? और उसको झूँठा कहते हो ? अरे, मूर्खों! यह मनुष्य शरीर तुमको मिला है, इसमें कुछ विचार करके देखो, यह तो सभी झूठा है। विचार यही है कि—इस जीव ने अपने गले में आपही फासी डाल रखी है, क्योंकि—आत्मा तो सदा अकर्ता है, परन्तु—अनात्म अन्त.करण से मिलके, भ्रांति से अपने में कर्तापन आरोपण करके, कायिक, वाचिक, मानसिक, तीन प्रकार की क्रिया का अभिमान करने लगा,—इससे दो प्रकार के स्थूल और सूक्ष्म कर्म हुवे।

जब जीव को स्थूल—कर्म भोग देने को सन्मुख होते हैं तब इसे कर्म के वस होके जाग्रत अवस्था होती है। ऐसी दशा में जो स्थूल पसारा है उसको सत्य जानता है। और जिस काल मे सूक्ष्म—कर्म भोग देने को सन्मुख होते है, उस काल में जाग्रत अवस्था का विस्मरण होजाता है, और कर्मों के वस होकर स्वप्न की सूक्ष्म सृष्टि सत्‌रूप भासने लगजाती है, और जाग्रत की सृष्टि वहा पर नहीं रहती, इससे जाना जाता है कि—यह भी झूठी है।

और अनेक प्रकार के कोष–खजाने आदि विभूतियाँ हैं और चन्द्रमा के समान मुख जिनके ऐसी मन को मोहने वाली अनेक रानियाँ हैं, और चार-पुत्र सर्व गुण संपन्न, रूपवान् और जवान उमर वाले हैं जिनके देखने से मेरे को बड़ा आनन्द होता था। इस प्रकार की महान् विभूति के साथ मेरे को चिरकाल व्यतीत होगया और ऐसा भी मालूम होता था कि, मेरे बाप, दादा सभी राज करते आये हैं, और आगे हमारे पुत्र और पौत्र भी राज करेंगे। हे मंत्रियो! एक सुपना मात्र के स्वप्न में मैंने बहुत काल स्वाई देखा।

दैवयोग से मेरे उस राज में उपद्रव होगया और बड़ा भारी संग्राम हुआ, उसी युद्ध में मेरे बड़े २ शूरवार मारे गए और मेरे चारों–पुत्र भी युद्ध में अपनी २ सेना लेकर चढ़े और युद्ध करने लगे। बहुत काल तक क्या कहें–वे चारों कुंवर भी मारे गये। तब दूतकारों ने आके कहा–हे पृथ्वीनाथ! आपके कुंवर युद्ध में मारे गये हैं! ये वचन सुनके मेरे को बड़ा भारी शोक हुआ और हाहा कार शब्द करने लगा इतने में मेरी निद्रा खुलगई।

तब मैं बड़ विस्मय को प्राप्त हुआ और अपने चित्त में विचार करही रहा था कि तुमने आके मेरे से कहा कि–तुम्हारे पुत्र ने अपने कर्म भोग की समाप्ति की है। अब मैं तुम्हारे से यह बात पूंछता हूँ कि–उस राज और चारों पुत्रों को रोऊँ? अथवा–इस एक पुत्र को रोऊँ? सो तुम मेरे को बताओ। मंत्री कहते हैं–"हे राजन्!

कर्मपना, और जो इनमे अहंकार है सो ही अन्धकार है। और जब तुम इनको साक्षी रूप होके देखोगे कि-जिस काल में विवेक, वैराग्य, शम, दम, श्रद्धा समाधान, उपरति तितिक्षा और श्रवण, मनन, निदिध्यासन, और 'तत्-त्वं' पद का शोधन करोगे, तब तुम्हारे को परिपूर्ण आत्मा ही भासेगा, और तुम्हारे शोक, मोह, सब नष्ट होय जावेंगे। हे मंत्रियो! यह साराही स्वप्न है इसमे किसी का रोना और शोक करना वृथा है, क्योंकि-सब जीव अपने कर्म-भोग के अनुसार जन्मते हैं और मरते हैं, इस बात को समझ के यथा योग्य कार्य को करो।

हे शिष्य! इस प्रकार पूर्व के संस्कारों से राजा को ऐसा बोध उत्पन्न हुआ और सब मंत्रियों को उपदेश करके वह शोक मोह से रहित होके अपने स्वरुप में स्थित हुवा। वह स्वरूप कैसा है? शान्त है, निर्विकार है, चेतन है, परमानन्द है, अजन्मा है, अविनाशी है और सत्-रूप है। उसी चेतन आत्मा की सत्ता का सब पदार्थों में अनिर्वचनीय सम्बन्ध उत्पन्न होके सारे पदार्थ सत्य जैसे भासते हैं, परन्तु-इसमें कोई भी सत्य नहीं है, क्योंकि-अविद्या कृत होने से ये तो सारे ही भ्रम रूप हैं, एक तू ही सत्य रूप है, और सर्व देश, काल, वस्तु के परिच्छेद से रहित है, क्योंकि जिस पदार्थ का देश से अन्त होता है, उसका काल से भी अन्त होता है, उस का वस्तु से भी अंत होता है। जैसे घट, पट, आदिक पदार्थ देश, काल वस्तु से

और जब स्वप्न से कर्मों के आधीन जाग्रत होता है, तब स्वप्न के पदार्थों का अभाव होजाता है, अर्थात् झूठे मालूम होते हैं ।

हे मंत्रियो ! तुम अपने चित्त में विचार करके देखो, इनमें कौन सत्य है? ये तो सभी मृगतृष्णा के जलवत् हैं, और तुम अपने चित्त में विचार कर देखो—अज्ञानरूपी निद्रा में जगत्—रूप स्वप्न भासता है, इसके दूर करने के वास्ते तुम ज्ञान—रूप जाग्रत-अवस्था प्राप्त करो, तब तुम्हारे विचार—रूपी नेत्र खुलेंगे और तुमको मालूम होगा कि—ये दोनों ही 'मन के स्पंद' हैं । यह मन भी जल के बर्फ के टुकड़े के समान है जो ज्ञान—रूपी सूर्य भगवान् के उदय होने पर पिघल जाता है फिर वही जल होके बहने लगता है; ऐसी दशा में वह जड़ चेतन रूप ही भासता है ।

इसलिये हे मंत्रियो ! तुम ज्ञानरूपी सूर्य की उपासना करो, जिससे तुम्हारी जगत् की सत्तारूपी ठण्ड दूर होगी, सूर्यरूपी आत्मा का प्रकाश होगा, तब तुम्हारी मूर्खता इस प्रकार चली जायगी जैसे सूर्य के प्रकाश से अन्धकार दूर होजाता है । देखो यही अन्धकार है—

स्थूल सूक्ष्म कारण ये तीनों शरीर और जाग्रत् स्वप्न, सुषुप्ति ये तीन अवस्था और विश्व, तैजस प्राज्ञ इन तीनों के अभिमानी तीन जीव और तीन शरीरों में अन्नमयादिक पंचकोश इनमें और इन सबों के जो धर्म हैं—कर्त्ता क्रिया,

कर्मपना, और जो इनमें अहंकार है सो ही अन्धकार है।
और जब तुम इनको साक्षी रूप होके देखोगे कि–जिस काल में विवेक, वैराग्य, शम, दम, श्रद्धा समाधान, उपरति तितिक्षा और श्रवण, मनन, निदिध्यासन, और 'तत्–त्वं' पद का शोधन करोगे, तब तुम्हारे को परिपूर्ण आत्मा ही भासेगा, और तुम्हारे शोक, मोह, सब नष्ट होय जावेंगे। हे मंत्रियो! यह साराही स्वप्न है इसमें किसी का रोना और शोक करना वृथा है, क्योंकि–सब जीव अपने कर्म–भोग के अनुसार जन्मते हैं और मरते हैं, इस बात को समझ के यथा योग्य कार्य को करो।

हे शिष्य! इस प्रकार पूर्व के संस्कारों से राजा को ऐसा बोध उत्पन्न हुआ और सब मंत्रियों को उपदेश करके वह शोक मोह से रहित होके अपने स्वरुप में स्थित हुवा। वह स्वरूप कैसा है? शान्त है, निर्विकार है, चेतन है, परमानन्द है, अजन्मा है, अविनाशी है और सत्–रुप है। उसी चेतन आत्मा की सत्ता का सब पदार्थों में अनिर्वचनीय सम्बन्ध उत्पन्न होके सारे पदार्थ सत्य जैसे भासते हैं, परन्तु–इसमें कोई भी सत्य नहीं है, क्योंकि–अविद्या कृत होने से ये तो सारे ही भ्रम रूप हैं, एक तू ही सत्य रूप है, और सर्व देश, काल, वस्तु के परिच्छेद से रहित है, क्योंकि जिस पदार्थ का देश से अंत होता है, उसका काल से भी अन्त होता है, उस का वस्तु से भी अंत होता है। जैसे घट, पट, आदिक पदार्थ देश, काल वस्तु से

अंतवाले हैं इसी से असत् हैं, और तू चेतन-आत्मा देश-कालादि के परिच्छेद से रहित है, इसी से तू सत् रूप है।

शिष्य प्रश्न करता है।

हे भगवन् ! आपने मेरे को सत्, चित्, आनन्द रूप कैसे कहा ? मैं तो जन्मता हूँ और मरता हूँ, पुण्य-पाप करता हूँ, और उनके फल सुख-दुःख को भोगता हूँ, और भी अनेक प्रकार के जीवत्व-धर्म मेरे में भासते हैं इससे मैं तो असत्, जड़, दुःखरूप हूँ। और ब्रह्म को तो सच्चिदानन्द रूप हमने आप जैसे महापुरुषों के मुख से सुना है। "मैं सच्चिदानन्द रूप हूँ" यह वार्ता मैं किस प्रकार जानूँ ? वेद ने भी इस जीव को भोक्तामात्र और अनीश ही कहा है। इस कारण जीव विरुद्ध-धर्मवाला होने से सच्चिदानन्द रूप नहीं है, जैसे—कोई मलिन कर्मों के करनेवाले हैं और कोई शुद्ध आचरण से रहने वाले हैं, इन दोनों प्रकार के पुरुषों की एकता कैसे बनेगी ? नहीं बनेगी। यदि तुम ऐसा कहो कि "भाग-त्यागलक्षणा से इनकी एकता बनती है" सो हमने अंगीकार की नहीं; इससे किसी रीति से भी जीव को सच्चिदानन्द कहना बनता नहीं।

पूर्व आपने यह भी कहा था कि 'भागत्यागलक्षणा करके इसका पता तेरे को मालूम होगा, और फिर आप आपने सर्व वृत्तियों का निषेध कर दिया है इसमें हम कौनसी बात का

अंगीकार करें ? हमको तो गबोला मालूम होता है, आप हमें समझा कर कहो ।

गुरुरुवाच—

यद्यपि यह वार्ता हमने पूर्व कही थी, परन्तु तेरी समझ में गलती है सो सुन, हमने जो लक्षणा-वृत्ति कही थी सो कोई आत्मा के प्रकाशने में नहीं कही है । हमारा कथन यह नहीं था कि–'लक्षणा वृत्ति से आत्मा का प्रकाश होता है' ऐसा नहीं समझना । क्योंकि–वृत्ति का तो पदार्थ के आवरण दूर करने में सामर्थ्य है, पदार्थ के प्रकाश करने में सामर्थ्य नहीं है, तब वह आत्माके प्रकाश करने मे कैसे सामर्थ्य होगी ? इसी वास्ते यह बात कही थी कि–तेरे को आपही मालूम हो जावेगा कि, 'आत्मा किसी भी वृत्ति का विषय नहीं है' क्योंकि–वह स्वयं-प्रकाश है । इसी से वृत्ति आदिक जितने जड़-अनात्म पदार्थ हैं, सो सब आत्मा में कल्पित हैं । उन कल्पित वृत्ति आदिकों से आत्मा का प्रकाश कहना बने नहीं, क्योंकि–वे जड़ हैं ।

और जो तुमने कहा था कि–'जीव तो जन्म मरण से आदि लेकर ब्रह्म से विरुद्ध धर्म वाला है, उसकी ब्रह्म से एकता बने नहीं, और भागत्यागलक्षणा मानो नहीं–इससे भी जीव को सच्चिदानन्दरूपता बने नहीं' यह जो तेने कहा है सो साराही सिद्धान्त के अज्ञान से कहा है, क्योंकि–सिद्धान्त में आत्मा से

भिन्न सर्व अनात्म-वस्तु आत्मा में कल्पित होने से रज्जु के सर्प की तरह सर्व कल्पना मात्र हैं। जैसे-रज्जु में जो सर्प प्रतीत होता है, सो केवल जेवरी के अज्ञान से प्रतीत होता है, उसके दूर करने को कौन सी वृत्ति आवश्यक है? किसी भी प्रमाण्या वृत्ति की जरूरत नहीं है। केवल रज्जु के ज्ञान से सर्प भ्रम निवृत्त हो जाता है। वैसे ही वृत्ति और उपादान-कारण अंतःकरण और अज्ञान और नाना प्रकार के विषय और उनका प्रकाश जितना कि-ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय त्रिपुटी समाज है सो साराही आत्मा के अज्ञान से खरे को भासता है, सो सारा आत्मा के ज्ञान से निवृत्त होगा, और प्रकार से नहीं। लिखा भी है-

भ्रान्त्या प्रतीत संसारो विवेकाद्यास्ति कर्मभि ।
रज्ज्वामारोपित सर्पो घन्टाघोषान्निवर्त्यते ॥

जो वस्तु जिस के अज्ञान से प्रतीत होती है, सो उसी के ज्ञान से ही दूर होती है, और किसी भी वृत्ति आदिक की अपेक्षा नहीं। यदि तू ऐसा कहे कि-'अधिष्ठान का जो ज्ञान है और कल्पित की निवृत्ति का जो ज्ञान है, सो भी तो किसी वृत्ति से ही होता है तो यद्यपि तेरा यह कहना दुरुस्त है, क्योंकि शास्त्रकारों न प्रमा अप्रमा और स्मृति तीन प्रकार की वृत्ति मानी है, परन्तु-इनका विषय जो ज्ञान है सो सब अनात्म ही कहा जाता है, आत्मा तो किसी न भी किसी वृत्ति का विषय नहीं

कहा , और तुम अपने अनुभव से देखो-शुद्ध आत्मा किसी भी लक्षणा आदिक वृत्ति का विषय नहीं हैं, क्योंकि-वाच्य और वाचक-भाव और लक्षण-भाव तुझ शुद्ध आत्मा में हैं नहीं, इसलिये "किसी वृत्ति से आत्मा का ज्ञान मेरे को होगा" यह इच्छा छोड़कर तू अपने आप विचार के देखेगा, तब तेरे से जुदा ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय कुछ भी नहीं मिलेगा। इसी बात पर तेरे को एक-

(३)

'रुपया, चोर, राज, न्याय'

सुनाते हैं, सो यह है कि-एक मनुष्य ने किसी का एक रुपया चुरा लिया था। जिसका रुपया चुराया उसने अपने मन में विचार किया कि-'आज के दिन अमुक मनुष्य से मिलाप हुवा था, उसने हमारा रुपया लिया है'। तब वह उसके पास जाके कहने लगा कि- भाई! हमारा रुपया तुमने लिया है सो देदो'। उसने जवाब दिया कि-'हमने तो नहीं लिया'। तब उसने राज में जाके एक कच्चा सवाल दे दिया। फिर मुद्दई और मुद्दाइलेह से इन्साफ करनेवाले ने पूछा-'तुम्हारा क्या झगड़ा है'? मुद्दई कहने लगा कि-इसने मेरा माल चुराया है।

इंसाफ करनेवाले ने कहा-'तेरा क्या माल चुराया है ?' तब उसने कहा-' एक रुपया था, और दो अठन्नी, और चार चुअन्नी

मिम सर्व अनात्म–वस्तु आत्मा में कल्पित होने से रज्जू के सर्प की तरह सब कल्पना मात्र हैं। जैसे–रज्जू में जो सर्प प्रतीत होता है, सो केवल जेवरी के अज्ञान से प्रतीत होता है, उसके दूर करने को कौन सी वृत्ति आवश्यक है ? किसी भी लक्षणा वृत्ति की जरूरत नहीं है। केवल रज्जू के ज्ञान से सर्प भ्रम निवृत्त हो जाता है। वैसे ही वृत्ति और उपादान–कारण अन्तःकरण और अज्ञान और नाना प्रकार के विषय और उनका प्रकाश त्रितय कि–ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय त्रिपुटी समाज है सो सारा ही आत्मा के अज्ञान से दरे को भासता है, सो सारा आत्मा के ज्ञान से निवृत्त होगा, और प्रकार से नहीं। लिखा भी है–

भ्रान्त्या प्रतीतः संसारो विवेकान्नास्ति कर्मभिः।
रज्ज्वामारोपितः सर्पो घन्टाघोषान्निवर्त्यते ॥

जो वस्तु जिस के अज्ञान से प्रतीत होती है सो उसी के ज्ञान से ही दूर होती है, और किसी भी वृत्ति आदिक की अपेक्षा नहीं। यदि तू ऐसा कहे कि–'अधिष्ठान का जो ज्ञान है और कल्पित की निवृत्ति का जो ज्ञान है; सो भी तो किसी वृत्ति से ही होता है' तो यद्यपि तेरा यह कहना दुरुस्त है क्योंकि शास्त्रकारों ने प्रमा अप्रमा और स्मृति तीन प्रकार की वृत्ति मानी है, परन्तु–इनका विषय जो ज्ञान है, सो सब अनात्म ही कहा जाता है आत्मा को तो किसी ने भी किसी वृत्ति का विषय नहीं

नाम है सो भी रजत धातु में कल्पना मात्र है, वैसे ही जो मन नाम है सो भी तुझ चेतन आत्मा में मन की ही कल्पना है, सब चेतन का ही चमत्कार है। जैसे रुपैया और उसका विस्तार सब रजत रूप है, वैसे ही मन और मनका विस्तार सब चेतन स्वरूप है।

तू विचार करके देख-जितने घट हैं सो सारे मृतिका से भिन्न नहीं होते-सब मृतिकारुप ही होते हैं, जितने सुवर्ण के आभूषण होते हैं सो सब सोना ही होते हैं, और जितने लोहे के विवर्त-हथियार आदिक-होते हैं सो लोहे से भिन्न नहीं होते हैं, सब लोहा ही होता है, और घट, आभूषण, हथियार, आदि नाम मृत्तिका, सुवर्ण, और लोहे मे कहीं भी नहीं मिलते, केवल पुरुषों की कल्पना मात्र से ही हैं। जिसको सुवर्ण भासता है उसको आभूषण नहीं भासता है। और जिसको आभूषण भासता है उसको सुवर्ण नहीं भासता है। परन्तु-जिस पुरुष की सुवर्ण में भूषण-बुद्धि है, सो पुरुष यथार्थ-दर्शी कहलाता है। इसी पर तेरे को एक—

(४)

"बाबा, ठाकुर, सराफ़ न्याय"

सुनाते हैं, इसको जब तू चित्त लगा के सुनेगा, तब तेरे को सुवर्ण स्थानी एक आत्मा ही भासेगा, और भूषण स्थानी नाना भाव सब दूर होजावेंगे, सो अब कहते हैं:—

एक बाबा ने जवान अवस्था में देश देशान्तरों में घूम के बहुत

और आठ चुअन्नी, और सोलह आने और बत्तीस अधन्ने, और चौसठ पैसे, इतना माल इसने मेरा चुराया है'। अब इंसाफकरनेवाले ने चोर से कहा—अरे तू ने इसका इतना माल चुराया है ? तब वो चोर मुद्दई से कहने लगा—'अरे मलेमानस ! तेरा तो एक ही रुपया था, इतना माल मैं कहाँ से दूंगा' मुद्दई ने कहा कि—अच्छा,तुम एक ही रुपया देओ हम राजीनामा लिख देंगे। उसने कहा—'बहुत अच्छी बात, यह अपना रुपया लो'। तब उसने लेलिया, और इन्साफ करने वाले से कहने लगा—'हुजूर ! हमतो राजी होगये'। इन्साफ करने वाले ने पूछा—तुम कैसे राजी हुवे ?' तब मुद्दई ने कहा—'एक रुपया लेकर राजी हो गये'। इंसाफकरनेवाले ने कहा—तुम बड़े बेईमान हो ! तब मुद्दई ने कहा—कैसे ? न्याय कर्ता ने कहा कि—'तुम्हारा एक ही रुपया था, फिर इतना माल काहे को लिखाया था ? इससे तुम बेईमान हो'। तब वह कहने लगा कि—'हुजूर ! आप विचार करके देखो, वह तो साराही इसीके अन्दर है', मुद्दई ने इंसाफ कर्ता के आगे रुपये से आदि लेकर पैसे पर्यंत सारा माल उस रुपये में ही बता दिया, तब इंसाफ कर्ता ने कहा—ठीक है।

यह तो दृष्टान्त है, दार्ष्टान्त यह है कि—तेरा मन है यही रुपया है, जितना यह जगत् और बंध—मोक्ष से आदि लेकर संसार का विस्तार है; सो सारा तेरे मन के ही अन्दर है। जैसे वह रुपया

ने कहा कि–महाराज ! मैं तो सोने का मोल करता हूँ, ठाकुर जी और सिंहासन तो तुम्हारी ही दृष्टि मे हैं, मैं तो सुवर्ण ही देखता हूं, मेरे को तो कहीं भी इसमे ठाकुर और सिंहासन मालूम नहीं होता है ।

दार्ष्टान्त–यह है कि जब तू अन्दर से आकार दृष्टि को मिथ्या जान के दूर करेगा, तब तेरे को सतचित् आनन्द रूप एक आत्मा ही परिपूर्ण भासेगा, जैसे–उस सराफ को एक सुवर्ण ही भासता था । इसी का नाम 'दृष्टि–सृष्टि बाद' कहा है, जिसका और भी विवेचन करने में आता है । बालमीक ऋषि ने वाशिष्ट नाम महा रामायण मे यही मुख्य सिद्धान्त रखा है ।

दोहा—दृष्टि सृष्टी बाद का, सुन लीजे शिष भेद ।
द्वैत विलय होजाय है, दूर होय सब खेद ॥

'दृष्टि–सृष्टि–बाद' के तीन भेद हैं, सो तू जब एकाग्र होकर सुनेगा, तब तेरा द्वैत रूप दुख विलय हो जावेगा, अर्थात्–जैसे अग्नि से धूम निकलता हुआ मालूम होता है, परन्तु–वह आकाश में लीन हो जाता है, तब जाना नहीं जाता कि कहाँ गया । तैसे ही जब तू इस उत्तम सिद्धांत को धारण करेगा, तब तेरा धुआं-रूपी द्वैत आकाश रूप आत्मा मे लय हो जावेगा, फिर तेरे को सर्वत्र एक आत्मा ही भासेगा । जैसे उल्लू को अंधेरा ही भासता है ।

सा रुपया इकट्ठा किया और ठाकुर पूजा भी रखता था। जवान अवस्था में उस रुपैये और ठाकुरजी का कुछ बोझा मालूम नहीं होता था, वह उन्हें उठा कर घूमा करता था। परन्तु-फिर काल पाके जब वृद्ध अवस्था आई तब वह बोझा तो रुने लायक नहीं रहा। बाबा ने अपने मन में विचार किया कि-बोझे का हल्का करना चाहिये। तब सब रुपैयों का सोना खरीद के सोने के ठाकुरजी बनवालिये, और सोने ही का सिंहासन बनवाया, और जो पहिले पत्थर के ठाकुर जी थे सो गंगा में प्रवाह करदिये; और वह एक स्थान में रहने लगा, और एक चेला भी सेवा के वास्ते मूंड लिया।

अब इस प्रकार कर के शरीर के कर्मों का अंत हुआ, तब शरीर शांत होगया। फिर चेलेने अपने मन में विचार किया कि-गुरु महाराज का भण्डारा करना चाहिये, नहीं तो हमारे भेष के लोगों में निरादर होगा। इस प्रकार सोचकर वह ठाकुर जी को और सिंहासन को सराफ के यहां बेचा के कहने लगा कि-"भाई इम ठाकुर जी को और सिंहासन को बेचता हूं" तब उन दोनों का सराफ ने कांटे पर रख के कहा कि-सौ रुपये के तो ठाकुर जी हैं और चार सौ का सिंहासन है। चेले ने कहा-अरे तू क्या बकता है ठाकुरजी तो सौ रुपये के हैं और सिंहासन चार सौ का है? तेरी अक्ल को क्या कोई लेगया है? कहीं ऐसा भी होता है? सराफ

ने कहा कि–महाराज ! मैं तो सोने का मोल करता हूँ, ठाकुर जी और सिंहासन तो तुम्हारी ही दृष्टि मे हैं, मैं तो सुवर्ण ही देखता हूं, मेरे को तो कहीं भी इसमे ठाकुर और सिंहासन मालूम नहीं होता है।

दार्ष्टान्त–यह है कि जब तू अन्दर से आकार दृष्टि को मिथ्या जान के दूर करेगा, तब तेरे को सत्‌चित् आनन्द रूप एक आत्मा ही परिपूर्ण भासेगा, जैसे–उस सराफ को एक सुवर्ण ही भासता था। इसी का नाम 'दृष्टि–सृष्टि वाद' कहा है, जिसका और भी विवेचन करने में आता है। बाल्मीक ऋषि ने वाशिष्ट नाम महा रामायण मे यही मुख्य सिद्धान्त रखा है।

दोहा—दृष्टि सृष्टी बाद का, सुन लीजे शिष भेद।
द्वैत विलय होजाय है, दूर होय सब खेद॥

'दृष्टि–सृष्टि–वाद' के तीन भेद हैं, सो तू जब एकाग्र होकर सुनेगा, तब तेरा द्वैत रूप दुख विलय हो जावेगा, अर्थात्–जैसे अग्नि से धूम निकलता हुआ मालूम होता है, परन्तु–वह आकाश में लीन हो जाता है, तब जाना नहीं जाता कि कहाँ गया। तैसे ही जब तू इस उत्तम सिद्धांत को धारण करेगा, तब तेरा धुआं-रूपी द्वैत आकाश रूप आत्मा मे लय हो जावेगा, फिर तेरे को सर्वत्र एक आत्मा ही भासेगा। जैसे उल्लू को अंधेरा ही भासता है।

'दृष्टिरेव सृष्टि' दृष्टि से तात्पर्य कहिये 'नेत्र की वृत्ति' का है। जब तक नेत्र का विषय पदार्थ है, तब तक ही पदार्थ है, जब नेत्र की वृत्ति का विषय नहीं है तब पदार्थ भी नहीं है—यह मत कनिष्ठ है। क्योंकि—जब तक नेत्र का विषय पदार्थ है, तब तक द्वैत है, इसी से 'कनिष्ठ' कहा है।

दूसरा—मत जो समझा जाता है इस प्रकार है—'दृष्टिरेव सृष्टि' स यहाँ तात्पर्य दृष्टि कहिये 'अंतःकरण की वृत्ति' स है। जब तक अन्तःकरण की वृत्ति का विषय पदार्थ है, तब तक पदार्थ की साक्षात् सत्ता रहती, इस में भी द्वैत बना रहता है, इसी से यह मत 'मध्यम' कहलाता है।

तीसरा—मत जो उत्तम कहा जाता है सो दिखाते हैं—'दृष्टिरेव सृष्टि' अर्थात्-दृष्टि कहिये 'जो चेतन—आत्मा है, सो ही सृष्टि रूप होके भास रहा है' इस प्रकार समझ के जब तू इस उत्तम दृष्टि को धारण करेगा; तब तेरा द्वैत—भाव नष्ट हो जावेगा, और एक अद्वैत ही तेरे को भासगा। परन्तु—अद्वैत भी फिर तेरे को अपने स्वरूप में कल्पित हो प्रतीत होगा। तब तू आपही जान लेगा कि 'सुखादिक आत्मा के स्वरूप ही हैं, क्योंकि—आत्मा में अनात्म—वस्तु कल्पित होने से वह आत्मा का स्वरूप ही है, वास्तव में मैं चेतन आत्मा सदा ही सुख रूप हूं और जो मेरे को सुख की इच्छा हुइ थी सो तो केवल भ्रांति करके हुइ थी' हे शिष्य! तू इस उत्तम

सिद्धांत को धारण कर, तूतो सदा शुद्ध-स्वरूप, सर्वगुण और धर्मों से रहित है।

इस प्रकार से गुरू ने समझाकर कहा, तब शिष्य सविनय कहता है–' हे भगवन्! शुद्ध आत्मा में कोई धर्म नहीं भी हो, परन्तु-विशिष्ट आत्मा में तो सुखादिक धर्म होंगे, क्योंकि-'अहं सुखी' 'अहं दु:खी', ऐसी प्रतीति किसको होती है? सो आप हमको बताइये। और जो आप ऐसा कहो कि-अंतःकरण में होती है, तो यह कहना बने नहीं, क्योंकि-अंत:करण को जड़ भी कहा है, परन्तु-जड़ पदार्थ में सुख दु:ख की प्रतीति कहना बने नहीं, क्योंकि-जड़ पदार्थमे जो सुख-दुख का भान हो, तो घटादिक में भी होना चाहिये? सो होता नहीं, इसी से जाना जाता है-ये चेतन ही के धर्म होंगे।

यदि आप साक्षी आत्मा में इस प्रकार धर्म होना कहो तो, वह उचित नहीं होगा, और न विशिष्ट में कहना ठीक होगा, क्योंकि-जो धर्म अंत:करण मे नहीं है और न साक्षी आत्मा में हैं, वे उनके मिलाप में कहाँ से होंगे? होना नहीं चाहिये, किन्तु-दुख-सुख प्रत्यक्ष मे होते हैं? सो कैसे होते हैं? जो धर्म जिन पदार्थ में नहीं है, वह उनके मिलाप में कैसे आवेगा? यदि पान सुपारी कत्थे में रक्तता न हो तो उनके मिलाप मे कहाँ से आवे? तैसे ही अंत:करण और आत्मा में

मुखादिक नहीं हों तो उनके मिलाप में कैसे होंगे ? हे प्रभू ! यह बड़ा भारी सन्देह मेरे को प्राप्त हुवा है, आप कृपा कर के इस निवारण कीजिये"।

गुरु कहते हैं—हे शिष्य ! तूने अच्छा प्रश्न पूछा है, क्योंकि–इस बात को तो मैं भी भूल ही था, तैंने स्मरण करवाया है। अब तू चित्त लगाकर श्रवण कर। यद्यपि–अंतःकरण तो जड़ है, और सुखादिक प्रतीत होते हैं, सो कैसे ? पुन–पूर्व जन्मों में जो नाना प्रकार के कर्म किये हैं, सो सभी अंतःकरण विशिष्ट में ही हुवे हैं, और अंतःकरण विशिष्ट में ही सुख दुःख की प्रतीति होती है, क्योंकि–जो कर्त्ता है सो ही भोक्ता है, और जो कर्त्ता नहीं होता है सो भोक्ता भी नहीं होता है।

शुद्ध–चेतन इस अनुमान से जाना जाता है कि–अंतःकरण विशिष्ट जीव-चेतन में ही सुख दुःख का भान होता है,क्योंकि–जैसे घट में जल का मानरूप रूप जो कार्य होता है, सो केवल घट में नहीं होता है,और केवल आकाश में भी नहीं बनता है,इन दोनों का जो औपाधिक संबंध है, उसमें ही पाँच सेर और दस सेर संख्या का व्यवहार होता है। केवल आकाश में भी पाँच सेर कहना बनता नहीं और केवल घटपिंड में भी पाँच सेर की संख्या की जाती नहीं, उनका जो औपाधिक संबंध है, उसमें ही

कहना होगा, क्योंकि–कार्य–अनुमिति से जाना जाता है कि–दोनों के मिलाप मे ही व्यवहार होता है ।

इसी प्रकार दु:ख सुख रूप कार्य की प्रतीति होने से जाना जाता है कि– अंत करण विशिष्ट मे ही सुख दु:ख का भान होता है । और तैने कहा था कि–'जो धर्म दोनो पदार्थों मे नहीं होता है, सो उनके मिलाप में कैसे हागा ।' सो भी नियम नहीं बनता क्योंकि–विचार कर देखो, जैसे धूम्र केवल लकड़ी मे नहीं होता है, और न केवल अग्नि में होता है, परन्तु–जब दोनों मिलते हैं, तब धूम्र की प्रतीती होती है । अब तू देख–इनमे से किसमें धुवाँ था ? ऐसे ही हस्त की दोनो तालियों में शब्द नहीं है, परन्तु–जब दोनों मिलते हैं तब शब्द होता है ।

हे शिष्य ! इस प्रकार समझके देख–यदि तुझे ऐसा दिखाई देता हो, तो अत करण विशिष्ट मे समझ ले, और नहीं तो पूर्व हमने 'दृष्टि–सृष्टि वाद' में जो 'उत्तम दृष्टि' कही थी उसी को धारण कर, और जो 'अंतःकरण–विशिष्ट–वाद' पूर्व कथन किया है, सो तेरे प्रश्न के उत्तर देने के वास्ते है, जिससे तेरी भ्रांति दूर होवे । तुझ चेतन में जैसे और सर्व धर्म कल्पित हैं, वैसे ही विशिष्टपना और शुद्धपना भी सब कल्पित ही है। यदि तू ऐसा कहे कि– 'जो कुछ भी कल्पित है सो कल्पना मात्र ही है", उस से कोई भी कार्य होता नहीं, जैसे स्थभ मे पिशाच का भ्रम

होता है, सो वह कल्पना मात्र पिशाच किसी के बालक को मारता नहीं है, और रज्जू में कल्पना मात्र के सर्प से रज्जू विष वाली नहीं होती है। ऐसे ही जो तुमको आत्मा में अनात्मा का अभ्यास हुआ है सो तेरे आत्मा में कुछ भी हानि नहीं कर सकता, किन्तु-यह अभ्यास ही तेरे को दुख का देने वाला है। इस पर तुम को एक—

(५)

'रूई पिंजारा न्याय'—

सुनाते हैं, सो तू अब इसको मन लगा कर सुनेगा; तब तेरा यह अभ्यास ढूंढने से भी नहीं मिलेगा और तेरे को शान्तरूप एक आत्मा ही भासेगा, तू सावधान हो के सुन—

एक पिंजारा चला जाता था, उस समय किसी मण्डी में उसने रूई का बहुत भारी गंज देखा, तब उसको ऐसा सोच हुआ कि—यह 'तो सारी मुझको ही पीजनी पड़ेगी' वह रात और दिन इसी फिकर में रहने लगा, और ऐसी भारी चिन्ता के मारे उसका शरीर सूखकर कमजोर होगया, और चलने फिरने के लायक न रहा। तब किसी पुरुष ने उस पिंजारे से पूछा—अरे भाई! तू किस चिन्ता में रहता है? किस दुख के कारण तेरा शरीर कृश हो गया है? सो बता तो सही', पिंजारे ने उत्तर दिया कि—'यह सारी रुई मेरे को ही पीजनी पड़ेगी,' तब

वह पूछने वाला बोला–'अरे भाई ! तू ऐसा फिकर कुछ भी मत कर, वह तो अग्नि लग के सारी भस्म होगई है'। यह सुन उस पिजारे ने कहा–क्या सच्ची बात है ? तब वह कहने लगा–'अरे मूठ बोलकर हमें कुछ तेरे से लेना है ? वह तो परसों के रोज भस्म होगई'। तब इस प्रकार उस पुरुष के वचनों को सुन के पिजारे का अध्यास निवृत्त हो गया। इसी प्रकार तैंने आत्मा में अनात्म अन्त.करण के सुख दुखादिक धर्म आरोपण करके 'मे सुखी हूँ मैं दुखी हूँ' ऐसा जो मान लिया है इसी का नाम 'अध्यास' है।

वास्तव में ऐसा सभी को होता है तथापि-ज्ञानवान् और अज्ञानी के अध्यास में सामान्य और विशेष की जिस प्रकार विलक्षणता होती है सो दिखाते है–ज्ञानवान् व्यवहार दशा मे 'अहं सुखी अहं दु खी' ऐसे शब्दों को उच्चारण करता मालूम होता है, परन्तु उसने जो चेतन आत्मा को अपना स्वरूप जाना है, सो सर्व दुख सुख आदि से रहित, असग है–ऐसा उसका दृढ़ निश्चय होने से ज्ञानवान् का अध्यास सामान्य होता है जिससे वह जन्मों का कारण नही होता है। अज्ञानी को ऐसा अकर्ता रूप करके आत्मा का ज्ञान है नहीं,–इसी कारण अज्ञानी को विशेष अध्यास होता है जो जन्मों का कारण होता है।

शिष्य प्रश्न करता है–हे भगवन् ! अध्यास कितने प्रकार का

होता है ? सो आप कृपा करके कहो, क्योंकि भली प्रकार से वस्तु का स्वरूप जाने बिना ग्रहण और त्याग होता नहीं इसलिये अध्यास के भिन्न २ स्वरूप कथन करो'। इस प्रकार सुनके गुरु कहते हैं–हे शिष्य ! अध्यास का स्वरूप और भेद हम कहते हैं, तू चित्त लगाकर श्रवण कर। अध्यास दो प्रकार का होता है, एक तो 'अर्था–ध्यास' और दूसरा 'ज्ञाना–ध्यास' होता है। इनमें अर्था–ध्यास के और भी बहुत भेद हैं। कहीं-केवल 'संबंधी अध्यास' होता है और कहीं 'संबंध सहित सम्बन्धी का अध्यास' होता है कहीं केवल धर्मा–ध्यास' होता है और कहीं 'अन्योन्या-ध्यास' होता है, और कहीं 'अनन्तरा ध्यास' होता है। सो भी दो प्रकार का होता है। एक तो 'संसगा ध्यास' होता है, और दूसरा 'स्वरूपा-ध्यास' होता है। इतने अध्यास के भेद कहे हैं। और भी अनेक भेद हैं।

माया के पदार्थों का चिंतन करने से अंत नहीं है उसको तो मिथ्या जानने से ही अंत होता है। बहुत गर्भ के बाद गिरने से कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है, इसलिये जितना अध्यास क्रम है सो सब 'अर्था–ध्यास' और 'ज्ञाना-ध्यास के अन्तर्भूत है। अध्यास का स्वरूप यह है कि–मिथ्या वस्तु और उसका ज्ञान दोनों को अध्यास कहते हैं सो अध्यास और अध्यस्त वस्तु के अधिष्ठान के ज्ञान बिना और प्रकार से निवृत्ति होती नहीं।

यह सुन शिष्य शंका करता है–हे भगवन आप कहते हो –कि

अधिष्ठान के ज्ञान से अध्यास और अध्यस्त की निवृत्ती होती है। सो यह नियम बनता नहीं, क्योंकि अधिष्ठान के ज्ञान बिना भी अध्यस्त की निवृत्ति देखने में आती है। जैसे-किसी पुरुष को सर्प के मंद संस्कारों से रज्जू मे सर्प भ्रम होके, उसके अन्तर फिर दंड के भी सस्करण हैं और वे तीव्र हैं, इससे पीछे दंड का ही भ्रम होगा, तब रज्जू के ज्ञान बिनाही, सर्प भ्रम निवृत्ति होगा, इसमें अधिष्ठान के ज्ञान की क्या जरूरत है। ऐसे ही आत्मा में कर्तापने का जो भ्रम हो रहा है सो आत्मा के अकर्तारूप ज्ञान से निवृत होजावेगा तो फिर आत्मा को ब्रह्म रूप कर के जानना, इस ज्ञान की क्या जरूरत है ?" ऐसी शंका के करने पर-

गुरु कहते हैं-हे शिष्य ' यद्यपि विरोधी पदार्थ के ज्ञान से विरोधी पदार्थ को लय रूप निवृत्ति होजावेगी, तथापि-अत्यन्त निवृति होती नहीं। क्योंकि सर्प भ्रम तो निवृत्त हो गया है, परन्तु अधिष्ठान का अज्ञान निवृत्त नहीं हुआ; इसी से फिर दंड का भ्रम हो जाता है। अधिष्ठान के ज्ञान बिना अत्यन्त निवृत्ति होती है नहीं। कारण सहित जो कार्य की निवृत्ति है सो ही अत्यन्त निवृत्ति कही जाती है, जो केवल अधिष्ठान के ज्ञान से ही होती है और किसी प्रकार से होती नहीं। और जो तैंने कहा था कि-आत्मा का जो ब्रह्मरूप करके ज्ञान है उसकी क्या जरूरत है? आत्मा के अकर्तापने के ज्ञान से आपही निवृत्ति हो जावेगी, सो तेरा कहना बनता नहीं,

होता है ? सो आप कृपा करके कहो, क्योंकि भली प्रकार से वस्तु का स्वरूप जाने बिना ग्रहण और त्याग होता नहीं, इसलिये अभ्यास के भिन्न २ स्वरूप कथन करो'। इस प्रकार सुनके गुरु कहते हैं—हे शिष्य! अभ्यास का स्वरूप और भेद हम कहते हैं तू चित लगाकर श्रवण कर। अभ्यास दो प्रकार का होता है, एक तो 'अर्था-ध्यास' और दूसरा 'ज्ञाना-ध्यास' होता है। इनमें अर्था-ध्यास के और भी बहुत भेद हैं। कहीं-केवल 'संबंधी अभ्यास' होता है और कहीं 'संबंध सहित सम्बन्धी का अभ्यास' होता है, कहीं केवल धर्मा-ध्यास' होता है और कहीं 'अन्योन्या-ध्यास' होता है और कहीं 'अनन्तरा ध्यास' होता है। सो भी दो प्रकार का होता है। एक तो 'संसर्गा-ध्यास' होता है, और दूसरा 'स्वरूपा-ध्यास' होता है। इतने अभ्यास के भेद कहे हैं। और भी अनेक भेद हैं।

माया के पदार्थों का चिंतन करने से अंत नहीं है उनको तो मिथ्या जानने से ही अंत होता है। बहुत गधे के बाल गिरने से कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है, इसलिये जितना अभ्यास क्रम है सो सब 'अर्था-ध्यास' और 'ज्ञाना-ध्यास' के अन्तर्भूत है। अभ्यास का स्वरूप यह है कि—मिथ्या वस्तु और उसका ज्ञान दोनों को अभ्यास कहते हैं, सो अभ्यास और अध्यस्त वस्तु के अधिष्ठान के ज्ञान बिना और प्रकार से निवृत्ति होती नहीं।

यह सुन शिष्य शंका करता है—हे भगवन आप कहते हो—कि

जहां हिंसा नहीं अहिंसा, नहिं जाति वरन कुल वंशा ।
कोइ निंदा नहीं प्रशंसा, चहे कोइ कुछ बको जमाना ॥ २ ॥
जहां नहीं गायत्री संध्या, कोइ मोक्ष हुआ नहि वंध्या ।
आतम है सदा स्वछंदा, जहा नहीं ज्ञान अरु ध्याना ॥ ३ ॥
जहाँ नहिं मूला नहिं तूला, कभी कुम्हलावा नहिं फूला ।
कुछ जान अजान न भूला, वह ऐसा देश देवाना ॥ ४ ॥
अहं जीव ईश नहीं माया, कोइ धर्म कर्म नहिं पाया ।
तुझ चेतन की सब छाया, यह स्वर्ग पाताल जहाना ॥५॥
जब गुप्त रूप को जाना, तब मिटा भेद भ्रम नाना ।
भई माया मलकी हाना, जब देखा एक समाना ॥ ६ ॥

—इस बात को अपने चित्त मे विचार के आत्मा को एक समरूप जान, और जो पूर्व में सुख को आत्मा से भिन्न आत्मा का गुण तथा—आत्मा का धर्म रूप करके जाना था, सो वास्तव में आत्मा का स्वरूप ही जान । यदि तू ऐसा कहे कि-'सुखादिक किसी क्रिया से आत्मा को प्राप्त होते हैं' तो तेरा यह कहना बनता नहीं, क्योंकि—क्रिया करके अनात्म पदार्थ की ही प्राप्ति होती है, आत्मा तो सर्व व्यापी होने से नित्य ही प्राप्त है । और जो तू ऐसा कहे कि "नित्य प्राप्त की प्राप्ति, और नित्य निवृत्त की निवृत्ति वेदान्त शास्त्र में कही है, इसलिये प्राप्त की प्राप्ति बनती है", सो ठीक है ।

परन्तु—तैंने इस प्रकार के कथन का अभिप्राय समझा नहीं है

क्योंकि कर्त्तारूप से जो आत्मा का ज्ञान है सो तो अकर्त्तापन के ज्ञान से भ्रम रूप निवृत्ति को प्राप्त होजायगा, परन्तु—आत्मा को ब्रह्म रूप से नहीं जानेगा तब तक अज्ञान की निवृत्ति नहीं होगी। जब अज्ञान की निवृत्ति नहीं हुई तो अकर्त्तापने का ज्ञान भी अध्यास रूप ही है, जैसे सर्प ज्ञान से दंड ज्ञान हो गया है, परन्तु—दोनों ही भ्रम रूप हैं।

तात्पर्य यह है कि—जब तक अधिष्ठान के अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती है, तब तक भ्रम की भी निवृत्ति नहीं हो सकती। सिद्धान्त में सर्व कल्पित वस्तु का अधिष्ठान आत्मा है, सो उसको ब्रह्म से भिन्न जानना अधिष्ठान का अज्ञान है, और ब्रह्म स्वरूप आत्मा को जानना ही आत्मा का यथार्थ ज्ञान है। इस प्रकार आत्मा के यथार्थ ज्ञान से सर्व अध्यास और अध्यास का कार्य जो अध्यस्त पदार्थ है, इन सब की निवृत्ति होती है, इसी को आत्यन्त निवृत्ति कहते हैं। इसी पर तेरे को एक पद सुनाते हैं सो तू मन लगा के सुन —

> कहिं आना है नहीं जाना, एक मन का मैल मिटाना।
> दरियाव की मौज्या देखो, दरियाव के बीच समाना ॥टेक॥
> कत्ता बुद्धि को त्यागो, अब भर्म नींद से जागो।
> [illegible] ॥ १ ॥

जहां हिंसा नहीं अहिंसा, नहिं जाति वरन कुल वंशा ।
कोइ निंदा नहीं प्रशंसा, चहे कोइ कुछ बको जमाना ॥ २ ॥
जहां नहीं गायत्री संध्या, कोइ मोक्ष हुआ नहि वंध्या ।
आतम है सदा स्वछंदा, जहा नहीं ज्ञान अरु ध्याना ॥ ३ ॥
जहाँ नहिं मूला नहि तूला, कभी कुम्हलाता नहि फूला ।
कुछ जान अजान न भूला, वह ऐसा देश देवाना ॥ ४ ॥
जहं जीव ईश नहीं माया, कोइ धर्म कर्म नहिं पाया ।
तुझ चेतन की सब छाया, यह स्वर्ग पाताल जहाना ॥५॥
जब गुप्त रूप को जाना, तब मिटा भेद भ्रम नाना ।
भई माया मलकी हाना, जब देखा एक समाना ॥ ६ ॥

—इस बात को अपने चित्त में विचार के आत्मा को एक सम रूप जान, और जो पूर्व में सुख को आत्मा से भिन्न आत्मा का गुण तथा—आत्मा का धर्म रूप करके जाना था, सो वास्तव में आत्मा का स्वरूप ही जान । यदि तू ऐसा कहे कि-'सुखादिक किसी क्रिया से आत्मा को प्राप्त होते हैं' तो तेरा यह कहना बनता नहीं, क्योंकि—क्रिया करके अनात्म पदार्थ की ही प्राप्ति होती है, आत्मा तो सर्व व्यापी होने से नित्य ही प्राप्त है । और जो तू ऐसा कहे कि "नित्य प्राप्त की प्राप्ति, और नित्य निवृत्त की निवृत्ति वेदान्त शास्त्र में कही है, इसलिये प्राप्त की प्राप्ति बनती है", सो ठीक है ।

परन्तु—तैंने इस प्रकार के कथन का अभिप्राय समझा नहीं है

क्योंकि कर्तारूप से जो आत्मा का ज्ञान है सो तो अकर्तापन के ज्ञान से अध्यास रूप निवृत्ति को प्राप्त होजावेगा, परन्तु—आत्मा को ब्रह्म रूप से नहीं जानेगा तब तक अज्ञान की निवृत्ति नहीं होगी। जब अज्ञान की निवृत्ति नहीं हुई तो अकर्तापने का ज्ञान भी अध्यास रूप ही है, जैसे सर्प ज्ञान से दंड ज्ञान हो गया है, परन्तु—दोनों ही भ्रम रूप हैं।

तात्पर्य यह है कि—जब तक अधिष्ठान के अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती है, तब तक भ्रम की भी निवृत्ति नहीं हो सकती। दार्ष्टान्त में सर्व कल्पित वस्तु का अधिष्ठान आत्मा है, सो उसको ब्रह्म से भिन्न जानना अधिष्ठान का अज्ञान है, और ब्रह्म स्वरूप आत्मा को जानना ही आत्मा का यथार्थ ज्ञान है। इस प्रकार आत्मा के यथार्थ ज्ञान से सर्व अध्यास और अध्यास का कार्य जो अध्यस्त पदार्थ है; इन सब की निवृत्ति होती है, इसी को अत्यन्त निवृत्ति कहते हैं। इसी पर तेरे को एक पद सुनाते हैं सो तू मन लगा के सुन —

> कहिं आना है नहीं जाना, एक मन का मैल मिटाना।
> दरियाव की मौज्या देखो, दरियाव के बीच समाना ॥टेक॥
> कर्ता बुद्धि को त्यागो, भ्रम मर्म नींद से जागो।
> तुम आतम पद से लागो तज देउ विषय विष खाना ॥ १ ॥

लगा तब उस बच्चे का शिर दरवाजे में टकराने से वह रोने लगा, उसका रोना सुनके पिता को उसी वक्त पुत्र की ज्ञात होगई । अब तू इस बात को विचार कर देख, उस बच्चे की प्राप्ति किस क्रिया से हुई ? किसी भी क्रिया से नहीं हुई । पूर्व में उस पुरुष ने अनेक क्रिया उसकी प्राप्ति के वास्ते की, परन्तु–किसी भी क्रिया से उस बच्चे की प्राप्ति नहीं हुई । जब वह पुरुष सर्व क्रिया को त्याग के निराश होकर अपने घर आया, तभी उसको अपने बच्चे की प्राप्ति हुई, यह तो दृष्टान्त है ।

दार्ष्टान्त यह है कि–जब तक तेरे को किसी कायिक, वाचिक, मानसिक क्रिया का अहंकार है कि–अमुक क्रिया करके आत्मा को सुख की प्राप्ति होगी, तबतक तेरे को कभी सुख की प्राप्ति नहीं होगी ।

जैसे–वह पुरुष जब तक ढूंढने की क्रिया करता रहा, तब तक पुत्र की प्राप्ति नहीं हुई, जब वह निराश होकर अपने घर आया तब उसको पुत्र की प्राप्ति हुई । ऐसे ही तेरे को जो सुख प्राप्ति की इच्छा हुई है और उसके वास्ते नाना प्रकार की जो क्रिया करता है, जब तू इन सर्व से निराश होगा, और जो सच्चा आत्मा-रूपी घर है उस की तरफ आवेगा, तब तेरे पुत्र स्थानी आत्म–स्वरूपी 'नित्य–सुख' की प्राप्ति होगी ।

परन्तु–वह तभी होगी, जब दरवाजा स्थानी जो 'सत् शास्त्र

जो वस्तु नित्य ही प्राप्त है उसकी फिर किस क्रिया से प्राप्ति होगी ? उसका तो अज्ञात होना ही अप्राप्ति है, और ज्ञात होना उसकी प्राप्ति कही जाती है, यथार्थ में किसी से उसकी प्राप्ति नहीं होती है । और जो निश्चय दिया है, उसको तू विचार के देख, जब तू इस प्रकार विचार करेगा, तब तेरी क्रिया–जन्य प्राप्ति की शंका निवृत्त हो जावेगी, सो विचार यह है जिस पर तेरे को एक–

(६)

"बच्चा–बाजार–पिता–न्याय"

सुनाते हैं–एक पुरुष अपने बच्चे को संग लेके बाजार की सैल करने गया था, उसने बाजार में गाड़ी घोड़े की बहुत सी भीड़ देख कर अपने मन में विचार किया कि–इस बच्चे को कोई चोट फेंट लगे नहीं । इसलिये उसने उस बच्चे को अपने कंधे पर बिठा लिया, और बाजार में घूमता रहा । वह अनेक प्रकार के कौतुक तमाशा देखता रहा और बाजार की अनेक वस्तु देखके उसका मन रञ्जू होने के कारण उसे उस लड़के का विस्मरण होगया, फिर उस पुरुष को ऐसा भ्रम हुआ कि लड़का तो कहीं बाजार में खोगया है ।

तब वह उस लड़के को ढूंढन लगा और साराही बाजार उसने ढूंढा, परन्तु–वह बच्चा उसको कहीं भी नहीं मिला । ऐसी दशा में वह पुरुष हैरान होकर घर चला । जब घर के दरवाजे में घुसन

लगा तब उस बच्चे का शिर दरवाजे मे टकराने से वह रोने लगा, उसका रोना सुनके पिता को उसी वक्त पुत्र की ज्ञात होगई। अब तू इस बात को विचार कर देख, उस बच्चे की प्राप्ति किस क्रिया से हुई ? किसी भी क्रिया से नहीं हुई। पूर्व में उस पुरुष ने अनेक क्रिया उसकी प्राप्ति के वास्ते की, परन्तु-किसी भी क्रिया से उस बच्चे की प्राप्ति नहीं हुई। जब वह पुरुष सर्व क्रिया को त्याग के निराश होकर अपने घर आया, तभी उसको अपने बच्चे की प्राप्ति हुई, यह तो दृष्टान्त है।

दार्ष्टान्त यह है कि-जब तक तेरे को किसी कायिक, वाचिक, मानसिक क्रिया का अहंकार है कि-अमुक क्रिया करके आत्मा को सुख की प्राप्ति होगी, तबतक तेरे को कभी सुख की प्राप्ति नहीं होगी।

जैसे-वह पुरुष जब तक ढूढने की क्रिया करता रहा, तब तक पुत्र की प्राप्ति नहीं हुई, जब वह निराश होकर अपने घर आया तब उसको पुत्र की प्राप्ति हुई। ऐसे ही तेरे को जो सुख प्राप्ति की इच्छा हुई है और उसके वास्ते नाना प्रकार की जो क्रिया करता है, जब तू इन सर्व से निराश होगा, और जो सच्चा आत्मा-रूपी घर है उस की तरफ आवेगा, तब तेरे पुत्र स्थानी आत्म-स्वरूपी 'नित्य-सुख' की प्राप्ति होगी।

परन्तु-वह तभी होगी, जब दरवाजा स्थानी जो 'सत् शास्त्र

और महात्मा का सत्संग है;' उसी में तू आवेगा, और तेरे "अहं ब्रह्मास्मि" ऐसी चोट लगेगी, तब तू उस बच्चे की तरह चिल्लावेगा कि—मैं ही चेतन आत्मा परिपूर्ण ब्रह्मरुप हूँ और अक्रिय हूँ, इसी से मैं सर्व धर्मों से रहित हूँ, और सभी धर्म और सभी क्रिया मेरे द्वा स सिद्ध होती हैं, और मेरे से कोई भी पदार्थ जुदा नहीं है। जब इस प्रकार समझेगा, तब तू जान लेगा कि—नित्यप्राप्ति जो कही है, सो केवल प्राप्त पदार्थ का ज्ञान कराने के वास्ते कही है, और किसी क्रिया से प्राप्त की प्राप्ति नहीं होती है।

जिस पदार्थ की किसी क्रिया से प्राप्ति होती है, सो पदार्थ अनात्म ही होता है जैसे—घट—पटादिक पदार्थ हैं, ये सारे क्रिया जन्य होने से अनात्म ही हैं। जो पदार्थ किसी क्रिया से उत्पन्न होता है सो नाशवान ही है। यज्ञादिक कर्मों स स्वर्ग के भोग पदार्थ प्राप्त होते हैं, सो भी काल पा के नाश हो जाते हैं। यदि किसी क्रिया अन्य पदार्थ से आत्मा के सुख की प्राप्ति कहो, तो वह सुख भी नाश वाला ही होगा। वास्तव में वेद न आत्मा को अक्रिय ही कहा है। उसमें किसी क्रिया का आरोपण करके उसको सुख की प्राप्ति कहना सर्वथा वेद और शास्त्र स विरुद्ध है। इस बात को सुन के शिष्य प्रश्न करता है —

'हे गुरो! वेद में दो प्रकार के कर्म कहे हैं, उनमें एक तो विधि' और दूसरा नि षेध' कर्म कहा है। इन दोनों में स निषेध—कर्म

का तो त्याग ही कहा है, और जो विधि-कर्म है सो करने के वास्ते कथन किया है। विधि-कर्म से सुख की प्राप्ति कही है। जीवात्मा से भिन्न और किसी को भी कर्म का अधिकार है नहीं, जीवात्मा ही कर्म का अधिकारी है। इसलिये जीवात्मा के सुख के वास्ते ही वेदने कर्म का कथन किया है, सो कर्म किसी क्रिया से होता है। और आप कहते हो कि–'किसी भी क्रिया के करने से आत्मा को सुख की प्राप्ति होती नहीं।' इस में तो आपका कहना ही वेद से विरुद्ध मालूम होता है, क्योंकि वेदने कर्मों का जो कथन किया है, 'वह कथन जीवात्मा के सुख के ही वास्ते करने में वेद का 'अभिप्राय है। और जो किया-जन्य कर्म से सुख नहीं होता, तो वेद ऐसा कथन क्यों करता? इससे जाता है कि–वेद का तो किसी के बहकाने में तात्पर्य नहीं है, वेदों को ईश्वर ने सर्व जीवों के भले के वास्ते ही उत्पन्न किया है"। ऐसी शङ्का होने से—

गुरु कहते हैं— यद्यपि वेद ईश्वर ने जीवों के भले वास्ते ही उत्पन्न किये हैं, और विधि-निषेध दो प्रकार के कर्मों का कथन किया है, सोभी जीवों के कल्याण वास्ते ही है। परन्तु–अपनी बुद्धि में जो असम्भवनादिक दोष होने से वेद के वचनों का तात्पर्य समझ मे नहीं आता है, इसी कारण विरोध मालूम होता है। क्योंकि–किसी स्थान में तो ऐसा कहा है कि 'जब तक जीवे तब तक कर्मों को ही करे" और किसी जगह ऐसा भी कथन किया

और महात्मा का सत्संग है,' इसी में तू आवेगा, और तेरे "मर्ह ब्रह्मास्मि" ऐसी चोट लगेगी तब तू उस बच्चे की तरह चिल्लावेगा कि—मैं ही चेतन आत्मा परिपूर्ण स्वरूप हूँ और अक्रिय हूँ, इसी से मैं सर्व धर्मों से रहित हूँ, और सभी धर्म और सभी क्रिया मेरे ही से सिद्ध होती हैं, और मेरे से कोई भी पदार्थ जुदा नहीं है। जब इस प्रकार समझेगा, तब तू जान लेगा कि—नित्यप्राप्ति भी कही है, सो केवल प्राप्त पदार्थ का ज्ञान कराने के वास्ते कही है, और किसी क्रिया से प्राप्त की प्राप्ति नहीं होती है।

जिस पदार्थ की किसी क्रिया से प्राप्ति होती है, सो पदार्थ अनात्म ही होता है; जैसे—घट—पटादिक पदार्थ हैं, ये सारे क्रिया जन्य होने से अनात्म ही हैं। जो पदार्थ किसी क्रिया से उत्पन्न होता है, सो नाशवान् ही है। यज्ञादिक कर्मों से स्वर्ग के भोग पदार्थ प्राप्त होते हैं, सो भी काल पा के नाश हो जाते हैं। यदि किसी क्रिया जन्य पदार्थ से आत्मा के सुख की प्राप्ति कहो, तो वह सुख भी नाश वाला ही होगा। वास्तव में वेद में आत्मा को अक्रिय ही कहा है। उसमें किसी क्रिया का आरोपण करके उसको सुख की प्राप्ति कहना सर्वथा वेद और शास्त्र से विरुद्ध है। इस बात को सुन के शिष्य प्रश्न करता है—

'हे गुरो ! वेद में दो प्रकार के कर्म कहे हैं, उनमें एक तो विधि और दूसरा निषेध कर्म कहा है। इन दोनों में से निषेध—कर्म

का तो त्याग ही कहा है, और जो विधि-कर्म है सो करने के वास्ते कथन किया है। विधि-कर्म से सुख की प्राप्ति कही है। जीवात्मा से भिन्न और किसी को भी कर्म का अधिकार है नहीं, जीवात्मा ही कर्म का अधिकारी है। इसलिये जीवात्मा के सुख के वास्ते ही वेदने कर्म का कथन किया है, सो कर्म किसी क्रिया से होता है। और आप कहते हो कि-'किसी भी क्रिया के करने से आत्मा को सुख की प्राप्ति होती नहीं।' इस मे तो आपका कहना ही वेद से विरुद्ध मालूम होता है, क्योंकि वेदने कर्मों का जो कथन किया है, 'वह कथन जीवात्मा के सुख के ही वास्ते करने मे वेद का अभिप्राय है। और जो क्रिया-जन्य कर्म से सुख नहीं होता, तो वेद ऐसा कथन क्यो करता ? इससे जाता है कि-वेद का तो किसी के बहकाने में तात्पर्य नहीं है, वेदो को ईश्वर ने सर्व जीवो के भले के वास्ते ही उत्पन्न किया है" । ऐसी शङ्का होने से—

गुरु कहते हैं— यद्यपि वेद ईश्वर ने जीवों के भले वास्ते ही उत्पन्न किये हैं, और विधि-निषेध दो प्रकार के कर्मों का कथन किया है, सोभी जीवो के कल्याण वास्ते ही है। परन्तु-अपनी बुद्धि में जो असम्भवनादिक दोष होने से वेद के वचनों का तात्पर्य समझ में नहीं आता है, इसी कारण विरोध मालूम होता है। क्योंकि-किसी स्थान में तो ऐसा कहा है कि 'जब तक जीवे तब तक कर्मों को ही करे" और किसी जगह ऐसा भी कथन किया

कि—"कर्मण्य कम्यते अन्तु" (अर्थात्—कर्मों से आव न घाममात होते हैं।) इस रीति से नाना प्रकार के वचनों को सुनके पुरुषों की बुद्धि में भ्रम होजाता है। इस से न तो कर्मों का त्याग होता है, और न कर्मों के करने में चित्त की प्रवृत्ति ही होती है, समस्त संशय में ही उमर बीत जाती है।

इससे प्रथम अपनी बुद्धि में जा 'असम्भावना' दोष है उसकी निवृत्ति करनी चाहिये। उसकी निवृत्ति बारम्बार शास्त्र के विचार न, और महा पुरुषों के वचनों में विश्वास रखने स होती है। जब इस प्रकार महात्मा पुरुषों के वचनों को बारम्बार सुनगा; और शास्त्र का विचार करेगा, तब ज्ञान उपजेगा कि— अधिकारी भेद से सारही वेद क वचन ठीक हैं।

'विधि, निषेध' य दो प्रकार के 'कम भेद न कहे हैं। निषेध—कर्म स रोक के विधि—कर्म' में लगाना और फिर सकाम को छुड़ा कर 'निष्काम विधि—कर्म में लगाना, और जबतक अशुभ—वासना दूर नहीं हो तब तक निष्काम कर्म करना, और और जब अशुभवासना नहीं मालूम हो; तब निष्काम—कर्म को भी नहीं करना, किन्तु—'निष्काम—उपासना' को करना, और यह भी जबतक चित्त का स्थिरता नहीं होय तबतक करना; और जब 'विक्षप—दोष' दूर होजाय तब निष्काम—उपासना भी नहीं करना और वैसी दशा में 'नित्य—अनित्य वस्तु का विचार'

करना, और कुछ भी नहीं करना।

ऐसे ही विधि कर्म से लेकर ज्ञान की प्राप्ति पर्यन्त 'सोपान-कर्म' अर्थात्–अधिकार भेद से एक कर्म का त्याग और दूसरे का ग्रहण वेद ने कहा है। सो कर्म के कराने में वेद का तात्पर्य नहीं है, किन्तु–सर्व कर्मों को क्रमश: छुड़ाने मे ही वेद का गूढ़ अभिप्राय है। क्योंकि–जिन कर्मों में अहंकार करके जन्म–मरण रूप नाना प्रकार के क्लेश प्राप्त होते है, उन कर्मों के दूर होने से ही दुख की निवृत्ति होगी। कर्मों का नाश तीन प्रकार से होता है–(१) किसी ज्ञात मे पाप हो जावे तो उसकी निवृत्ति 'विरोधी–कर्म' से होती है, जैसे 'प्रायश्चित–कर्म', (२) कर्म के भोगने से कर्म नाश होते हैं, जैसे 'प्रारब्ध–कर्म' और (३) 'ब्रह्मज्ञान' से सर्व 'संचित' और आगामी–'कर्म' नाश होते हैं।

इस प्रकार से 'क्रिया–जन्य–कर्म' का वेद ने जो कथन किया है–सो कर्म के ही नाश करने के वास्ते है। जैसे–किसी के भूत चिपट जाता है तब उसको बलि–दान देकर निवृत्त करते हैं। परन्तु–जैसा प्रेत होता है वैसा उसका बलि होता है। इसी प्रकार इस जोव को 'कर्म–रूपी–भूत' लगा है, तो 'कर्म–रूपी बलिदान' देने से ही वह दूर होता है। और किसी क्रिया के करने से आत्मा को सुख की प्राप्ति नहीं होती है। ऐसा जो 'अक्रिय' और सुखरूप' आत्मा है; उसको किसी क्रिया से सुख की प्राप्ति

कि—"कर्मणा बध्यते जन्तु" (अर्थात्—कर्मों से जीव बन्धायमान होते हैं।) इस रीति से नाना प्रकार के वचनों को सुनके पुरुषों की बुद्धि में भ्रम होजाता है। इस से न तो कर्मों का त्याग होता है, और न कर्मों के करने में चित्त की प्रवृत्ति ही होती है, उभयतः संशय में ही उमर बीत जाती है।

इससे प्रथम अपनी बुद्धि में जो 'असम्भावना' दोष है उसकी निवृत्ति करनी चाहिये। उसकी निवृत्ति बारम्बार शास्त्र के विचार से, और महा पुरुषों के वचनों में विश्वास रखने से होती है। जब इस प्रकार महात्मा पुरुषों के वचनों को बारम्बार सुनेगा, और शास्त्र का विचार करेगा तब ज्ञान आवेगा कि—अधिकारी भेद से सारेही वेद के वचन ठीक हैं'।

'विधि, निषेध' य दो प्रकार के 'कर्म' वेद ने कहे हैं। निषेध—कर्म से रोक के विधि—कर्म' में लगाना और फिर सकाम को छुड़ा कर 'निष्काम विधि—कर्म' में लगाना और जबतक अशुभ—वासना दूर नहीं हो, तब तक निष्काम कर्म करना, और और जब अशुभवासना नहीं मालूम हो, तब निष्काम—कर्म को भी नहीं करना, किन्तु—'निष्काम—उपासना' को करना, और वह भी जबतक चित्त का स्थिरता नहीं दीख तबतक करना और जब 'विक्षेप—दोष' दूर होजावे तब निष्काम—उपासना भी नहीं करना और वैसी दशा में 'नित्य—अनित्य वस्तु का विचार'

करना, और कुछ भी नहीं करना।

ऐसे ही विधि कर्म से लेकर ज्ञान की प्राप्ति प्रर्यन्त 'सोपान-कर्म' अर्थात्–अधिकार भेद से एक कर्म का त्याग और दूसरे का ग्रहण वेद ने कहा है। सो कर्म के कराने मे वेद का तात्पर्य नहीं है, किन्तु– सर्व कर्मों को क्रमश: छुड़ाने मे ही वेद का गूढ़ अभिप्राय है। क्योंकि–जिन कर्मों में अहकार करके जन्म–मरण रूप नाना प्रकार के क्लेश प्राप्त होते हैं, उन कर्मों के दूर होने से ही दुख की निवृत्ति होगी। कर्मों का नाश तीन प्रकार से होता है–(१) किसी ज्ञात में पाप हो जावे तो उसकी निवृत्ति 'विरोधी–कर्म' से होती है, जैसे 'प्रायश्चित–कर्म', (२) कर्म के भोगने से कर्म नाश होते हैं, जैसे 'प्रारब्ध–कर्म' और (३) 'ब्रह्मज्ञान' से सर्व 'संचित' और आगामी–'कर्म' नाश होते हैं।

इस प्रकार से 'क्रिया–जन्य–कर्म' का वेद ने जो कथन किया है-सो कर्म के ही नाश करनेके वास्ते है। जैसे-किसी के भूत चिपट जाता है तब उसको बलि-दान देकर निवृत्त करते हैं। परन्तु-जैसा प्रेत होता है वैसा उसका बलि होता है। इसी प्रकार इस जीव को 'कर्म–रूपी–भूत' लगा है, तो 'कर्म–रूपी बलिदान' देने से ही वह दूर होता है। और किसी क्रिया के करने से आत्मा को सुख की प्राप्ति नहीं होती है। ऐसा जो 'अक्रिय' और सुखरूप' आत्मा है, उसको किसी क्रिया से सुख की प्राप्ति

कि–"कमणा बन्ध्यते जन्तु" (अर्थात्–कर्मों से जीव बन्धायमान होते हैं।) इस रीति से नाना प्रकार के वचनों को सुनके पुरुषों की बुद्धि में भ्रम होजाता है। इस से न तो कर्मों का त्याग होता है, और न कर्मों के करने में चित्त की प्रवृत्ति ही होती है, समस्त संशय में ही उमर बीत जाती है।

इससे प्रथम अपनी बुद्धि में जो 'असम्भावना' दोष है उसकी निवृत्ति करनी चाहिये। उसकी निवृत्ति बारम्बार शास्त्र के विचार से; और महा पुरुषों के वचनों में विश्वास रखने से होती है। जब इस प्रकार महात्मा पुरुषों के वचनों को बारम्बार सुनेगा, और शास्त्र का विचार करेगा, तब जान जावेगा कि– अधिकारी भेद से सारेही वेद के वचन ठीक हैं।

'विधि, निषेध' ये दो प्रकार के 'कर्म' वेद ने कहे हैं। निषेध–कर्म से रोक के विधि–कर्म' में लगाना और फिर सकाम को छुड़ा कर 'निष्काम विधि–कर्म' में लगाना; और जबतक अशुभ–वासना दूर नहीं हो, तब तक निष्काम कर्म करना, और और जब अशुभवासना नहीं मालूम हो तब निष्काम–कर्म को भी नहीं करना, किन्तु–'निष्काम–उपासना' को करना, और यह भी जबतक चित्त का स्थिरता नहीं दीख तबतक करना और जब 'विक्षेप–दोष' दूर होजावे तब निष्काम–उपासना भी नहीं करना और वैसी दशा में 'नित्य–अनित्य वस्तु का विचार'

में होती है, तैसे ही–जितनी साधनरूपी दवाई हैं–सो अज्ञानरूपी-रोग के दूर करने में तो समर्थ हैं; परन्तु–आत्मा को सुख की प्राप्ति कराने में समर्थ नहीं है। क्योंकि–आत्मा तो सदा सुख रूप ही है। जैसे–कपड़े में जो मैल होता है उसकी मल से ही निवृत्ति होती है, परन्तु– साबुन–रूपी–मल' से उस वस्त्र में सफेदी नहीं उत्पन्न होती है क्योंकि–'सफेदी तो वस्त्र का स्वरूप ही है'। कोई कहे कि–'जल को ठंडा करो' वह कौन वस्तु है जो जल को ठंडा करेगी ? वस्तव मे जितनी वस्तु ठंडी मालूम होती हैं, सो सब जल ही से ठंडी होती हैं। इसी प्रकार पदार्थों में जो सुख की प्रतीति होती है सो सारा सुख चेतन आत्मा का है, फिर आत्मा को सुख की प्राप्ति कौन पदार्थ करायेगा। पदार्थ मात्र को वेद ने दुख रूप कहे हैं यही वेद का गूढ अभिप्राय है, सो तैंने समझा नहीं, जैसे एक वैरागी ने गुरु के उपदेश का अर्थ नहीं समझा था। इसी पर तेरे को एक—

(७)

"गुरू-शिष्य उपदेश न्याय"

सुनाते हैं सो यह है कि'–एक गृहस्थी को उसके पूर्व जन्म के उत्तम संस्कारों के योग से वैराग्य उत्पन्न हुआ, तब वह घर छोड़ कर चल दिया और अपने कल्याण की इच्छा करके विचरने तथा

कहना संभव नहीं। परन्तु—जो तरे को सुख प्राप्ति की इच्छा हुई है सो दोष है, इसी से तेरे को 'अक्रिय—आत्मा में नाना प्रकार की क्रिया और कर्म' प्रतीत हुवे हैं।

जैसे—किसी के नेत्र में दोष होता है उसको आकाश में दो चन्द्रमा भासते हैं, इसी प्रकार किसी को 'पित्त—दोष' हो तो उसे सभी पदार्थ पीले प्रतीत होते हैं। वास्तव में दोष केवल नेत्र में ही है चन्द्रमा तो एक ही है—और सारे पदार्थ पीले नहीं होते हैं परन्तु—अपने नेत्र के दोष से पीले भासते हैं। फिर वह पुरुष दवाई करता है और आराम होने पर जो पदार्थ जैसा होता है वैसा ही भासने लग जाता है। वास्तव में दवाइ से नेत्र का दोष ही दूर होता है; नेत्र में उस दवाई से सामर्थ्य नहीं बढ़ती है।

वैसे हो 'अज्ञान—रूपी—दोष' से अपनी बुद्धि में ही कर्ता, क्रिया, कर्म भासता है सो किसी दवाई से ही दूर होगा, और वह दवाई 'निष्काम—कर्म' है। उससे अन्तःकरण शुद्ध होता है। शुद्ध अन्तः—करण में विवेक, वैराग्य, आदि साधन उत्पन्न होते हैं। फिर श्रवण, मनन, निदिध्यासन से 'असंभावना' और 'विपरीत—भावना' दूर होकर आत्मा का यथार्थ ज्ञान होता है। 'जैसा वस्तु का स्वरूप हो वैसा ही जानना' इसी का नाम "यथार्थ—ज्ञान" है।

तात्पर्य यह है कि—जैसे दवाइ की सामर्थ्य रोग के दूर करने

में होती है, तैसे ही–जितनी साधनरूपी दवाई हैं–सो अज्ञानरूपी-रोग के दूर करने में तो समर्थ हैं, परन्तु–आत्मा को सुख की प्राप्ति कराने में समर्थ नहीं है। क्योंकि–आत्मा तो सदा सुख रूप ही है। जैसे–कपड़े में जो मैल होता है उसकी मल से ही निवृत्ति होती है, परन्तु– साबुन–रूपी–मल' से उस वस्त्र में सफेदी नहीं उत्पन्न होती है क्योंकि–'सफेदी तो वस्त्र का स्वरूप ही है'। कोई कहे कि–'जल को ठंडा करो' वह कौन वस्तु है जो जल को ठंडा करेगी ? वस्तव मे जितनी वस्तु ठंडी मालूम होती हैं, सो सब जल ही से ठंडी होती हैं। इसी प्रकार पदार्थों में जो सुख की प्रतीति होती है सो सारा सुख चेतन आत्मा का है, फिर आत्मा को सुख की प्राप्ति कौन पदार्थ करायेगा। पदार्थ मात्र को वेद ने दुख रूप कहे हैं यही वेद का गूढ़ अभिप्राय है, सो तेंने समझा नहीं, जैसे एक वैरागी ने गुरु के उपदेश का अर्थ नहीं समझा था। इसी पर तेरे को एक—

(७)

"गुरु-शिष्य उपदेश न्याय"

सुनाते हैं सो यह है कि'–एक गृहस्थी को उसके पूर्व जन्म के उत्तम संस्कारों के योग से वैराग्य उत्पन्न हुआ, तब वह घर छोड़ कर चल दिया और अपने कल्याण की इच्छा करके विचरने तथा

तीर्थ यात्रा करने लगा । एक दिन वह किसी वैरागी के मंदिर में जाकर ठहरा, तब मंदिर वाला वैरागी उससे पूछने लगा,'तुम कहाँ से आये और कहाँ जाते हो ?' वह कहने लगा कि–"महाराज जी ! मैं तो ऐसे ही तीर्थ यात्रा में विचरता रहता हूँ अपने घर का तो मैंने त्याग किया है, परन्तु मेरे को यह इच्छा बनी रहती है कि–इस जन्म मरण रूपी संसार–दुख से किसी प्रकार मुक्त होऊँ"। इस प्रकार सुन कर वे बाबाजी कहने लगे–'अरे ! यह तो तेरे को हम बता देंगे'। तब वह बोला कि–'महाराज बहुत अच्छी बात है, आप कृपा करके बताइये'।

बाबाजी कहने लगे कि–"भाई ! तुम तीन काम करते रहो तो तुम्हारी मुक्ति हो जावेगी, वे तीन काम यह हैं–एक तो गऊ का गोबर थाप दिया करो दूसरा काम–तमाखू को कूटकर घरे को भर दिया करो, और तीसरा काम गऊ के वास्ते हरी हरी घास जंगल से खोद लाया करो, इन तीन कामों के करने से तुम्हारा मोक्ष हो जावेगा" । तब वह पुरुष इस बात को सुनकर उस बाबा का चेला होकर उसी मन्दिर में रहने लगा और ये तीनः काम करने लगा । बहुत दिन व्यतीत होने पर वह अपने मन में विचार करने लगा कि ये काम तो हम अपने घर पर भी करते थे जो इनमें कल्याण होता तो वहीं होजाता ! महाराज ने कहा है सो कुछ समझ के ही कहा होगा !' इस प्रकार विचार

करता ही रहा ।

फिर एक दिन वह वाबा गैया के वास्ते किसी तालाब के किनारे घास खोद रहा था, उस समय उसी तालाब पर कोई परमहंस महात्मा विचरते हुए चले आये । उन्होंने वहा स्नान किया, तब वह पुरुप उन महात्मा की तरफ देख रहा था । स्नान करके वे महात्मा उसी तालाब के किनारे आसन लगा कर बैठ गये और गीता का पाठ करने लगे । जब वे पाठ कर चुके, तब वह मनुष्य उनके पास जा के 'जय सीताराम', कहता हुआ, वन्दना पूर्वक उनके समीप बैठ गया ।

फिर वे महात्मा उससे पूछने लगे कि -'तुम कौन हो ?' उसने कहा कि– महाराज मैं भी साधू हू ' तब उन्होंने कहा कि–'बहुत अच्छी बात है'। वह मनुष्य कहने लगा कि– 'महाराज ! मैं आपसे एक बात पूछता हूँ, सो आप कृपा करके बताइये'' । महात्मा ने कहा–'बहुत अच्छा आप पूछिये' तब वह कहने लगा कि–''महाराज, मेरे गुरु ने तीन काम मेरे को बताये हैं, और यह कहा है कि–इनको तुम करते रहो, तुम्हारा मोक्ष हो जावेगा । वे काम ये हैं–(१) गऊ का गोबर थापना (२) तमाखू को कूट कर, भर २ के देना, और (३) गऊ के वास्ते हरी २ घास खोद लाना । इन कामों के करने से मोक्ष होता है ? या–क्या ? सो आप बताइये'' । तब वे महात्मा कहने लगे —

' हे सज्जन, इन कामों के करने से तो मोक्ष नहीं होता है, परन्तु

तीर्थ यात्रा करने लगा। एक दिन वह किसी बैरागी के मंदिर में जाकर ठहरा, तब मंदिर वाला बैरागी उससे पूछन लगा, 'तुम कहाँ से आये और कहाँ जाते हो ?' वह कहने लगा कि—"महाराजजी ! मैं तो एम ही तीर्थ यात्रा में विचरता रहता हूँ अपने घर का तो मैंने त्याग किया है, परन्तु मेरे को यह इच्छा बनी रहती है कि—इस जन्म मरण रूपी संसार—दुःख से किसी प्रकार मुक्त होऊँ'। इस प्रकार सुन कर वे बाबाजी कहने लगे—'अरे ! यह तो तेरे को हम बता देंगे'। तब वह बोला कि—'महाराज बहुत अच्छी बात है, आप कृपा करके बताइये।

बाबाजी कहने लगा कि—"भाई ! तुम तीन काम करते रहो तो तुम्हारी मुक्ति हो जावेगा, वे तीन काम यह हैं—एक तो गऊ का गोबर थाप दिया करो दूसरा काम—तमाखू को कूटकर भरे को भर दिया करो, और तीसरा काम—गऊ के वास्ते हरी हरी घास जंगल से तोड़ लाया करो, इन तीन कामों के करने से तुम्हारा मोक्ष हो जावेगा'। तब वह पुरुष इस बात को सुनकर उस बाबा का चेला होकर उसी मन्दिर में रहने लगा और ये तीन काम करने लगा। बहुत दिन व्यतीत होने पर वह अपने मन में विचार करने लगा कि—'ये काम तो हम अपने घर पर भी करते थे जो इनसे कल्याण होता तो कभी होजाता ! महाराज ने कहा है सो कुछ समझ के ही कहा होगा।" इस प्रकार विचार

करता ही रहा।

फिर एक दिन वह बाबा गैया के वास्ते किसी तालाब के किनारे घास खोद रहा था, उस समय उसी तालाब पर कोई परमहंस महात्मा विचरते हुए चले आये। उन्होंने वहा स्नान किया, तब वह पुरुष उन महात्मा की तरफ देख रहा था। स्नान करके वे महात्मा उसी तालाब के किनारे आसन लगा कर बैठ गये और गीता का पाठ करने लगे। जब वे पाठ कर चुके, तब वह मनुष्य उनके पास जा के 'जय सीताराम' कहता हुआ, वन्दना पूर्वक उनके समीप बैठ गया।

फिर वे महात्मा उससे पूछने लगे कि -'तुम कौन हो ?' उसने कहा कि– महाराज मैं भी साधू हू ' तब उन्होंने कहा कि–'बहुत अच्छी बात है'। वह मनुष्य कहने लगा कि– 'महाराज ! मैं आपसे एक बात पूछता हूँ, सो आप कृपा करके बताइये"। महात्मा ने कहा–'बहुत अच्छा आप पूछिये' तब वह कहने लगा कि–"महाराज, मेरे गुरु ने तीन काम मेरे को बताये हैं, और यह कहा है कि–इनको तुम करते रहो, तुम्हारा मोक्ष हो जावेगा। वे काम ये हैं–(१) गऊ का गोबर थापना (२) तमाखू को कूट कर, भर २ के देना, और (३) गऊ के वास्ते हरी २ घास खोद लाना। इन कामों के करने से मोक्ष होता है ? या–क्या ? सो आप बताइये"। तब वे महात्मा कहने लगे—

'हे सज्जन, इन कामों के करने से तो मोक्ष नहीं होता है, परन्तु

इनका अर्थ समझने से मोक्ष होता है, तुम्हारे गुरु ने ठीक बातें बतलाई परन्तु—तुमने इनका अर्थ नहीं समझा।" तब वह कहने लगा कि—'महाराज! कृपा करके अर्थ बतायें'। इस पर वे महात्मा बोले कि—' गोबर थापना का अर्थ यह है, कि—'गो' नाम इंद्रियों का और 'थापना' से तात्पर्य खोटे विषयों से रोकने का है ऐसे ही पर' नाम श्रेष्ठ का है। वही पुरुष श्रेष्ठ है—जिसने अपनी इन्द्रियों को दुष्ट विषयों से रोका है। तमाखू 'कूटने' और 'फूंकने' का अर्थ तमा अर्थात्—तम (लोभ और आलस्य आदि) को कूट कूट के फूंक देना ही तमाखू कूट कूट २ कर भर देना है। तीसरा। काम—जो हरी २ घास खोद लाने का है इसका अर्थ यह है कि—जब तू खोटे विषयों से मन और इंद्रियों को रोकेगा और लोभ आलस्य काम, क्रोध आदि सबों को कूट २ के फूंक देगा तब हरि' अर्थात्-विष्णु भगवान को खोजने से ही तेरा मोक्ष होगा।"

इस प्रकार से उन कामों के अर्थ को समझ के वह अपनी खुरपी छोड़ के मंदिर में आकर बैठ गया और माला हाथ में लेकर ठाकुर जी का भजन करने लगा जब गुरु जी उस पुकार कर कहने लगे, अरे! आनन्दीदास फलाना अमुक—काम नहीं किया' ? तो वह बोला कि— महाराज आज तो मैं सब कामों के अर्थ को समझ गया हूं, अब पहिले जैसे काम करने से क्या प्रयोजन है ? यह सुन गुरुजी कहने लगे—

अरे, आनन्दीदास ! काम करने को कोई चोबीकट तो नहीं

मिला ?" यह गुरु–चेले का दृष्टांत है। दार्ष्टान्त यह है–कि जबतक उन कामों का अर्थ जानकीदास ने नहीं समझा था, तब तक गोवर को थापा, तमाकू को कूटा और घास को भी खोदता रहा। जिस समय उनके अर्थ को जान लिया, तो सर्व कामो से निवृत्त होगयो और आनन्द को प्राप्त हुआ। तैसे ही–जब तक तू किसी क्रिया से आत्मा को सुख की प्राप्ति चाहता है, तब तक तेरे को सुख की प्राप्ति कदापि नहीं होगी। क्योंकि कर्म और उन के फल को वेद ने दु खरूपी कहा है, इस से भी जाना जाता है कि–कर्म और उन के फल दु ख रूपही हैं। प्रत्यक्ष में भी यही देखने मे आता है कि–विना संतोषके जो पुरुष नाना प्रकार के लौकिक कार्य आरंभ करता है, उसको देख के लोग कहते हैं–यह तो बहुत दु खी है। और जो पुरुष सर्व कार्यों को त्याग, विवेक पूर्वक एकान्त देश में रहता है, उसे देख कर लोग कहते हैं कि–'यह पुरुष आनन्द में है'। कहीं ऐसा लिखा भी है—

दोहा–नहीं देव नर तास सम, जो नर बसै एकान्त।
भोगोंकी नहिं वासना, मन हुवा ब्रह्म में शान्त॥
कर्ता क्रिया कर्म का, टूट गयाऽहंकार।
तास समान न और सुख, सब कहते संत पुकार॥

हे शिष्य! जैसे उस महात्मा ने उस बाबा को उन कर्मों का गूढ़ अर्थ समझाया, तब अर्थ समझने पर बाबा को आनन्द

इनका अर्थ समझने मे मोक्ष होता है, तुम्हारे गुरु ने ठीक बातें बतलाई परन्तु-तुमने इनका अर्थ नहीं समझा।" तब वह कहने लगा कि-'महाराज! कृपा करके अर्थ बताइये'। इस पर से वे महात्मा बोले कि-'गोबर थापन का अर्थ यह है, कि-'गो' नाम इंद्रियों को और 'थापना' से तात्पर्य खोटे विषयों से रोकने का है ऐसे ही बर' नाम मेंढ का है। वही पुरुष मेंढ है-जिसने अपनी इन्द्रियों को दुष्ट विषयों से रोका है। तमाखू 'कूटने' और 'फूंकने' का अर्थ यथा अर्थात्-राग (लोभ और लालच आदि) को कूट कूट के फूंक देना ही तमाखू कूट कूट २ कर भर लेना है। तीसरा काम-जो हरी २ घास खोद लाने का है इसका अर्थ यह है कि-जब तू खोटे विषयों से मन और इंद्रियों को रोकेगा और लोभ, लालच काम, क्रोध आदि सर्व को कूट २ के फूंक देगा, तब हरि' अर्थात्-विष्णु भगवान् को खोजने से ही तेरा मोक्ष होगा।"

इस प्रकार से बन कामों के अर्थ को समझ के वह जानकी स्वरूपी खोज के मंदिर में जाकर बैठ गया और माला हाथ में लेकर ठाकुर जी का भजन करने लगा जब गुरु जी उस पुकार कर कहने लगे, अरे! जानकीदास पश्चना मसुका-काम नहीं किया'? तो वह बोला कि-'महाराज आज तो मैं सब कामों के अर्थ को समझ गया हूं अब पहिले कैसे काम करने से क्या प्रयोजन है?' यह सुन गुरुजी कहते हैं —

"अरे, जानकीदास! आज तेरे को कोई चोटीकट तो नहीं

मिला?' यह गुरु-चेले का दृष्टान्त है। दार्ष्टान्त यह है-कि जबतक उन कामों का अर्थ जानकीदास ने नहीं समझा था, तब तक गोबर को थापा, तमाखू को कूटा और घास को भी खोदता रहा। जिस समय उनके अर्थ को जान लिया, तो सर्व कामों से निवृत्त होगया और आनन्द को प्राप्त हुआ। तैसे ही-जब तक तू किसी क्रिया से आत्मा को सुख की प्राप्ति चाहता है, तब तक तेरे को सुख की प्राप्ति कदापि नहीं होगी। क्योंकि कर्म और उन के फल को वेद ने दुःखरूपी कहा है, इस से भी जाना जाता है कि-कर्म और उन के फल दुःख रूपही हैं। प्रत्यक्ष में भी यही देखने में आता है कि-बिना संतोषके जो पुरुष नाना प्रकार के लौकिक कार्य आरंभ करता है, उसको देख के लोग कहते हैं-यह तो बहुत दुःखी है। और जो पुरुष सर्व कार्यों को त्याग, विवेक पूर्वक एकान्त देश में रहता है, उसे देख कर लोग कहते हैं कि-'यह पुरुष आनन्द में है'। कहीं ऐसा लिखा भी है—

दोहा-नहीं देव नर तास सम, जो नर बसै एकान्त।
भोगों की नहिं वासना, मन हुवा ब्रह्म में शान्त॥
कर्ता क्रिया कर्म का, टूट गयाऽहंकार।
तास समान न और सुख, सब कहते संत पुकार॥

हे शिष्य! जैसे उस महात्मा ने उस बाबा को उन कर्मों का गूढ़ अर्थ समझाया, तब अर्थ समझने पर बाबा को आनन्द

प्राप्त हुआ, वैसे ही तू भी वेद के गूढ़—अर्थ को समझ। वेद का गूढ़ अर्थ यह है कि— कर्म के करने से कर्म का नाश होता है'—इस वास्ते कर्म का कथन वेद में किया है 'किसी क्रिया अन्य कर्म से आत्मा की प्राप्ति होती है'—ऐसा वेद ने कथन नहीं किया। क्योंकि आत्मा तो नित्यही प्राप्त है, नित्य—प्राप्त वस्तुकी किसी क्रिया से प्राप्ति होती नहीं, जैसे कोई पुरुष कहे कि—'मेरे को आकाश की प्राप्ति किस क्रिया से होगी'? तब सुननेवाला उसे कहता है— 'अरे, मूर्ख! कहीं क्रिया से आकाश की प्राप्ति होती है? आकाश तो नित्य ही प्राप्त है, इसकी प्राप्ति क्या होगी, ऐसी इच्छा करना ही मूर्खता का चिन्ह है''। इस प्रकार का वाक्य सुनके साधारण मनुष्य भी ऐसा कहना करते हैं, तो विद्वान् लोग क्या कहेंगे?

आकाश की किसी क्रिया से प्राप्ति नहीं बनती। आकाश भी चेतन—आत्मा में सुमेरु—पर्वत के तुल्य है, सूक्ष्म से सूक्ष्म सर्व जीवों के अन्दर और बाहर जो व्याप रहा है—ऐसा परिपूर्ण—आत्मा कैसा है? यह सर्व विशेषों से रहित और सदा शुद्ध रूप है; इसमें कुछ भी संदेह की बात नहीं है कि— आत्मा स्वयं आनन्द स्वरूप है'। उसका किसी क्रिया से आनंद की प्राप्ति कहना सर्वथा असंभव है

जैसे—जल में जो लहरें होती हैं वे पूछें कि—'जल किस क्रिया से हम को मिलेगा? और वस्त्र पूछे कि—'सूत का सूत किस क्रिया से मिलेगा' इसी प्रकार भूषण कहे कि—'सोना कहाँ और किस

क्रिया से मिलेगा'। ऐसे प्रश्न पूछने वाले की केवल मूर्खता सिद्ध होती है, तैसे ही तुम कहते हो कि-'किसी क्रिया से आत्मा को सुख की प्राप्ति होगी' सो यह तुम्हारा कहना भी उन लहरों आदि के प्रश्न करने के तुल्य है। वे तो जड पदार्थ हैं, परन्तु-तू बुद्धिमान् मनुष्य होकर ऐसी बात क्यों करता है ?

वास्तव में 'सच्चिदानन्द-स्वरूप' जो तूही है-तो फिर किस क्रिया से सुख की प्राप्ति चाहता है ? तू केवल अपनी भूल से ही दुख को प्राप्त होता है। जैसे कोई बनिया अपने घर को भूल के सारे बाजार मे फिरा और दुख पाया, तैसे ही तू अपने को नहीं जान के नाना प्रकार की क्रिया-जन्य' क्लेशों को प्राप्त हो रहा है, इसी पर तेरे को एक—

(८)

"बनिक, अफीम, घर-विस्मरण न्याय"

सुनाते हैं, सो तू चित्त लगा कर सुन—एक बनिये की दुकान बाजार में थी और उसका घर जरा फासले पर था। एक दिन ऐसा हुवा कि-रात्रि के समय जब कुछ वर्षा हो रही थी तब सर्दी की वजह से उस बनिये ने कुछ अफीम खालिया। वैसी दशा में वह बनिया दुकान से घर को चला। रास्ते में किसी जगह पेशाब करने बैठ गया, तब अफीम के नशे में उसकी आख लग गई। कुछ देर बाद उसकी आख खुली-तो वह अपने मन में

प्राप्त हुआ, वैसे ही तू भी पद के गूढ़-अर्थ को समझ। वेद का गूढ़ अर्थ यह है कि- कर्म के करने से कर्म का नाश होता है'-इस वास्ते कर्म का कथन वेद में किया है 'किसी क्रिया जन्य कर्म से आत्मा की प्राप्ति होती है'-ऐसा वेद ने कथन नहीं किया। क्योंकि आत्मा तो नित्यही प्राप्त है, नित्य-प्राप्त वस्तुकी किसी क्रिया से प्राप्ति होती नहीं, जैसे कोई पुरुष कहे कि- मेरे को आकाश की प्राप्ति किस क्रिया से होगा'? तब सुनने वाला उसे कहता है- 'अरे, मूर्ख! कहीं क्रिया से आकाश की प्राप्ति होती है? आकाश तो नित्य ही प्राप्त है, इसकी प्राप्ति क्या होगी, ऐसी इच्छा करना ही मूर्खता का चिन्ह है"। इस प्रकार का भाव सुनके साधारण मनुष्य भी ऐसा उलहना देते हैं, तो विद्वान् लोग क्या करेंगे?

आकाश की किसी क्रिया से प्राप्ति नहीं बनती। आकाश में चेतन-आत्मा में सुमेरु-पर्वत के तुल्य है, सूक्ष्म से सूक्ष्म सर्व जीवों के अन्दर और बाहर जो व्याप रहा है-ऐसा परिपूर्ण-आत्मा कैसा है? वह सर्व विक्षेपों से रहित और सदा सुख रूप है, इसमें कुछ भी संदेह की बात नहीं है कि- आत्मा स्वयं आनन्द स्वरूप है। उसको किसी क्रिया से आनन्द की प्राप्ति कहना सर्वथा असम्भव है।

जैसे-जल में जो लहरें होती हैं वे पूछें कि-'जल किस क्रिया से हम को मिलेगा'? और वस्त्र पूछे कि-'मेरे को सूत किस क्रिया से मिलेगा' इसी प्रकार मूर्ख कहे कि- सागर कहाँ और किस

की क्रिया से घट की प्राप्ति है और पुरुषों को दन्ड आदिकों के प्रहाररूप–क्रिया करने से सर्प आदिकों का नाश रूप फल की प्राप्ति होती है, इसी प्रकार *पंडाई पुरुष को चलनरूप–क्रिया से ग्राम आदि की प्राप्तिरूप फल होता है, और रसोई करनेवाले को पाक–क्रिया से नाना प्रकार के पदार्थों का विकाररूप फल होता है, और संस्काररूप–क्रिया से मल की निवृत्ति और गुण की प्राप्ति रूप फल होता है।

ऐसे क्रियाजन्य–कर्म से ये फल होते हैं, परन्तु–आत्मा तो इन क्रियाओं में से किसी भी क्रिया का फल नहीं है, क्योंकि–जो आत्मा पूर्व में नहीं हो तो 'उत्पाद्यरूप–क्रिया' से होना सम्भव हो सकता है, परन्तु–आत्मातो 'अज' है, इसी से आत्मा का नाश भी नहीं होता है, क्योंकि जिसका जन्म होता है उसी का नाश होता है, जैसे–घट, पट आदि। यदि, आत्मा किसी एक देश में हो तो गमनरूप–क्रिया से प्राप्त होवे, परन्तु–आत्मा को तो वेद ने 'सर्वव्यापी' कहा है। आत्मा 'सावयव' हो तो 'विकाररूप-क्रिया' का फल होवे, परन्तु–आत्मा को तो श्रुति ने निरवयव' कहा है। ऐसे ही आत्मा में 'मैल' हो तो मैल की 'निवृत्तिरूप–क्रिया' का फल होवे, परन्तु–आत्मा को वेद ने 'निर्मल' कहा है। गुण की 'प्राप्तिरूप–क्रिया' का फल भी तभी हो सकता है; जब

*(१) पत्रवाहक।

विचार करता है कि–'हम घर को चले थे सो घर तो अब तक आया ही नहीं'। वह वहाँ से उठ के भाग चला और भयभीत होगया। फिर अपने घर की ओर उसको नहीं रही। तब जिसका घर आता उसीको अपना घर समझके वह दरवाजे के किवाड़ खोलने लगा। वे घर वाले कहने लगे–'अरे कौन है?' तब वह बनिया वहाँ से भगा। इस ही और भी अनेक गृहों में जा-जा के मारता रहा–आखिर दैवयोग से अपने घर पर आगया। वहाँ सेठानी रास्ता देखती रही थी। तब सेठजी गर्म पानी से पैर धोके रसोई जीमे और पलंग पर विराज गये। फिर हुक्का गुड़गुड़ाने लगे। तब कहते हैं कि– सुख तो अपने ही घर में है क्योंकि–जब तक मैं अपने घर को प्राप्त नहीं हुआ, तब तक दूसरे गृहों में जा २ के अनेक प्रकार के तिरस्कार–भय–दुःख को प्राप्त हुआ। अब अपने गृह में आया तभी मुझको सुख प्राप्त हुआ"।

वैसे ही तू अपने सच्चित् आनन्द–स्वरूप को भूल के किसी क्रिया से सुख की प्राप्ति चाहता है। पर इच्छा अपने स्वरूप के अज्ञान से ही हुई है–सो स्वरूप के ज्ञान से ही दूर होगी। वह स्वरूप कैसा है? 'नित्यही प्राप्त है' ऐसा समझनाही 'नित्य प्राप्त की प्राप्ति है,' और किसी क्रिया से प्राप्त की प्राप्ति किसी ने भी नहीं करी है। और जो किसी क्रिया से प्राप्ति करी है–सो तो, अनात्म–पदार्थ की ही प्राप्ति होती है, जैसे–कुम्हार

की क्रिया से घट की प्राप्ति है और पुरुषों को दन्ड आदिकों के प्रहाररूप–क्रिया करने से सर्प आदिकों का नाश रूप फल की प्राप्ति होती है, इसी प्रकार पंडाई* पुरुष को चलनरूप–क्रिया से ग्राम आदि की प्राप्तिरूप फल होता है, और रसोई करनेवाले को पाक–क्रिया से नाना प्रकार के पदार्थों का विकाररूप फल होता है, और संस्काररूप–क्रिया से मल की निवृत्ति और गुण की प्राप्ति रूप फल होता है।

ऐसे क्रियाजन्य–कर्म से ये फल होते हैं, परन्तु–आत्मा तो इन क्रियाओं में से किसी भी क्रिया का फल नहीं है, क्योंकि–जो आत्मा पूर्व में नहीं हो तो 'उत्पाद्यरूप–क्रिया' से होना सम्भव हो सकता है, परन्तु–आत्मातो 'अज' है, इसी से आत्मा का नाश भी नहीं होता है, क्योंकि जिसका जन्म होता है उसी का नाश होता है, जैसे–घट, पट आदि। यदि, आत्मा किसी एक देश में हो तो गमनरूप–क्रिया से प्राप्त होवे, परन्तु–आत्मा को तो वेद ने 'सर्वव्यापी' कहा है। आत्मा 'सावयव' हो तो 'विकाररूप-क्रिया' का फल होवे, परन्तु–आत्मा को तो श्रुति ने 'निरवयव' कहा है। ऐसे ही आत्मा में 'मैल' हो तो मैल की 'निवृत्तिरूप–क्रिया' का फल होवे, परन्तु–आत्मा को वेद ने 'निर्मल' कहा है। गुण की 'प्राप्तिरूप-क्रिया' का फल भी तभी हो सकता है, जब

*(१) पत्रवाहक।

गुणादि-पदार्थ आत्मा से जुदे हों वास्तव में गुणादिक आत्मा में कल्पित होने से आत्मा के स्वरूप ही हैं, जैसे-सुक्ति में जो रजत कल्पित होता है; सो सुक्ति का स्वरूप ही है, इसी से आत्मा को वेद ने 'निर्गुण' कहा है। श्रुति इस प्रकार कहती है —

> एकोदेव सर्वभूतेषु गूढ
> सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ॥
> कर्माध्यक्ष' सर्वभूताधिवास'
> साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥

हे शिष्य ! प्रथम तैने कहा था कि- मैं सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति चाहता हूँ" सो तेरा कहना तभी बन सकता है, जब आत्मा में दुख हो और सुख नहीं हो ! वास्तव में-आत्मा सदा ही सुख-रूप है और सुखादिक आत्मा के गुण और धर्म नहीं है किन्तु-आत्मा के स्वरूप ही हैं। इसी से-किसी भी क्रिया की ज़रूरत नहीं है। इस रीति से पूर्व जो अनेक प्रकार के दृष्टान्त, प्रमाण, युक्ति और न्याय कहे हैं-सो केवल आत्मा को 'सुखरूप और 'स्वयंप्रकाश-रूप' जानने के वास्ते कहे हैं। ऐसा सुखरूप और स्वयं-प्रकाश-आत्मा' तू ही है।

(२)

॥ अथ सत्संग रत्न ॥

(शिष्य पूर्व सुने अर्थ को अपना दृढ़ निश्चय करने के वास्ते

पूछता है.--) 'हे भगवन्! आपने अनेक प्रकार के दृष्टान्त और सिद्धान्त कहके आत्मा को सर्व गुण और धर्मों से रहित, सुख-रूप, कथन किया, इसी से क्रिया का निषेध किया और स्वयम्-प्रकाश होने से सर्व वृत्तियों का भी निषेध किया है।

इस रीति से--आत्मा को 'सुख-रूप' और स्वयंप्रकाश' कथन किया, सो मैंने भली प्रकार से जाना, और आपने कहा कि--'वह आत्मा तू ही है'--इस बात को मैं कैसे निश्चय करूं कि--मैं ही सुख रूप और स्वयंप्रकाश हूँ ? और 'प्राप्त-वस्तु' की प्राप्ति में किसी भी क्रिया को कथन नहीं किया, किन्तु--कहा कि 'उसका ज्ञान होना ही प्राप्ति है'--इस प्रकार जो आपने कहा; उस पर से मैं जानना चाहता हूँ कि-- 'उसका ज्ञात होना कैसे संभव है ? सो आप कृपा करके बताइये'।

श्रीगुरुरुवाच-- 'हे शिष्य! यह बात तो हमने पूर्व भी कही थी कि--जब तू सत्-शास्त्र और सत्संग-रूपी दरवाजा में दाखिल होगा--तब तेरे "अहं ब्रह्मास्मि" ऐसी चोट लगेगी, और वैसी दशा में तू बच्चे की तरह चिल्लावेगा"। यह सुन शिष्य **बोला** "हे भगवन्! मेरी बुद्धि अल्प है, मैं थोड़े में नहीं समझ सकता हूँ। आप विशेष प्रकार से समझाइये--सत्-संग किस को कहते हैं ? सत् शास्त्र कौन से हैं ? सत्-संग का कारण और स्वरूप क्या है ? उसका फल किस प्रकार होता है ? उसकी अवधि क्या

गुणादि-पदार्थ आत्मा से जुदे हों वास्तव में गुणादिक आत्मा में कल्पित होने से आत्मा के स्वरूप ही हैं, जैसे-जुवे में जो रजत कल्पित होता है, सो जुवे का स्वरूप ही है, इसी से आत्मा को वेद मे 'निर्गुण' कहा है। श्रुति इस प्रकार कहती है —

एको देव सर्वभूतेषु गूढ़
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ॥
कर्माध्यक्ष: सर्वभूताधिवास:
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥

हे शिष्य ! प्रथम तैने कहा था कि— मैं सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति चाहता हूँ" सो तेरा कहना तभी बन सकता है, जब आत्मा में दुःख हो और सुख नहीं हो ! वास्तव में-आत्मा सदा ही सुख-रूप है और सुखादिक आत्मा के गुण और धर्म नहीं है किन्तु-आत्मा के स्वरूप ही हैं। इसी से-किसी भी क्रिया की आवश्यकता नहीं है। इस रीति से पूर्व जो अनेक प्रकार के दृष्टान्त, प्रमाण, युक्ति और न्याय कहे हैं-सो केवल आत्मा को 'सुखरूप और 'स्वयंप्रकाश-रूप' जानने के वास्ते कहे हैं। ऐसा सुखरूप और स्वयं-प्रकाश-आत्मा' तू ही है।

(२)

॥ अथ सत्संग रत्न ॥

(शिष्य पूर्व सुन अर्थ को अपना दृढ़ निश्चय करने के वास्ते

अन्धे हाथ लगाय २ के ठाकुरजी का स्पर्श करने लगे। एक का हाथ अंगुली के लगा, दूसरे का पंजे के लगा, तीसरे का पैरों के लगा, चौथे का धड़के लगा, और पाँचवें का सिर के लगा। इस रीति से जिसका जहां २ हाथ लगा था, उसने वैसा ही ठाकुरजी का स्वरूप निश्चय किया, और काणों ने तो जैसा ठाकुरजी का स्वरूप था वैसा ही जान लिया।

जब वे इस प्रकार दर्शन करके मन्दिर से बाहर आये तब आपस में कहने लगे कि-भाई! ठाकुरजी का कैसा स्वरुप था? एक ने तो अंगुली जैसा ही बताया, दूसरे ने पंजे जैसा बताया, तीसरे ने डंडे जैसा बताया, चौथे ने सारंगी जैसा बताया और पाँचवें ने गोले जैसा बताया। वे इस प्रकार आपस में एक दूसरे के विरुद्ध बकने लगे, तब उनके परस्पर विवाद होगया। उस समय छटा जो काणा था उनकी बातें सुन २ के हंसता रहा, क्योंकि-वे पाचों ही वृथा बकते थे।

ऐसे ही ये जो पांच शास्त्र हैं सो अंधों के समान हैं छटा जो वेदान्त है, सो काणे के समान है। क्योंकि-जैसे काणे को ठाकुरजी का यथार्थ ज्ञान था, और वे अंधे किसी एक अङ्ग को ही ठाकुरजी कहते थे। तैसे ही पाचों शास्त्र हैं। कोई तो अन्नमय कोष-जो यह स्थूल शरीर है-उसी को आत्मा कहते हैं, और कोई प्राणमय को कोई मनोमय को कोई विज्ञानमय का और कोई

है ? और जिस शास्त्र को आप सत् कहते हो उसमें सत्पना क्या है ? क्योंकि—'आत्मा से भिन्न कोई भी अनात्म—वस्तु सत् नहीं है'—ऐसा जो आपने कहा था उस पर से ये शंकाएँ उत्पन्न हुई हैं'।

गुरु कहते हैं "हे शिष्य ! यद्यपि आत्मा से भिन्न कोई भी 'अनात्म—वस्तु' सत्य नहीं है, तथापि—सत्यता दो प्रकार की होती है, एक तो 'व्यावहारिक सत्यता' और दूसरी 'पारमार्थिक सत्यता'। पारमार्थिक सत्यता तो वेद में नहीं है, परन्तु—व्यावहारिक सत्यता वेद में है, जैसे—सत्य वचन कहने वाले को सत्यवादी कहते हैं, वैसे ही सत्वस्तु—प्रति पादन करने वाला वेदान्त शास्त्र है, इसस उसको सत्' कहा है, और वेदान्त शास्त्र स भिन्न जो पाँच—'न्याय, वैशेषिक आदिक' शास्त्र हैं सो द्रव्य गुण, प्रमाण प्रमेय आदिक—अनात्म पदार्थों का ही कथन करते हैं इसी से वे 'सत्य' नहीं कहे जाते हैं। जैसे—कोई छे पुरुष किसी मन्दिर में दर्शन करने को गये थे उसमें पाँच तो अंधे थे और एक काणा था, वे नीचे लिखे अनुसार दर्शन करने लगे —

१

"अन्ध, ठाकुर, न्याय"

अन्धों न कहा कि—पुजारी जी ! हमको नेत्र से दिखता नहीं है इसलिये ठाकुरजी का हमारे हाथ से स्पर्श कराइये'। तब पुजारी ने बता दिया कि—'य ठाकुरजी हैं । वे पाँचों

अन्धे हाथ लगाय २ के ठाकुरजी का स्पर्श करने लगे। एक का हाथ अंगुली के लगा, दूसरे का पंजे के लगा, तीसरे का पैरों के लगा, चौथे का धड़के लगा, और पाँचवें का सिर के लगा। इस रीति से जिसका जहां २ हाथ लगा था, उसने वैसा ही ठाकुरजी का स्वरूप निश्चय किया, और काणों ने तो जैसा ठाकुरजी का स्वरूप था वैसा ही जान लिया।

जब वे इस प्रकार दर्शन करके मन्दिर से बाहर आये तब आपस में कहने लगे कि–भाई ! ठाकुरजी का कैसा स्वरुप था ? एक ने तो अंगुली जैसा ही बताया, दूसरे ने पंजे जैसा बताया, तीसरे ने डंडे जैसा बताया, चौथे ने सारंगी जैसा बताया और पाँचवें ने गोले जैसा बताया। वे इस प्रकार आपस में एक दूसरे के विरुद्ध बकने लगे, तब उनके परस्पर विवाद होगया। उस समय छटा जो काणा था उनकी बातें सुन २ के हंसता रहा, क्योंकि–वे पाचों ही वृथा बकते थे।

ऐसे ही ये जो पाच शास्त्र हैं सो अंधो के समान है छटा जो वेदान्त है, सो काणे के समान है। क्योंकि–जैसे काणे को ठाकुरजी का यथार्थ ज्ञान था, और वे अधे किसी एक अङ्ग को ही ठाकुरजी कहते थे। तैसे ही पाचों शास्त्र हैं। कोई तो अन्नमय कोष–जो यह स्थूल शरीर है–उसी को आत्मा कहते हैं, और कोई प्राणमय को कोई मनोमय को कोई विज्ञानमय को और कोई

आनन्दमय कोष को ही आत्मा कहते हैं।

(इस प्रकार तीन शरीर और उनमें जो पंचकोष हैं) वे किसी एक अनात्म-पदार्थ में आत्म-बुद्धि करके नाना प्रकार के विवादों से उन अंधों की तरह क्लेश को ही प्राप्त होते हैं। जैसे-कोणा ठाकुरजी के यथार्थ स्वरुप को जानता है, सो उन अंधों की बात को सुनके हंसता है। वैसे ही अन्नमय आदि कोष को आत्मा मानकर अन्यथा कहते हुवे सुन के हंसी आती है।

और जैसा आत्मा का स्वरुप है वैसा ही 'सत्‌चित्, आनन्द-स्वरुप'से जो शास्त्र कथन करता है;यही उसमें 'सत्‌पना' है। इसी प्रकार जो पुरुष 'सत्-वचन' बोलने वाला होता है; उसकी बात सुनके संशय दूर हो जाता है। वैस ही आत्म-वस्तु में जो कुछ भी संशय था, वह 'वेदान्त-शास्त्र' के बारम्बार श्रवण करने से निवृत्त हो जाता है और जो नित्य-प्राप्त आत्मा है उसकी 'स्मृति' हो जाती है, उसी को 'ज्ञान' कहते हैं, इसी से वेदान्त-शास्त्र को 'सत्' कहा है। परन्तु-उसको 'काणा' भी कहते हैं,क्योंकि केवल वेदान्त के पढ़ने से 'परोक्ष-ज्ञान' होता है परन्तु-जब 'गुरु-मुख' से वेदान्त के अर्थ का श्रवण' होता है-तब दोनों से ही आत्मा का 'अपरोक्ष-ज्ञान' हो सकता है। इस प्रकार "दूसरा-नेत्र गुरु है"। और जो तू यह बात कहे-'गुरु किस को कहते हैं? तो सुन—

॥ दोहा ॥

वेद शास्त्र में कुशल है आतम ब्रह्म स्वरूप ।
आंख तले आने नहीं चहे होय भूप का भूप ॥
एक अखंडित आत्मा, करे यही उपदेश ।
देश काल अरु वस्तु का, जामें नाहीं लेश ॥

अर्थ स्पष्ट है, परन्तु–भाव यह है कि–"वेद शास्त्र के जानने में चतुर हो, और आत्मा को ब्रह्मरूप करके जानने वाला और निस्पृही हो, चाहे कोई राजाओं का भी राजा हो–तो भी उसे नेत्र के नीचे नहीं लावे, जिज्ञासु–जनों को यही उपदेश करे कि–तू चेतन आत्मा एक है, अखंड है और देश, काल, वस्तु के परिच्छेद से रहित है। इस प्रकार जिज्ञासु–पुरुषों की बुद्धि में नाना प्रकार के जो भेद–रूपी पक्षी बैठे हों, उनको ज्ञान-रूपी ताली बजा कर के तत्काल उड़ा देवे और सत्मार्ग में चलावे सो "सद्गुरु" कहलाता है।

ऐसे सत्-पुरुषों का संग और 'सत्-शास्त्र का विचार' जो नित्य प्रति करते हैं उनके कल्याण होने में क्या संशय है? वे तो सदा ही कल्याण रूप हैं, आप स्वत संसार–समुद्र से तरते हैं और दूसरों को भी तार देते हैं। जैसे नौका आप तरती है और अन्य को तार देती है।ऐसे "सत्शास्त्र के, विचार, और ऐसे महा-पुरुषों के संग ही का नाम सतसङ्ग है"। सत्संग के कारण

जातिक के संबंध में जो प्रश्न किया है, उसका उत्तर तू अब श्रवण कर—

जब मनुष्य को किसी पूर्व-जन्म के शुभ-कर्म भोग देने के अर्थ सन्मुख होते हैं, तब उसके अन्तःकरण में 'शुभ-वासना' उत्पन्न होती हैं। उस वासना के अनुसार जो 'पुरुषार्थ' किया जाता है वही पुरुषार्थ 'सत्संग का कारण' होता है, और सत् शास्त्र और सत्पुरुषों के वचनों में चित्त की स्थिति होना 'सत्संग का स्वरूप' है, ('तत्कथनं त चकथनं तत्परस्पर-बोधनम्" अर्थात्—बारम्बार उसी सत्-वस्तु का कथन करना, उसी का चिन्तन करना और उसी को परस्पर विचार करके अधिकाधिक जानना यही 'सत्संग का स्वरूप' है)। निष्काम-कर्म से लेकर मोक्ष पर्यंत को 'साधन-साध्य-पदार्थ' प्राप्त होते हैं, सो 'सत्संग का फल' है। और 'सत्संग की अवधि' तो कुछ है नहीं, परन्तु जबतक कण्ठ में प्राण रहें, वहाँ तक; अथवा-'विदेह मोक्ष' पर्यन्त सत्संग अवश्य ही करना चाहिये, फिर आपही अवधि हो जायेगी यही उसकी अवधि है।

जब इस प्रकार कारण को स्वरूप को और उसके फल तथा अवधि को जानकर नियमपति सत्संग करेगा; तब दीर्घ काल के अभ्यास से उस 'सत्-वस्तु' का ज्ञान तेरे को होगा। क्योंकि-सत्-पुरुषों में और सत्शास्त्र में यही कल्पना है कि-अपने

सहित जितना स्थूल और सूक्ष्म पसारा है उसको मिथ्या करके जनाते हैं, और जो चेतन–आत्मा है, उसे सत्रूप करके कथन करते हैं, यह सत्यवादीपना उनमें होने से ही वे 'सत्' कहे जाते हैं।

'सत्शास्त्र' के अतिरिक्त अन्यग्रन्थ जो–वस्तु का यथार्थ कथन नहीं करते हैं, सो सभी 'असत्' कहे जाते हैं। तैसे ही जो सत् का उपदेश करने वाला गुरु है, उससे भिन्न जो कण्ठी माला के बाँधने वाले, और कान में फूक मारने तथा मंत्र यंत्र के सुनाने वाले और चोटी काट के गेरुए कपड़े रंगने आदि नाना प्रकार के चिन्हों वाले हैं –सो सब "असत् गुरु" कहे जाते हैं। उनका संग करने से जीव इस संसार–समुद्र में तिर नहीं सकते, क्योंकि–काठ के संग में लोहा तिर जाता है, परन्तु–लोहे के संग लोहा नहीं तिरता। इसी प्रकार से वे तो आपही काम, क्रोध, लोभ, मोह–रूप लोहे समान भार को प्राप्त हो रहे हैं, दूसरे को कैसे तिरावेंगे? इससे जो पुरुष ऐसे गुरु का संग करेगा सो–

(२)

"कुत्ता कान पकड़क थूक न्याय"

को कैसे? प्राप्त होगा सो दिखाते हैं–एक गृहस्थी ऐसा था कि–अपने हाथोंसे कुछ काम उसने नहीं किया, और उसके भाई

पिता आदि जो कमाई करके उसका पालन पोषण करते थे सो दैवयोग से हैजे की बीमारी करन स सारे मर गये। तब उस पुरुष न अपने मन में विचार किया कि–'कमाइ तो हाथ नहीं, और खाने को दोनों वक्त चाहिये, इसलिये कोई ऐसा हुनर-धंधा करना चाहिये कि–जिससे तकलीफ नहीं होवे, और खाने पीने का काम चल जाय'।

उसने सब कामों को अपने मन में विचारा तो सभी में उसको तकलीफ दिखाई दी परन्तु–'माँगना' उसको सुगम मालूम हुआ। तब बाबा का स्वांग बना कर नजदीक के ग्रामों में जा के माँग खाने लगा। फिर लोगों में जान पहिचान भी हो गई तब तो गंडा गोली भी करने लगा और चेली चेला भी बहुत स हो गये। कुछ चेले कहन लगे कि–महाराज! आप काहे को तकलीफ उठाते हो? यहाँ एक बहुत अच्छा मकान बनवा दिया और महाराज उस में रहने लगे। फिर और भी चेले बहुत स होगये और खूब ही आनन्द के तार बाजने लगे। कोई तो पुत्र की इच्छा करके उनकी सेवा करे और कोई धन की कामना करके सेवा करे इस प्रकार जब गाडा गुड़कने लगा–तब उन चेलों में कोई पुरुष परमार्थ के भी जिज्ञासु थे उन्होंने महाराज से पूछा कि– हे भगवन्! इस दुःख-रूप संसार स यह जीव किस प्रकार छूट हो सकता है? यह बात आप कृपा करके हमारे को

बताइये"। तब वे कहने लगे कि-"भाई! अभी तो तुम्हारी जवान उमर है, बच्चे बच्चियों का विवाह करो, फिर तुमको बता देंगे, अभी क्या जल्दी है"। तब उन चेलों ने काल पाके फिर पूछा कि-' महाराज! अब तो कुछ बताओ, उमर तो बीती जाती है"। तब बाबा ने कहा-"अरे! तुम ऐसी जल्दी काहे को करते हो? बेटों के बहू आनेदो और पोते पोती होने दो।" इस प्रकार वो लपोड़शंख वाली बातें करता रहा। अन्त में दैवयोग से उस बाबा का शरीर शान्त होगया, तब कुत्ते की योनि को प्राप्त हुआ। उसके जिज्ञासु चेलों को गुरु से मिलने की कामना थी, वे भी मरके कुत्ते ही हुवे, गुरु जी तो पहिले ही से हाड़ चाबते फिरते थे। वे चेले गुरुजी को मिलकर कहने लगे कि-"महाराज! आप और हम कौन गति को प्राप्त हुवे हैं? अब तो कुछ बताओ।" तब वह कान हिलाके कहता है-"अरे! मैंने तो खाने पीने के लिये स्वाँग बनाया था और मैं कुछ भी नहीं जानता था"। तब वे चेले कहने लगे कि-"धिक्कार हो तेरे को, क्योंकि-तू आप भी डूबा और हमें भी डुबाया"। इसी पर कहते हैं—

॥ दोहा ॥

झूठे गुरु के आसरे, डूबि गये बहु जीव।
सच्चा सत् गुरु सेइये, जासे पावे पीव॥
झूठे गुरुवा मरि गये, हो गये भूत मसान।
सच्चे गुरु से पाइये, सत् वस्तु का ज्ञान॥

जब इस प्रकार 'सत्-गुरु' और 'सत्-शास्त्र' का विचार और महा-पुरुषों का संग प्राप्त करता है, तभी यह जीव कल्याण का भागी होता है ।

॥ चौपाई ॥

जो तिरि गये तिरगे जेते ।
अब तिरते हैं कहु अरु केते ।
सो सब साधु-संगति से जानो ।
दूजा और उपाय न मानो ॥

इस में बहुत लिखने की जरूरत नहीं है, जिस किसी के घट की बुद्धि होती है वह थोड़े ही में समझ लेता है और उस के समझने के लिये एक-कुंडलिया, लिखते हैं—

सत-संगति महिमा कही, कीजे यही प्रसाद ।
हम कथा तुम सुन्या, इसको रखना याद ॥
इसको रखना याद, वाद काहु से न कीजे ।
जो कोइ साधू मिले, संग वाही का कीजे ॥
लोभी कपट लालची, इनसे रहना दूर ।
सुखानन्द निज रूप लखि सदा एक भरपूर ॥

हे शिष्य ! तेरे को 'कर्ता-बुद्धि' है इसी से तुझे आत्मा में कर्तव्य भ्रान्ति हो रही है । अब तू और सर्व क्रिया का त्याग

करके एक 'सत्-संग' को ही करेगा, तो उस से तेरी कर्तापने की भ्रान्ति मिट जायगी, और आत्मा को ब्रह्मरूप करके अपने आप ही जानेगा कि–वह कर्ता, क्रिया, कर्म से रहित है ।

॥ इति श्रीसत्संग–रत्न, समाप्तम् ॥

(३)

॥ अथ निष्काम रत्न ॥

कर्म कहे हैं वेद में, सुन तिनका विस्तार ।
एक निषेध दूजा विधी, सो कहिये चार प्रकार ॥
काम्य प्राश्चित नित निमित,करो काम का त्याग ।
नित्त निमित्तक कीजिये, फल का तजि के राग ॥

अर्थ यह है कि–वेद में जो कर्म का कथन किया है उसका विस्तार यह है–एक तो 'निषिद्ध–कर्म' कहाता है जिसको कभी नहीं करना चाहिये, क्योंकि–वह वेद विरुद्ध है। यदि कोई ऐसा पूछे कि–"निषिद्ध कर्म–कौन से हैं ?' तो सुन––

पर स्त्री गमन करना, जुवाँ खेलना, मदिरा–माँस खाना, वेश्या का सग करना, झूठ बोलना, कमती तोलना, इत्यादि सब निषिद्ध ही हैं । इससे ये कर्म कदापि नहीं करना चाहिये ।

दूसरे 'विधि–कर्म' हैं सो चार प्रकार के हैं (१) काम्य (२) प्रायश्चित, (३) नित्य और (४) नैमित्तिक। जिज्ञासु–

पुरुष 'काम्य–कर्म' और 'निषिद्ध' का त्याग करके, 'नित्य' और 'नैमित्तिक–कर्म' का फल की इच्छा से रहित होकर करे. तब उसे ऐसे कर्म से नित्य–सुख' को प्राप्ति होती है और जो फल की इच्छा रख कर करता है, उस अनित्य ही फल मिलता है इसी पर तेरे को एक–

'राज मन्दिर मजदूर न्याय'

सुनाते हैं, सो अपने मन को सावधान करके सुन–किसी राजा का एक मकान बनता था उसमें बहुत से मजदूर लग हुए थ। उन मजदूरों में एक ऐसा मजदूर था जो काम तो कर द और मजदूरी चुकाते समय नहीं ल, फिर जब गिनती होवे तब एक मनुष्य ज्यादा निकले और जब मजदूरी चुकाव तब कमती होव। इस प्रकार एक मजदूर की मजदूरी बच जाती थी। जो मजदूरी चुकाने वाला कामदार था सो कहने लगा–'अरे मजदूरो! यह एक मनुष्य की मजदूरी बच जाती है और गिनती पूरी होती है, वह कौन मजदूर है जो मजदूरी नहीं लेता है?' तब फिर जिन मजदूरों क पास में वह रहता था वे कहने लगे कि–हुजूर! वो यह है'। तब कामदार बोला–'अरे! तुम मजदूरी क्यों नहीं लेते'? तब वह कहन लगा कि–'काम तो हमारा ही है; मजदूरी किस स लवें? क्योंकि–राजा तो सारी प्रजा का पिता है और प्रजा पुत्र क समान होती है, फिर पुत्र पिता स क्या मजदूरी लेव?"

ऐसी बातें उस मजदूर की सुन के कामदार ने वह हकीकत राजा की कचहरी मे जाकर कही, और आखिर जब ये सब राजा के कान तक पहुँची तो राजा ने कहा—'उस मजदूर को हमारे पास लाओ'। इस पर से कामदार मजूर को राजा के पास ले गया। तब राजा ने पूछा—'अरे! तुम मजदूरी क्यों नहीं लेते ?' उसने जैसा कामदार से कहा था वैसा ही राजा को भी उत्तर दिया। उसकी बात सुन के राजा बड़ा प्रसन्न हुवा, और बोला कि—'तुम हमारे पास रहा करो'। उसने कहा—'हुजूर! बहुत अच्छा' फिर राजा के पास रहने लगा। उसका सच्चा व्यवहार और निष्कामता देख के कुछ काल पा कर, ज्यादे क्या कहें—उसको ही राजा बना दिया और राजा खुद ठाकुरजी के भजन करने के वास्ते वन को चला गया। यह दृष्टान्त है।

दार्ष्टान्त—यह है कि—'राजा' की नाईं तो 'ईश्वर' है और 'मजदूर' की नाईं यह 'जीव' है। जिसके अनेक प्रकार के 'शुभ-कर्म' का फल ही 'मजदूरी' है, ऐसे फल की कामना का त्याग ही 'निष्कामता' है। जैसे राजा ने उस मजदूर को अपने पास ही रख लिया था, तैसे ही ईश्वर 'निष्काम-कर्म' करने वाले 'भक्त' के वश होकर (वह) आपही उसके पास रहता है, और जिस प्रकार राजा ने सब राज दे दिया था, तैसे ही वह 'निष्कामी-भक्त' अपने आपको ईश्वर के अर्पण कर देता है।

इस प्रकार 'निष्काम-कर्म' का महात्म 'नित्य-सुख'-रूपी फल है, जो सर्व पापों का नाश करने वाला है''।

यह बात सुन शिष्य प्रश्न करता है–हे भगवन्! आप कहते हैं कि–'निष्काम-कर्म सर्व पापों को नाश करता है' सो यह कहना आपका बनता नहीं। क्योंकि–जो ज्ञानवान् हैं, वे दुःख भोगते हुवे देखने में आते हैं,और ज्ञान से पूर्व उन्होंने निष्काम-कर्म किये, तो फिर उनको दुःख नहीं होना चाहिये? ऐसी शंका होने पर?

गुरु कहते हैं कि–''निष्काम-कर्म करने से पापों की सर्वथा निवृत्ति नहीं होती है। जैसे बीज से दो अंकुर निकलते हैं, एक तो नीचे को जाता है और दूसरा ऊपर को आता है। नीचे के अंकुर में पुरुषार्थ नहीं चलता है, ऊपर के ही में पुरुषार्थ चलता है, तैसे ही–कर्मरूपी–बीज से भी दो अंकुर निकलते हैं, एक–तो 'वासना' और दूसरा–'प्रारब्ध'। प्रारब्ध से सुख-दुःख का जो भोग होता है सो दूर नहीं हो सकता, परन्तु–वासना रूपी अंकुर ऊपर के अंकुर की नाईं फिर आता है, और सर्वथा नाश तो उसका भी नहीं होता है, परन्तु–विरोधी 'शुभ-वासना' से 'अशुभ-वासना' जो जन्मान्तर के मलिन-कर्म से होती है; सो पलट के 'शुभ' हो जाती है। ऐसा अवसर प्राप्त होने पर विवेक, वैराग्य उत्पन्न हो के 'श्रवण' में प्रवृत्ति हो जाती है, श्रवण से 'ज्ञान होकर सर्व 'सञ्चित' तथा 'आगामी' कर्मों का नाश हो जाता है। और

'प्रारब्ध-कर्म' का भोगने से नाश होता है। इस रीति से सर्व कर्मों का नाश 'निष्काम-कर्मों' से कहा है—सो 'वासना के पलट जाने द्वारा ही संभव है', साक्षात् 'निष्काम-कर्म' से सर्व कर्मों का नाश नहीं होता है। इसी से ज्ञानवान् को भी सुख-दुख होते हैं"। इस बात को भली भांति समझ कर **शिष्य पूछता है—**

"भगवन्! आपने जो यह 'निष्काम-कर्म-रत्न' कहा है, सो इस में 'रत्नपना' क्या है? और 'निष्कामता' क्या है? और इसका 'कारण?' तथा 'स्वरूप' क्या है? और 'फल' तथा 'अवधि' क्या है? यह सब आप हमारे को समझाय के कहिये"।

गुरू कहते हैं—"हे शिष्य! श्रुति, स्मृति आदि में अनेक प्रकार के कर्मों का कथन किया है, सो सब कर्मों का सार खींच के महात्मा पुरुषों ने 'निष्काम-कर्म' के रूप में जिज्ञासु-पुरुषों के वास्ते रक्खा है, यही उसमें 'रत्नपना' है, और इस लोक तथा परलोक के पदार्थों की कामना इसमें नहीं है, यही इस मे 'निष्कामपना' है। शास्त्रों में सकाम-कर्म के फल को 'अनित्य' कहा है, और निष्काम-कर्म के फल को 'नित्य' कहा है, जैसे गीता में भगवान् कहते हैं—

॥ श्लोक ॥

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति, प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य, त्रायते महतो भयात्॥

इस प्रकार 'इस शास्त्र का बारंबार श्रवण करना' ही निष्काम-कर्म का 'कारण' है। और किसी भी लौकिक, वैदिक आदि पदार्थों की कामना नहीं, किन्तु-'केवल अपने कल्याण की कामना' ही उसका 'स्वरूप' है। और 'अशुभ-वासना की निवृत्ति' होना उसका 'फल' है। अशुभ-वासना निवृत्त नहीं हो; तबतक निष्काम-कर्म करे, और जब अशुभ-वासना अपने अंतःकरण में नहीं रहे-तब नहीं करे, यही उसकी 'अवधि' है। फिर 'मल' दोष निवृत्त हो जाता है, इसी मल दोष को 'अशुभ-वासना' कहते हैं सो 'निष्काम-कर्म' से दूर होती है।

भगवान् ने सब कर्मों से 'निष्काम-कर्म' ही को श्रेष्ठ कहा है, और उसके करने वाला जो पुरुष है उसको सर्व तपस्वी, ज्ञानी, कर्मी स भी श्रेष्ठ कहा है। चांद्रायण कृच्छ्र आदिक उपासना करने वाले को 'तपस्वी' और शास्त्र के पद पदार्थों के जानने वाले को 'ज्ञानी' और सकाम कर्म करने वाले को 'कर्मी' कहते हैं। इन से 'अपरोक्ष-आत्मज्ञानी' ऊंचा है। इस प्रकार निष्काम कर्म करने वाले को भगवान् ने सब से ऊंचा कहा है।

॥ इति श्री निष्काम कर्म रत्न समाप्तम् ॥

—०—

(४)

॥ अथ भक्ति रत्न ॥

॥ दोहा ॥

भक्ति नाम यक कहत है, तिसके सुन अब भेद ।
नौधा, प्रेमा, अरु परा, यों कहत शास्त्र अरु वेद ॥

वास्तव में (१) नौधा, (२) प्रेमा, (३) परा भेद से भक्ति तीन प्रकार की होती है। इस प्रकार शास्त्र में भक्ति के तीन भेद कहे है।

॥ दोहा ॥

नौधा नौ प्रकार से, ईश्वर में चित लाय ।
याही से भक्ति कहं, भय सब गत होजाय ॥

अर्थ—नौधा कहिये 'नौ प्रकार से ईश्वर में अपना मन लगाने से नाना प्रकार के जो जगत् के भय हैं— सो सारे दूर हो जाते हैं, इसी से इसे नौधा भक्ति कहते हैं।

शिष्य पूछता है—'हे भगवन्, वह नौ प्रकार कौन से हैं? जिनसे ईश्वर में मन लगे, सो आप कृपा करके बतलाइये'।

गुरु कहते हैं—'हे शिष्य! जिस कथा में परमेश्वर का कथन होता हो उसको चित्त लगा कर श्रवण करना, इसको 'श्रवण-भक्ति' कहते है ॥ १ ॥ ईश्वर के जिन विशेषणों को श्रवण किया

हो उन विशेषणों का भिन्न भिन्न कथन करना कि-ईश्वर कैसा है ? सत्यकाम है, सत्य संकल्प है, दयालु है, अन्तर्यामी है, एक है चैतन्य है, परमानन्द स्वरूप है, व्यापक है, अजन्मा है, अविनाशी है, और ऐसा चिद्घन वह है कि—जिसका नाश कभी नहीं होता है, इसको 'कीर्तन' कहते हैं ॥ २ ॥ जो ईश्वर के विशेषण पूर्व कथन किये हैं उनको बारम्बार याद करना ही उसको 'नामस्मरण' भक्ति है ॥ ३ ॥ जो पादसेवन रूपी भक्ति कही है सो प्रत्यक्ष में तो ईश्वर के पादों का सेवन बनता नहीं क्योंकि—ईश्वर में परोक्षता धर्म है परन्तु—'चल' और 'अचल' ये दो प्रकार के परमेश्वर के स्वरूप कहे हैं, इस में महात्मा तो 'चलरूप परमेश्वर का रूप है,' और 'मूर्ति आदिक अचलरूप हैं' इनके पैरों का पूजन करना ही परमेश्वर की 'पाद-सेवन' भक्ति कही जाती है ॥ ४ ॥ दो प्रकार का परमेश्वर का स्वरूप कहा है उन दोनों का श्रद्धा पूर्वक नाना प्रकार के धूप, दीप, पुष्पमाला चन्दनादिका जो लेपन करते हैं—उसी को 'अर्चन' भक्ति कहते हैं ॥ ५ ॥—'उनके चरणों में प्रेम पूर्वक श्रद्धा भक्ति से नमस्कार करने' का 'वन्दना' भक्ति कहते हैं ॥ ६ ॥ परमेश्वर में इस प्रकार 'दास-भाव' होना कि—"परमेश्वर ही मेरे कर्म के फल को देने वाला है, और मैं उसका दास हूँ" इसी को "दास-भाव" भक्ति कहते हैं ॥ ७ ॥ जैसे ग्वालों ने अपना सखा रूप जान के परमेश्वर को भजा था; उसी प्रकार 'परमेश्वर को अपना

सखा रूप जान के हर वक्त याद रखने' ही को 'सखाभाव' भक्ति कहते हैं ॥ ८ ॥ और 'निज के शरीर से आदि लेकर स्त्री, पुत्र, धन, इत्यादि को अपने नहीं जाने, किन्तु—इन सब को परमेश्वर के ही जाने' इसको "आत्मनिवेदन" भक्ति कहते हैं ॥ ९ ॥

इस प्रकार नौधा भक्ति का विवेचन है। अब प्रेमा भक्ति के सम्बन्ध में कहते हैं—

॥ दोहा ॥

प्रेमा प्रीति हरि से बढ़ी, और न कछू सुहाय।
भक्ती भाग्या जगत से, मन दर्शन में जाय॥
जहां प्रेम तहं नेम नहिं, तहां न विधि व्यवहार।
प्रेम मगन जब मन भये, कौन गिने तिथि वार॥

अर्थ—यह है कि जिस काल में नवधा-भक्ति के दृढ़ अभ्यास होने से फिर 'प्रेमा-भक्ति' होती है तब सब पदार्थों से प्रीति छूट कर एक परमेश्वर में ही प्रेम होजाता है इसी से प्रेमा-भक्ति कहते हैं। भक्ति यों कहा है कि-मन जगत् की तरफ से तो भगता है और परमेश्वर की ओर जाता है। जैसे विषयाशक्त पुरुष का मन परमेश्वर में लगाने से भी नहीं लगता है, और विषय भोगों की तरफ स्वत ही चला जाता है तैसे ही 'प्रेमी-भक्त' का मन परमेश्वर की ओर तो स्वत हो जाता है, और संसार के विषय भोगों में लगाने से भी नहीं लगता है। जल जैसे नीचे की ओर

जाके ठहरता है, तैसे ही भक्त का मन एक परमात्मा में ही जाकर ठहरता है, क्योंकि-उस के अन्तःकरण से जो वृत्ति उठती है, सो परमेश्वर-आकारवी होती है और जो कुछ देखता है, सो सब परमेश्वर का स्वरूपही उसको भासता है।

॥ शेर ॥

नगर में बाग में बन में, कुछ आलम निहारा है।
जिधर देखूं उधर प्यारे, सभी जलवा तुम्हारा है॥

इसी पर शेरे को एक—

'लैली मजनूँ न्याय'

सुनाते हैं, सो यह है कि-दिल्ली के किसी बादशाह का लैला नाम की एक लड़की थी, और लाहोर के बादशाह का मजनू नाम का एक लड़का था। जब लैली ने मजनू की तसवीर देखी और मजनू ने लैली की तसवीर देखी, तब परस्पर उनका स्नेह बढ़ गया। दिल्ली के बादशाह ने लैली के निकाह की तयारी की, तब लैली ने कहा कि— मैं तो मजनूं से निकाह करूंगी, और किसी के साथ नहीं करूंगी।" बादशाह ने हुकम दिया कि देश दर्वाजों में ढंढोर करवाओ कि-अमुक रोज लैली का निकाह होगा। जो कोई मजनूं हो। सो आव। तब देश-दर्वाजों में ढंढोरा फिर गया बहुत से मजनूं बन २ कर आगए, और वह सच्चा मजनूं भी आया।

बादशाह ने सारे दिल्ली शहर मे यह ढिंढोरा फिरवा दिया कि-'जिसकी दूकान से मजनूं जो कुछ भी ले, सो दे देना दाम सरकार से मिल जावेंगे'। तब देश देशातरो से जो अनेक मजनूं बन २ के आये थे, सो दूकान दूकान से अनेक प्रकार की चीजें लेते रहे और खूब माल उड़ाने लगे। वह जो सच्चा मजनू था, सो तो दिल्ली से तीन मील दूर जमुना किनारे पर रहता था। जब निकाह का दिन आगया, तब सारे शहर में खबर करवादी कि–"आज लैली का निकाह होगा, जो कोई मजनू हो सो आवे"। और जो निकाह का मकान मुकर्रर किया था, उसमे लैली को सामने बिठादिया और बीच में लोहे की तवी गर्म करवादी, मजनूं आने लगे, और तपती हुई तवी को देख के उलटे फिरने लगे। जो उलटे फिर कर चले उनको पींजरा पौल में रोक दिये, वहा वे बनावटी मजनूं चक्की फेरने लगे।

अन्त में जो सच्चा मजनूं था सो भी अ या, और उसने लैली को देखा, तब उसकी वृत्ति लैली में ही लग गई, और जो वह तवी गरम होरही थी उस की तरफ उसने देखा ही नहीं। क्योंकि–उसकी वृत्ति तो लैली में ही लग गई थी, लैली के सिवाय उसको दूसरा कुछ भी नहीं दीखता था।

उस सच्चे मजनू से लैली का निकाह हुआ और झूठे मजनू चक्की फेर २ के दाना दलते रहे। यह तो दृष्टान्त है दार्ष्टान्त–

यह है कि–बादशाह की नाईं परमेश्वर है, और लैली की नाईं भक्ति है, और मजनूं की नाईं प्रेमा–भक्त है। जैसे–सच्चे मजनूं को लैली मिली है, वैसे ही–सच्चे प्रेमी–भक्त ही को लैला रूपी भक्ति प्राप्त होती है और जैसे झूठे मजनूं चक्की पीसते थे, वैसे ही सकामी झूठे भक्त जन्म–मरण रूपी चक्की के फेर से नहीं छूटते। इस संसार रूपी कैदखाने में ही पड़े रहते हैं। इसी प्रकार जो निष्काम–प्रेम भक्ति' को करते हैं सो ही इस जन्म–मरण से छूटते हैं, इसी का नाम प्रेमा भक्ति है। अब परा भक्ति को दिखाते हैं–

महतः परमव्यक्त मव्यक्तात्पुरुष परः ।
पुरुषान्नपर किंचित्सकाष्ठा स परागतिः ॥

॥ दोहा ॥

परा न पारावार है, व्यापक एक स्वरूप ।
भक्ती ही से पाइये ऐसा भूप अनूप ॥

अर्थ यह है कि–जिस से पर कोई पदार्थ नहीं है, साक्षी सर्व पदार्थों की अवधि रूप है, और सर्व से सूक्ष्म है, (यह परा शब्द का अर्थ है) ऐसा व्यापक, उपमा रहित, एक स्वरूप, भक्ति से ही प्राप्त होता है यही परा भक्ति का तात्पर्य है। सो ऐसा व्यापक उपमा से रहित, एक रूप एक ब्रह्म ही कहा जाता है।

श्रुतिः-इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था, अर्थेभ्यश्च परं मनः ।

मनसस्तुपराबुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः ॥

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः ।

पुरुषान्न परः कश्चित् सः काष्ठासः परागतिः ॥

अर्थ यह है (अर्था.) कहिये-शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध ये जो विषय है सो (पराः) कहिये-इंद्रियों से सूक्ष्म और यापक हैं, और इन विषयों से मन सूक्ष्म और व्यापक है, और न से बुद्धि सूक्ष्म और व्यापक है, और व्यष्टि-बुद्धि से समष्टि-द्धि रूप जो महान् आत्मा हिरण्यगर्भ है, उसको समष्टि-बुद्धि क्ष्म और व्यापक है, और समष्टि-बुद्धि से माया सूक्ष्म और यापक है, और अव्यक्त माया से पर कहिये सूक्ष्म और व्यापक ह्म आत्मा है, ब्रह्म आत्मा से पर कहिये सूक्ष्म ओर कोई नहीं है, सलिये परा गति कहिये ब्रह्म-आत्मा सर्व की अवधि कहिये सीमाँ प्रथवा हद है । इस प्रकार आत्मा को सर्व से सूक्ष्म और व्यापक-रूप करके जानना ही 'पराभक्ति' का स्वरूप है। वास्तव में 'परा-भक्ति' और 'परोक्ष-ज्ञान' में कुछ भी भेद नहीं है ।"

शिष्य कहता है-"हे गुरो ? यह जो आपने तीन प्रकार की भक्ति कही है,इसका कारण कौन है? और इसका स्वरूप और फल क्या है ? और उसकी अवधि किस प्रकार है ? क्योंकि-किसी

भी कार्य का कारण, स्वरूप, फल तथा-अवधि ज्ञान बिना उस कार्य में यथार्थ प्रवृत्ति होती नहीं है।"

गुरु कहते हैं-"हे शिष्य ! पूर्व जन्मों में जो निष्काम-कर्म किये हैं, उन कर्मों के संस्कार और इस जन्म के पुरुषार्थ से जो महापुरुषों का संग किया है, ये तीनों ही 'भक्ति' के कारण हैं, और पूर्व जो तीन प्रकार की भक्ति कथन की है; और तीनों के जुदे २ लक्षण कहे हैं, सोही भक्ति का स्वरूप है, विक्षेप दोष की निवृत्ति उसका फल है, जब तक सत् असत् वस्तु का दृढ़ निश्चय नहीं हो; तब तक भक्ति करे और जब दृढ़ निश्चय होजावे तब नहीं करे यही भक्ति की अवधि है। फिर सत् असत् वस्तु का विचार ही किया करे" ॥ इति श्रीभक्तिरत्न समाप्त ॥

— o —

[५]

॥ अथ विवेक रत्न ॥

इसी में विचार संबंधी कुछ विवेचन भी किया जावेगा।

जाग्रत अवस्था में 'स्थूल-शरीर' से नाना प्रकार के स्थूल-पदार्थों का भोग रूपी व्यवहार होता है, ऐसे 'व्यवहार' और स्थूल-शरीर की और उसकी 'जाग्रत्-अवस्था' को जाननेवाला मैं इन सर्व से जुदा हूं। इसी प्रकार "स्वप्न अवस्था में जो १७ तत्व का

'सूक्ष्म-शरीर' है और उस मे नाना प्रकार के जो 'सूक्ष्म-भोग्य पदार्थ' हैं उनको और 'सूक्ष्म-शरीर' को और उनकी 'स्वप्न-अवस्था' को जाननेवाला मैं उन से जुदा ही हू" । तैसे ही "सुपुप्ति अवस्था में जो कारण-शरीर है, और उस मे जो 'सुख का भोग' और 'सुपुप्ति-अवस्था' है, इन सर्व का जाननेवाला मैं तो वहा भी सब से जुदाही हूँ।" इस प्रकार इन तीन शरीर के विवेक से ही पचकोषों का विवेक होजाता है ।

तीन शरोर और पचकोष से आत्मा को पृथक् जनने का नाम यथार्थ विचार है । इस प्रकार के विचार से ही नित्य-अनित्य पदार्थ जाना जाता है, क्योकि-ये तीन शरीर तो व्यभिचारी हैं । वास्तवमें-इस स्थूल देह की प्रतीति स्वप्न में नहीं होती है, और स्वप्न-पदार्थों का जाननेवाला मैं वहां भी हू । सूक्ष्मशरीर सुषुप्ति में नहीं रहता है, और सर्व के अनुभव करनेवाला मैं तो वहाँ भी हू । सुपुप्ति का कारण शरीर है, जो-जाग्रत, स्वप्न में नहीं रहता है और सूक्ष्म-स्थूलपदार्थो का जाननेवाला मैं वहाँ भी हू । इस प्रकार के विचार से ही 'तीन-शरीर' और उन में जो पचकोष' और 'तीन अवस्था' हैं ये सब व्यभिचारी और 'अनित्य' हैं और आत्मा अनुगत होने से 'नित्य' कहलाता है । अत -"आत्मा की नित्यता और अनात्मा की अनित्यता का जो दृढ निश्चय है, उसी को विवेक कहते हैं ।"

शिष्य प्रश्न करता है—"हे भगवन्! यह तो सभी जानते हैं कि-शरीर आदि अनित्य हैं, और आत्मा नित्य है, ऐसे विवेक ही से वैराग्यादि उत्पन्न होते हैं। परन्तु—ऐसा विवेक तो कर्मी पुरुषों को भी होता है, क्योंकि—शरीर से भिन्न आत्मा का ज्ञान, कर्म का हेतु है। यदि—शरीररूपही आत्मा को मानें तो शरीर जब यहीं भस्म हो जावेगा फिर कर्म के फल को कौन भोगेगा? इससे भोगने वाले को जुदाही मानते हैं, फिर उनको वैराग्य होना चाहिये, सर्व कर्मों से रहित होना चाहिये, परन्तु—इस प्रकार होते तो नहीं हैं, कर्मों को ही करते देखने में आते हैं, सो इसमें कारण क्या है? आप कृपा करके कहिये"।

गुरु कहते हैं—"हे शिष्य! यद्यपि, कर्मी को देह से भिन्न और नित्य रूप करके आत्मा का ज्ञान है भी परन्तु—अकर्ता रूप से आत्मा का ज्ञान कर्मी को नहीं है। इसी से वैराग्य आदि उत्तम साधन नहीं होते हैं। और जो तुमने कहा था कि—'ऐसा सभी जानते हैं कि—आत्मा नित्य है, और शरीर आदि अनित्य हैं।' सो तो तेरा कहना दुरुस्त है; परन्तु—उसके निश्चय में भेद है। क्योंकि—विवेकी पुरुष को तो अन्वय व्यतिरेक युक्तियों के सम्बन्ध में विचार पूर्वक दृढ़ निश्चय है, और अविवेकी का विवेक 'श्मशान-वैराग्य' की नाईं होता है, इसी कारण अविवेकी की शरीर आदि में आत्मा बुद्धि होती है। और विवेकी को दृढ़ निश्चय होने से

शरीर आदि में आत्मबुद्धि नहीं होती है, इसी से विवेकी को वैराग्यादि उत्पन्न होते हैं, और अविवेकी को आत्मा अनात्मा का दृढ़ निश्चय पूर्वक विवेक है नहीं, इसी से वैराग्य नहीं होता है, अतः—उसको अविवकी कहते हैं।

इस प्रकार सुनके **शिष्य पूछता है**— हे भगवन्! आपने यह जो विवेक का कथन किया है उसमें 'रत्नपना' क्या है? और इस का 'कारण' 'स्वरूप' तथा 'फल' क्या है? और उस की 'अवधि' क्या है? सो आप कृपा करके कहिये'।

गुरु कहते हैं—कि—जैसे- रत्नों से अनेक प्रकार के स्वर्ण, रजत आदि अशरफियें सराफे में प्राप्त होती हैं, तैसे ही विवेक रूपी रत्न से सतसंग रूपी सराफे में अनेक प्रकार के वैराग्यादि अशरफियें, रुपये प्राप्त होते हैं, और जिस प्रकार द्रव्य पदार्थ से व्यावहारिक सुख को प्राप्ति होती है, तैसे ही—वैराग्यादि से पारमार्थिक आनन्द की प्राप्ति होती है, यही उस विवेक में रत्नपना है।

पूर्व जो तीन प्रकार की भक्ति कही थी, सो वास्तव में ऐसी भक्ति से चित्त की एकाग्रता होकर सत् असत् पदार्थों का विचार उत्पन्न होता है, इस प्रकार विचार करने पर पदार्थों से नित्य अनित्य वस्तु का विवेक उत्पन्न होता है इसलिये भक्ति और विचार में दोनों ही विवेक के कारण हैं। और नित्य, अनित्य

स तात्पर्य यह है कि—आत्मा तो नित्य है, और जो वैराग्य आदि के उत्तम साधन विवेक से होते हैं, यही विवेक का फल है। और ज्ञान प्राप्ति ज्ञान पर्यंत उसकी अवधि है। और यह विवेक रत्न जो कहा है उस जिज्ञासु पुरुषों को अवश्य सम्पादन करना चाहिये क्योंकि—यही ज्ञान के अन्तरंग साधनों का मूल है।

॥ इति श्री विवेक रत्न समाप्त ॥

— ० —

[१]

॥ अथ वैराग्य रत्न ॥

॥ कुण्डलिया ॥

वैराग नाम यक कहत हैं, उभय भेद तिहिं जान ।
पर अपर दो कहत हैं, तिन का करूं बखान ॥
तिन का करूं बखान अपर का यह विस्तार ।
यतमान व्यतिरेक एक इन्द्रिय अरु वशीकार ॥
वशीकार है तीन विधि तीव्र तर तीव्र मन्द ।
जो इन को धारन करे सोइ पावे गुप्तानन्द ॥

अर्थ यह है कि—एकही वैराग्य के 'पर' और 'अपर' दो भेद हैं। इस में अपर-वैराग्य के चार भेद हैं—यतमान व्यतिरेक,

एकेन्द्रिय और वशीकार। वशीकार भी मन्द, तीव्र और तीव्रतर ऐसे भेद से तीन प्रकार का होता है। ये सब एकही वैराग्य की तारतम्यता करके भेद कहे जाते हैं। परन्तु-जितनी वैराग्यमाला है, उस से तात्पर्य-सूक्ष्म, स्थूल, लोक, परलोक के जो पदार्थ है, उन सब के त्याग करने ही का है।

दोहा।

भोग लोक परलोक का मन में रहे न राग।
दारा सुत वित गेह का करना चाहे त्याग॥
ऐसी बात विचार के छांडि गये नृपराज।
धारण कर निरवेद को कीन्हा अपना काज॥

अर्थ यह है कि-स्त्री, पुत्र, धन, आदि इस लोक के जितने भोग पदार्थ हैं, और अमृत पान अप्सरादिक जो ब्रह्म-लोक के भोग हैं, उन सबका 'राग' मन से जिसने दूर किया है, और उनके 'त्याग' करने की इच्छा जिसको उत्पन्न हुई है-उस पुरुष को ऐसा विचार करना चाहिये कि-इन भोग पदार्थो मे सुख होता ? तो राजा लोग राज को छोड़ के वैराग्य को क्यों धारण करते ? इसी से जाना जाता है कि-पदार्थों में सुख नहीं है। जो पदार्थों में सुख होता तो उन राजाओं को तो बहुत से पदार्थ प्राप्त थेइस प्रकार अपने चित्त में विचार करना चाहिये कि-विषयो के भोग से सुख नहीं होता है, किन्तु विष ों के त्याग में ही सुख है।

इसी युक्ति के न्याय को विचारना चाहिये कि—विषयों में जो सुख प्राप्ति की इच्छा है, उसको त्याग के सर्व विषयों का त्याग करना चाहिये, क्योंकि— जिन राजाओं को सर्व भोग पदार्थ प्राप्त थे उन को भी सुख नहीं हुआ, तो हमारे को कहाँ से सुख होगा ?' इस प्रकार से जो विचार करता है; सो ही वास्तव में मनुष्य है। जो मनुष्य शरीर पाके ऐसा विचार करके वैराग्य धारण नहीं करता है—वह गर्दभ के समान है। इसी पर तेरे को एक—

(१)

राजा, साधु, शोक—निवर्तन न्याय

सुनाते हैं, सो तू सुन—एक राजा को मन्द वैराग्य उत्पन्न हुआ था। मन्द वैराग्य का स्वरूप है कि—न तो विषयों का त्याग होना,और न भोग होना। उभयतः संदिग्ध ही रहता है। इस प्रकार वह राजा दोनों तरफ संदिग्ध करके शोकातुर हुआ। तब कामदार मंत्री आदि सभी लोग राजा की दशा देख के चिन्ता में रहे और आपस में विचार किया करते कि— 'राजा की तो ऐसी दशा होगई कि जैसे कोई सर्प चूहे के धोखे में छछूंदर पकड़ लता है,तब वह उसको खाता भी नहीं और न उसको छोड़ता है, क्योंकि—उसको खावे तो कोढ़ी होजावे, और छोड़े तो वह उसके नेत्र फोड़ दे। इसी प्रकार राजा को भी कोई बड़ा भारी खेद आके प्राप्त हुआ है इसकी

निवृत्ति का कोई उपाय करना चाहिये। क्योंकि–सच्चा मंत्री भी वही है, जो अपने महाराज को दु:ख प्राप्त होने पर उसकी निवृत्ति का उपाय करे, नहीं तो सुख में तो बहुत मंत्री होजाते हैं"।

जब इस प्रकार मंत्रियों ने विचार करके अच्छे बुद्धिमान् पंडितों को बुला के पूछा कि–"महाराज! राजा को जो बड़ा भारी शोक हुआ है, उसकी निवृत्ति का कोई उपाय आप बताइये" मंत्रियों की बात सुनके पंडितों ने कहा कि–'शोक निवृत्ति तो कोई साधु महात्मा करते हैं, इससे तुम किसी साधु को ढूंढ के लाओ' तब मंत्री ने चारों तरफ ढूंढने वाले भेज दिये। किसी जगह गुरु चेला दो साधू मिल गये, उस समय वे अपनी कुटिया को लीप रहे थे। ढूंढने वालों ने उनको नमस्कार किया, और कहने लगे कि 'महाराज! आप कृपा करके चलिये, हमारा राजा बड़े शोक को प्राप्त हुआ है, उसके शोक को आप निवृत्ति कीजिये।' तब गुरु ने कहा कि–'बहुत अच्छा', और चेले से कहा कि–'जाओ, राजा के शोक को निवृत्त करो।'

वह मिट्टी से भरा हुआ ही चलदिया, और उनके संग में राजा की कचहरी में आया। तब राजा ने उस महात्मा की तरफ देखा, उसको बेढंगा देखके उस राजा को हंसी आई, और अपने पास में उसके वास्ते गादी बिछवादी। वह तो मिट्टी से भरे हुए शरीर से उस गादी पर एक दम गिरगया, क्योंकि–"ढोल ढंग दुनिया, बेढंग फकीर" अर्थात्–जैसे राजा तैसे ही फकीर।

वह राजा कहने लगा कि–'महाराज । आप में और गधे में कितना फर्क है ? आप बताइये ।' वह महात्मा अपने और राजा के बीच की जमीन हाथ से नापकर कहने लगा कि"–गधे में और हमारे में दो हाथ का फर्क है ।" तब तो राजा लज्जित होके बोला कि–'महाराज ! आपने तो हम रे को ही गधा बनाया, मैं किस रीति से गधा हूँ ? सो कहिये ।" उस महात्मा ने उत्तर दिया कि–'हमने अपनी युक्ति से तुमको गधा नहीं कहा है, किंतु–तुम्हारे जैसे को शास्त्र ही गधा कहता है —

श्लोक

आत्मानमात्मस्थमवेत्ति मूढ़ ,
संसारकूपे परिवर्तितो य ॥
कृत्वाऽऽत्मरूपं विषयाग्नि,सु क्ते ।
मतः स साक्षान्नर एव गर्दभ ॥

भावार्थ यह है कि–आत्मा को परमात्मा रूप करके तुमने नहीं जाना है,और संसार रूपी कूप में पड़े हुये हो इसी से तुम मूढ़ हो और आत्मा का जो 'व्यापक–रूप' है, सो भी तुमने नहीं जाना है; और यत्किंचित् वैराग्य के होने से पदार्थों में दोष–दृष्टि होने के कारण उनको भी योग नहीं सके हो; ऐसे पुरुष को ही शास्त्र ने साक्षात् 'गर्दभ' कहा है । इस प्रकार के लक्षण तुम्हारे में पड़ते हैं, इसी से तुमको गधा कहा गया है ।"

इस रीति से जब मद वैराग्यवाले को भी गर्दभ कहा है, तो जिस को सर्वथा वैराग्य का अभाव है, उसके गर्दभपने में क्या संशय है ? वह तो साक्षात् गर्दभ ही है, उस से परे और गर्दभ कौन होगा ? यह दशा गृहस्थ की कही है।

जो वैराग्य को धारण करके विषयों का त्याग नहीं करता है, वह लाख गर्दभों का गर्दभ है। इस से जिसने घर, ग्राम छोड़कर वैराग्य धारण किया है, उसको 'स्त्री-संग' तथा-'पैसे का संग्रह' नहीं करना चाहिये, क्योंकि ये दोनों वैराग्य के नाश करने वाले हैं। महात्मा पुरुषों का तो वैराग्य ही धन है, वैराग्य जिसके नहीं होता है, उसी को साधु लोग कंगला कहा करते, हैं। और जिसको वैराग्य से भी वैराग्य होता है, वही सबसे उत्तम कहा जाता है। सर्व पदार्थों से वैराग्य को उत्तम और निर्भय कहा है—

श्लोकः—

भोगे रोगभयं, सुखे क्षयभयं, वित्ते नृपालाद्भयं ,
माने हानिभयं जये रिपुभयं रूपे जरायाभयम् ।
शास्त्रे वादभयं गुणे खलभयं काये कृतान्ताद् भयं,
सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम्॥

इस रीति से महात्मा पुरुषों ने वैराग्य ही को सर्व पदार्थों से उत्तम और निर्भय कहा है। यही कारण है कि-वैराग्यवान् पुरुष सर्व पुरुषों से उत्तम और निर्भय दिखाई देता है। इसी पर एक—

(२)
'राजा,–वज़ीर न्याय'

सुनाते हैं:–एक राजा का वज़ीर किसी समय अपने स्वामी से बात करता था, तब वह राजा किसी और ही तरफ़ काम कर रहा था, इस से वज़ीर की बात सुन नहीं सका, दो भी एक दो बार उस वज़ीर ने कहा, परन्तु–राजा की निगाह वज़ीर की तरफ़ नहीं हुई। तब वज़ीर हैरान हो के अपने को धिक्कार देता हुआ चल पड़ा; और अफ़सोस करने लगा कि–"देखो, यह भी मनुष्य है और हम भी मनुष्य ही हैं, परन्तु–हम क्षेम, मोह के वश होकर; कैसे दीन हो रहे हैं ! हम तो महाराज ! महाराज ! करते हैं, और यह हमारी तरफ़ नज़र करके भी नहीं देखता है। इस से हमारे का धिक्कार है। ऐसी दीनता ने ही हमको दीन किया है और ये क्षेम, मोह ही हमारे स नीच–कर्म करवाते हैं, इससे इनका त्याग ही करना योग्य है।" ऐसा विचार करके वह राजा का वज़ीर सर्व का त्याग कर बनको चला गया।

जब राजा को ख़बर हुई कि–वज़ीर साहब तो सन्यासी बन के बन को चले गये।' तब राजा ने और मंत्रियों से कहा कि–'चलो वज़ीर को मनाके लावेंगे।' राजा और दूसरे मनुष्य जहाँ पर वज़ीर था वहाँ पहुँचे; और राजा ने वज़ीर को देखा कि–वो लम्ब पैर पसार ज़मीन पर पड़ा है। राजा उसके पास जाके

बोलने लगा, तब वज़ीर नहीं बोला, तो राजा दो चार वार बात करने लगा, तो भी वह नहीं बोला। तब राजा कहने लगा कि– "वजीर साहब आपने इस प्रकार कबसे किया?" तब वज़ीर ने कहा कि–"हाथ सिकोड़े जब से।"

इस प्रकार वज़ीर के उत्तर देने पर राजा ने बहुत सी विनती की कि"–आप हमारा कसूर माफ कीजिए और शहर को चलिये।" तब वज़ीर ने अपने मन मे विचार किया कि"–एक ही दिन के बैराग्य से राजा हमारे आगे हाथ जोड़ के बिनती करता है, तो जाना जाता है कि –यह वैराग्य कोई बड़ी चीज है, इस को त्याग नहीं करना चाहिये, क्योंकि–जिस राजा के भय से हमारा शरीर कंपायमान होता था, वो इस वैराग्य के बल से एक सूखे तृणवत् प्रतीत होता है।" इस प्रकार विचारने लगा और राजा हैरान होकर अपने नगर को लौट आया। वैराग्य की श्रेष्ठता के सम्बन्ध में एक दो पुरुष के परस्पर—

(३)
'श्रेष्ठता–विवाद, न्याय'

और भी श्रवण कर, वह इस प्रकार है कि किसी जगह दो पुरुष रहते थे। एक ने कहा कि– चलो भैया! ठाकुर जी के दर्शन करें।' तब दूसरा कहता है कि–'ठाकुर जी तो मैं ही हूँ।'

यह सुन भरत-कर्ता न कहा कि-'तुम ठाकुर जी हो, तो मैं मुकुट हूँ।' तब उसन कहा कि-'मैं किरीट हूँ।' इस पर दूसरे न कहा कि-'मैं पुष्प हूँ।' तब पहिले ने कहा कि-'मैं भवरा।' तो दूसरा बोला कि- मैं सूर्य हूँ।' पहिले ने कहा कि-'मैं कर्ण हूँ।' दूसरे ने कहा कि-'मैं दानी हूं।' पहिला बोला कि-'मैं निरचाह हूँ।' तब दूसरे ने कहा कि-'इसमें आगे बढ़न को और कोई भी रास्ता नहीं है।' वास्तव में ऐसी निरचाह वैराग्य से ही होती है, इससे भी जाना जाता है कि-वैराग्य से बड़ा और कोई भी पदार्थ संसार में नहीं है। इस लिये जिज्ञासु पुरुषों को अवश्य चाहिये कि वैराग्य को ही धारण करें॥

यह बात सुनके *शिष्य पूछता है कि*'-वैराग्य का कारण कौन है ? उसका स्वरूप तथा फल क्या है ? और अवधि कितनी होती है ? सो कृपा करके बताइये।'

श्री गुरु कहते हैं-कि "पूर्व जो नित्य-अनित्य पदार्थ का दृढ़ विवेक हुआ है, उससे अनात्म पदार्थ में 'दोष-दृष्टि' हुई है। यह 'दोष-दृष्टि' वैराग्य का कारण है। और विषयों का मन से 'त्याग' करना वैराग्य का स्वरूप है। और 'दीनता से रहित' होकर वीरों का सा स्वांग धारण करके फिरना ही वैराग्य का फल है। और संसार के जितने भोग पदार्थ हैं उन सबको मृग-तृष्णा के जलवत् जानना जैसे मृगतृष्णा के जल से किसी की भी

प्यास दूर नहीं होती है, तैसे ही पदार्थों से किसी की तृष्णा नहीं जाती है, इस से उनके त्याग करने से ही 'अमृत-भाव' की प्राप्ति होती है, यही वैराग्य की अवधि है। सर्व वेद शास्त्रों से विद्वान् पुरुषों ने यही तत्व निकाला है, इसी से इसको रत्न कहा है।

इति श्री वैराग्य रत्न समाप्तम्।

— o —

[७]

॥ अथ षट् सम्पत्ति रत्न ॥

दोहा—

एक साधन के बीच में, प्राप्त होयँ षट् बात।
ताको षट् संपति कहें, अब भिन्न २ सुन तात ॥
दुष्ट विषय से रोकनो, मन कर्मेन्द्रिय ज्ञान।
यासे शम, दम कहत हैं, समुझि करो पहिचान ॥

अर्थ यह कि—एकही साधन में षट् पदार्थों की जो प्राप्ति होती है, उसको "षट् संपत्ति" कहते हैं। अब उनको जुदे २ कहते हैं, तू सुन—शास्त्र ने जिन विषयों का निषेध किया है, उन विषयो से मन के रोकने का नाम 'शम' है। और पंच ज्ञान इंद्रियों और पंच कर्म इन्द्रियों को उन्हीं विषयों से हटाने का नाम 'दम' है। अब 'श्रद्धा' और 'समाधान' के सम्बन्ध मे कहते हैं:—

त्रोटक छन्द ।

तीसी श्रद्धा को पाय जबी ।
गुरु वेद बचन सत जान तबी ॥
चौथा समाधान समझ सोई ।
मन में विक्षेप नहीं कोई ॥
पंचमो उपरती सुन प्यारे ।
साधन अरु कर्म सभी जारे ॥
नेत्रों से नारि लखै जबही ।
तिहिंदुःख अगार पेख तबही ॥
यह छठी तितक्षा जोइ कहे ।
सो मद धर्म का सरम सहै ॥
आतप अरु शीत क्षुधा तिरषा ।
स्वप्न सम जानिके सहै मषा ॥
जो ऐसी धारणा धारैगा ।
सो काम क्रोध को मारैगा ॥
यह सीख हमारी मानेगा ।
तब गुरु रूप को जानेगा ॥

—०—

अर्थ यह है कि"–गुरु–वेद के वचनों को सत्य करके जानने का नाम 'श्रद्धा' है। यह श्रद्धा गुरु–वेद के वचनों को सत्य जानने से होती है। मन में किसी प्रकार की चंचलता नहीं होने को अर्थात्–किसी एक वस्तु में मनकी वृत्ति ठहरने को 'समाधान' कहते हैं। साधन सहित सर्व कर्म को नहीं करे, अर्थात्–सर्व प्रकार के कर्म और उनके साधनों का त्याग करके केवल शम–दमादिक ही करे, और सर्व का त्याग करे, जब कभी नेत्र से नारी को देखे, तो उसे दु.ख का स्थान जाने,इसी को 'उपरति' कहते हैं। आतप, शीत, क्षुधा, तृषा, राग, द्वेष, मान, अपमान इत्यादिक द्वंद के सहन करने से 'तितिक्षा' की प्राप्ति होती है। जब कोई ऐसी धारणा को धारता है और महात्मा पुरुषों के वचनों को अङ्गीकार करता है, तब वह आप अपने को निराकार और व्यापक रूप जानता है। यह जो 'तितिक्षा रत्न'कहा है, सो नाना प्रकार की दीनता रूपी कंगाली का नाश करनेवाला है और आत्मा रूप अलौकिक धन को देनेवाला है, यही उस में रत्नपना है।

शिष्य कहता है—"हे गुरो ! यह जो आपने 'षट् सम्पति रत्न' कहा है, इस का कारण कौन है ? और इस का स्वरूप तथा फल क्या है ? और इसकी अवधि किस प्रकार है ? सो आप कृपा करके बताइये"।

गुरु कहते हैं—"पूर्व जो वैराग्य का कथन किया गया है; सो ही इस का कारण है, क्योंकि—वैराग्य बिना शम-दमादि के नहीं होते हैं। इससे वैराग्य ही षट् सम्पत्ति का कारण है, और जो षट् साधनों का जुदा २ कथन किया गया है, वह ही उसका स्वरूप है, इसके प्राप्त होने पर जो मोक्ष की इच्छा उत्पन्न होती है, वह ही उसका फल है। इस प्रकार फल की प्राप्ति पर्यन्त प्रयत्न करना ही उसकी अवधि है। अतः—जिज्ञासु पुरुष को प्रथम 'षट् सम्पत्ति' सम्पादन करना चाहिये।

॥ इति श्री षट् सम्पत्ति रत्न समाप्तम् ॥

[८]

अथ मुमुक्षुता रत्न।

कवित्त।

मोक्षहि की इच्छा को मुमुक्षता कहत सुधी, जाको यह होय ताको मुमुक्षु पहिचानिये ॥ सुख की हो प्राप्ति जोई दुःख की निवृत्ति होई, मोक्ष का स्वरूप यही वेदन में मानिये ॥ समिध पाणि होय सद्गुरु के शरण जाये, ईश्वर से अधिक तामे भक्ति ही को ठानिये ॥ पूर्वले पुण्य से गुरुदेव जो प्रसन्न होवें तिन के प्रसाद गुरुरूपहि को जानिये ॥ १ ॥

अर्थ यह है कि–'सु' कहिये–'श्रेष्ठ' है 'धी' नाम 'बुद्धि' जिनकी ऐसे जो महात्मा पुरुष हैं, वे मोक्ष की इच्छा को 'मुमुक्षुता' कहते हैं। और जिस पुरुष में वह इच्छा उत्पन्न होती है, उसको ही 'मुमुक्षु' कहते हैं। जो ऐसा पूछे कि–'मोक्ष का स्वरूप क्या है ?' तो सुन –"अत्यन्त सुख की प्राप्ति और अत्यन्त दुःख की निवृत्ति को मोक्ष कहते हैं"–यह वेद में मोक्ष का स्वरूप कहा है, जिस की प्राप्ति के वास्ते-समिध पाणि कहिये हाथ पै कुछ भेंट रख के सत्गुरू के पास जाकर, ईश्वर से भी अधिक उनकी अनुकूल सेवा करे। तब ऐसी सेवा करने से अथवा–किसी पूर्वजन्म के निष्काम–कर्म से गुरु प्रसन्न हो के आप ही कृपा करके, 'गो' अर्थात्–'इंद्रियें' उन सर्व का जो 'पति' अर्थात्–'प्रेरक' ऐसा गूढ़ और सूक्ष्म जो चैतन्य आत्मा है, उसको निज का स्वरूप करके जना देते हैं। ऐसी जो यह मुमुक्षता है–सो अलौकिक रत्न है।

क्योंकि–जो लौकिक रत्न हैं उनका तो मोल सराफे में होता है, जौहरी उन के आकार को देखता है, तब कीमत करता है। परन्तु–आत्मा रूपी रत्न निराकार और अमोल है, उस की प्राप्ति के वास्ते जिज्ञासु 'सत्संग रूपी सराफे' में जाता है, तो वहाँ सत्गुरू ही जोहरी हैं, वे कैसे हैं ? वे 'निराकार' और 'गूढ़' कहिये–तीनों शरीर और पंचकोश से ढँके हुवे आत्मा को साक्षात् स्वरूप करके जना देते हैं। इसमें जिज्ञासा ही कारण है; इसी से

बस को रत्न कहा है। अत—यह तो जिज्ञासु को अवश्य ही प्राप्त करना चाहिये।"

शिष्य कहता है—"हे भगवन्! यह मुमुक्षता रत्न तो ठीक है, परन्तु—इसका कारण कौन है? और स्वरूप क्या? तथा—फल क्या है? और इसकी अवधि किस प्रकार है? सो आप कृपा करके कहो।'

गुरु कहते हैं—"पूर्व जो साधन कहे हैं, सो परम्परा से तो सभी कारण हैं, परन्तु—साक्षात् कारण 'षट् सम्पत्ति' ही है। और इसका स्वरूप पूर्व ग्रन्थ में कथन किया गया है। मोक्ष की इच्छा को मुमुक्षुता कहते हैं, सोही इसका स्वरूप है। और श्रवण की प्राप्ति ही इसका फल है। जब तक श्रवण दृढ़ नहीं हो, तब तक करे, फिर नहीं करे यही इसकी अवधि है"।'

॥ इति श्रीमुमुक्षुता रत्न समाप्तम् ॥

—•—

[२]

॥ अथ श्रवण रत्न ॥

प्रथम श्रवण का स्वरूप दिखाते हैं—

॥ दोहा ॥

जो सुनने में आवता, सबही सरवन जान ।
अधिकारी के भेद से, जुदा जुदा पहिचान ॥ १ ॥

जो अधिकारी ज्ञान का, गुरु से पूछे तत्त ॥
महावाक्य के अर्थ का, सरवन करना नित्त ॥ २ ॥

अर्थ यह है कि–जो कुछ सुनने में आता है; सो सभी श्रवण कहा जाता है। यह तो श्रवण का साधारण स्वरूप है, जैसे- ईश्वर, ईश्वर की इच्छा, ईश्वर का प्रयत्न, और ज्ञान। तैसे ही– देश, काल, अदृष्ट, प्रागभाव, और प्रतिबंधाभाव ये नौ, सर्व कार्य के कारण होने से 'साधारण–कारण' कहे जाते हैं। और जो एक ही कारण हो, वह 'असाधारण–कारण' होता है, जैसे–रसना इंद्रिय से एक रसका ही ज्ञान होता है, सुगंध आदि का नहीं होता है। वैसे ही जो श्रवण किसी एक ही के वास्ते हो, वह श्रवण का असाधारण स्वरूप कहलाता है। जैसे–महावाक्य का श्रवण, एक ज्ञान की इच्छा वाले के ही वास्ते है इससे 'महावाक्य के श्रवण को असाधारण श्रवण' कहते हैं।

जो पुरुष आत्मज्ञान की इच्छा वाला है, सो सत् वस्तु को ही गुरु से पूछता है, और महावाक्य के अर्थ को ही वार वार श्रवण करता है। क्योंकि–हर वक्त वेदान्त का चिंतन करने से संशय की निवृत्ति हो जाती है। संशय ही पदार्थ के ज्ञान में प्रतिबंध होता है। इसी को 'असंभावना' भी कहते हैं। वह भी दो प्रकार की होती है, एक तो प्रमाणगत' औरदूसरी 'प्रमेयगत' कहलाती है। प्रमेयगत को आगे कहेंगे, यहां 'प्रमाणगत' का विवेचन करते

है-प्रमाण कहिये 'शास्त्र' 'गत' अर्थात्-उस (शास्त्र) में 'असंभावना' या 'संशय' यह है कि-वेदान्त के वचन स्वर्ग या मोक्ष का कथन करते हैं, इसमें जो संशय है-उसको 'प्रमाणगत असंभावना' कहते हैं। सो वेदान्त शास्त्र के बारम्बार श्रवण करने से यही प्रमाणगत असंभावना की निवृत्ति हो के निस्संशय हो जावेगा।

जैसे-रत्न के परखने वाले जौहरी होते हैं, जो नाना प्रकार की युक्ति सुनाके उस रत्न वाले को निस्संशय कर देते हैं, तैसे ही यह जो श्रवण है, उसमें अनेक प्रकार के जो संशय हैं-जैसे-"वेदान्त शास्त्र के सुनने का हमारे को अधिकार है ? या-नहीं है ? अब इस प्रकार श्रवण करने से कौन फल होता है ? स्वर्ग प्राप्त होता है कि-मोक्ष ? अथवा-इसका सुनना निष्फल ही होता है ?" इस रीति से जो अनेक प्रकार के संशय होते हैं, उन सर्व संशयों को जौहरी की नाईं जो गुरु है सो अनेक प्रकार की युक्ति सुना के शिष्य को निस्संशय कर देते हैं।

आत्मा सर्व में होने से आत्मजिज्ञासा सर्व को ही होती है, इससे 'श्रवण का सभी को अधिकार है'। और स्वर्ग को तो वेदान्त ने बारम्बार अनित्य' कहा है, अत-नित्य जो 'मोक्ष' है उसके प्रतिपादन करने से वेदान्त की सफलता है। इसी से वेदान्त में अपूर्वता है। इस प्रकार की युक्ति रूपी चाबियों को दृढ

ख्यालरूपी–संशय भाग जाता है। इस रीति से श्रवण रूपी रत्न में जो नाना प्रकार के संशय हैं, उन से जिज्ञासु को निम्संशय हो कर श्रवण करना चाहिये। इसी से उसको रत्न कहा है। और जिज्ञासाही श्रवण का कारण है। पूर्व जो साधारण व असाधारण दो प्रकार का श्रवण कहा, सोही इसका स्वरूप है, और असंभावना की निवृत्ति इसका फल है। मनन करने की सामर्थ्य नहीं हो, तब तक श्रवण करते रहना यही श्रवण की अवधि है।

॥ इति श्री श्रवणरत्न समाप्तम् ॥

[१०]

॥ अथ मनन रत्नम् ॥

—:❀×❀—

दोहा—

मनन तिसी को कहत हैं, मनसे करे विचार।
बैठि इकान्तिक देश में, सोधे सार असार॥
युक्ति बाधक भेद को, अरु पुनि कहे अभेद।
तिनहीं करिके दूर होय, असम्भावना खेद॥

अर्थ यह है कि–पूर्व गुरुमुख से महावाक्यों का जो श्रवण किया था; उस को एकान्त स्थान में बैठ के, विचार करके, सार और असार का शोधन करने को 'मनन' कहते हैं।

शिष्य कहता है—"हे भगवन्! आपने जो सार असार का शोधन कहा, सो सार क्या है? और असार क्या है? और इनका शोधन किस प्रकार होता है? सो आप कृपा कर कहिये।" इस पर से गुरु कहते हैं—'हे शिष्य! पूर्व "तत्त्वमसि" "अहंब्रह्मास्मि" इत्यादि जिन महावाक्यों का श्रवण कहा है, उन सब वाक्यों के तीन २ पद होते हैं। 'अहं' पद जीव का वाचक होता है 'ब्रह्म' पद ईश्वर का वाचक होता है, और 'अस्मि' पद चेतनमात्र का वाचक होता है।

शुद्ध-सतोगुण वाली 'माया' में चेतन का जो आभास पड़ा है, उस को 'ईश्वर' कहते हैं, और मलिन-सतोगुण वाली जो 'अविद्या' है, उस में चेतन का जो आभास है, उसको 'जीव' कहते हैं। इस प्रकार जीव अल्पज्ञ, अल्प-शक्ति, पराधीनता आदि अनेक जीवत्व धर्म वाला है। और माया में आभास जो पड़ा है, सो कैसा है? सर्वज्ञ है सर्वशक्तिमान् है, और स्वतंत्र है, इन के अतिरिक्त और भी ईश्वर धर्म उस में बहुत हैं। परन्तु-जीव ईश्वर के अल्पज्ञता, सर्वज्ञता, आदि जितने धर्म कहे हैं सो सब औपाधिक धर्म हैं। वास्तव में उन के कोई धर्म नहीं हैं। क्योंकि—यह माया और अविद्या उपाधि है, इसी से जीव और ईश्वर में सर्वज्ञता और अल्पज्ञता का आरोपण किया जाता है, वास्तव में चेतन का कोई धर्म नहीं है।

अत –जो कोई धर्मों के सहित जीव और ईश्वर की एकता कहता है, वह महा मूर्ख है। क्योंकि–दोनो के धर्मों का आपस में विरोध है, फिर जिनका विरोध हो, उनके संबंध मे एकता कहना मूर्खता नहीं तो क्या है? जैसे कोई मलिन–कर्म करने वाले भंगी की ब्राह्मण से एकता कहें, सो वह सम्भव कैसे होगो? ब्राह्मण का धर्म तो वेद अध्ययन आदि शुद्ध है, और भंगी का धर्म–मूत्र विष्ठा उठाना मलिन है, इस से उन धर्मों का विरोध है। और जब धर्मों को त्याग दें तो मनुष्य मात्र में एकता बन सकती है, उस में कोई भी विरोध नहीं है।

जैसे–'घटाकाश' और 'मठाकाश' को घट, मठ उपाधि के के सहित एकता कहें, तो नहीं बनती है, क्योंकि–घट मे दस सेर अन्न समाता है और मकान में हजारों मन आ सकता है, फिर उनकी एकता कहना कैसे बने? इससे उपाधि सहित एकता कहना विरुद्ध है। घट मठ रूपी उपाधि और उस के जो आननरूप धर्म हैं, उन सर्व को त्याग के केवल आकाशमात्र को एकता बनती है। इसो प्रकार माया, अविद्या और उनके सर्वज्ञता अल्पज्ञता आदि धर्मों के सहित एकता नहीं बनती है। परन्तु–उन सर्व को त्याग के "चेतन–मात्र एकही है, वही सार है, और सर्वज्ञता–अल्पज्ञता आदिक धर्म सहित माया–अविद्या

असार है।" इस प्रकार से विचार करके सार और असार का भली प्रकार निश्चय करना चाहिये।

अब दूसरे दोहे का अर्थ कहते हैं—प्रमेय कहिये 'जीव-ब्रह्म का एकत्व' गत कहिये उसमें 'असंभावना' अर्थात्—संशय, और भेद। अर्थात्—दुःख रूपी भेद की बाधक और अभेद की साधक जो युक्तियाँ हैं, उनसे 'प्रमेय-गत' असंभावना को दूर करे। यदि, ऐसा कहें कि—प्रमेयगत असंभावना क्या है? तो सुन—जो वेदान्त-शास्त्र के वचन जीव-ब्रह्म के 'भेद' को, अथवा 'अभेद' का कथन करते हैं? इसका नाम 'प्रमेयगत असंभावना' है। इसकी निवृत्ति के वास्ते भेद के बाधक, और अभेद के साधक युक्ति पूर्वक महावाक्यों के अर्थ का बारबार चिन्तवन करना चाहिये, इसी को मनन कहते हैं।

अपने चित्त में इस प्रकार विचार करे कि—'वास्तव में द्वैत है नहीं, क्योंकि—यदि परमार्थ से द्वैत हो तो उसकी निवृत्ति नहीं होनी चाहिये, कहते हैं कि—परमार्थ से एक चेतन स्वरूप, त्रिकालाबाध है। जो वस्तु परमार्थ से सत् हो उसकी तीन काल में निवृत्ति होती नहीं है, और द्वैत की तो अद्वैत ज्ञान से निवृत्ति हो जाती है। इससे द्वैत माया-मात्र है,' सो 'माया' और उसका कार्य-प्रपंच' मिथ्या होने से शुद्ध चैतन्य में द्वैत कर सकता नहीं।

जैसे-वास्तविक रज्जु मे सर्प है ही नहीं, तो फिर वह किसको काटेगा ? तैसे ही-वास्तविक माया का स्वरूप ही सिद्ध नहीं होता है, इसी से माया को अचित्य शक्ति कहा है; जो युक्ति के आगे ठहर नहीं सक्ती ।

वह युक्ति यह है कि-(१) यदि माया को 'सत्य' कहें, तो भी ठीक नहीं, क्योंकि-सत्य वस्तु का नाश नहीं होता है, और माया का ज्ञान से नाश होजाता है, इससे माया सत्य नही कही जाती । और (२) जो माया को 'असत्य' कहें, तो भी बात नहीं बनती, क्योंकि-माया और माया के कार्य की जाग्रत्, स्वप्न, और सुषुप्ति तीनों काल में प्रतीत होती है, इसलिये असत्य भी नहीं कही जाती है ।

(३) सत्य-असत्य' दोनों को मिला के कहे, तो भी ठीक नहीं, क्योंकि-जब सत्य असत्य ही संभव नहीं तो मिलाने की बात कहाँ ? इससे किसी रीति से भी माया का स्वरूप नहीं बनता । और यदि ऐसा कहें कि-(४) माया चेतन से 'भिन्न' है, तो भी बात नहीं बनती, क्योंकि-चेतन से माया भिन्न है, तो जिस देश में माया है, उस देश में चेतन का अभाव होगा, और चेतन को तो वेद ने सर्व व्यापी कहा है, इससे वेद विरोध होगा, अत-भिन्न कहना भी नहीं बनता है । यदि ऐसा कहें कि-(५) माया चेतन से 'अभिन्न' है, सो भी नहीं बने, क्योंकि

चेतन स्वरूप में स्थिति होने को ही मोक्ष कहते हैं। जब नाना प्रकार के साधनों से चेतन स्वरूप में स्थिति होगी, तो मोक्ष दशा में जीव के साथ माया फिर चिपट जावेगी जिस से सब निष्फल होवेंगे।

अतः—माया को अभिन्न कहना भी नहीं बनता है। और फिर (६) 'भिन्न अभिन्न' मिलाके कहें, सो भी नहीं बनता। यदि (७) माया को 'सावयव' कहें, तो भी नहीं बने। क्योंकि—माया सावयव हो, तो माया की प्रतीति होनी चाहिये। परन्तु वह नेत्र से किसी को प्रतीत होती नहीं है। और (८) जो माया को 'निरवयव' कहें, तो उससे जगत् की उत्पत्ति नहीं होनी चाहिये। क्योंकि—निरवयव पदार्थ से किसी की भी उत्पत्ति देखने में आती नहीं है। मृत्तिका आदिक सावयव पदार्थों से घट आदि की उत्पत्ति देखने में आती है, निरवयव से किसी की उत्पत्ति नहीं होती है, इससे 'माया को उपादान कारण' कहा है। परन्तु-निरवयव उपादान नहीं होता है, इससे माया को निरवयव कहना भी बनता नहीं। और (९) 'सावयव-निरवयव' मिला के कहें, सो भी नहीं बनता, क्योंकि—सावयव निरवयव तो उसका स्वरूप बना ही नहीं, तो मिला के कैसे बनता ? किन्तु—किसी भी रीति से माया का स्वरूप सिद्ध नहीं होता है इससे मिथ्या—माया से द्वैत नहीं होता है, जैसे-मिथ्या सर्प से रज्जु विकारी नहीं होती है।

तैसे ही–मिथ्या माया में चेतन आत्मा में द्वैत नहीं होता है। माया उसे कहते हैं कि–"है तो नहीं, और है, ऐसी भासे"।

जैसे–'बाजीगर की बाजी' तैसे ही ब्रह्म आत्मा का वास्तव से भेद नहीं है, और भेद को नाईं प्रतीति होती है, इसी को माया कहते हैं। और जो ऊपर नौ युक्तियाँ कही हैं, उनसे माया का स्वरूप नहीं बनता है, तो आत्मा से ब्रह्म जुदा कैसे होगा ? और जो आत्मा से ब्रह्म को जुदा कहो, तो आत्मा से जो भिन्न है सो सब अनात्मा ही कहा जाता है, इससे ब्रह्म भी आत्मा से जुदा होगा ? तो यह भी अनात्मा ही होगा।

'ब्रह्म' को 'अनात्मा' किसी वेद शास्त्र ने अंगीकार किया नहीं है, इसी से जाना जाता है कि–आत्मा से ब्रह्म जुदा नहीं है। और जो आत्मा को ब्रह्म से जुदा कहें, सो भी बने नहीं, क्योंकि–जिस देश में आत्मा है उसी देश में ब्रह्म नहीं होगा, और ब्रह्म को तो वेदने 'सर्वव्यापी' कहा है अतः–वेद से विरोध होगा। यह किसी भी आस्तिक जन को अंगीकार नहीं हो सकता, इससे आत्मा भी ब्रह्म से जुदा नहीं है।

ब्रह्म और आत्मा दोनों एक ही वस्तु के नाम हैं, जैसे 'वृक्ष' और 'तरु' दोनों पर्याय हैं। जैसे–एक ही आकाश के उपाधि भेद से चार नाम कहे हैं, तैसे ही उपाधि के भेद से चेतन के अनेक

नाम कहे जाते हैं। जैसे घट उपाधि से घटाकाश कहते हैं और जल उपाधि से जलाकाश कहते हैं, बादल की उपाधि से मेघाकाश कहते हैं, और सर्व पदार्थों के अन्दर बाहर होने से महाकाश कहा जाता है। परन्तु –आकाश में कोई टुकड़े नहीं हुये हैं, वह तो एक ही है।

वैसे ही—कूट' कहिये 'मिथ्या बुद्धि' और 'चिदाभास' उन में जो निर्विकार चेतन है, वही कूटस्थ कहा जाता है। और बुद्धि तथा अज्ञान में चेतन के आभास को जीव कहते हैं। शुद्ध–सतोगुण वाली माया में चेतन के आभास को ईश्वर कहा है, और सर्व पदार्थों के अन्दर और बाहर जो व्याप रहा है, उसको ब्रह्म कहते हैं। इस रीति से नामों का ही भेद है, वस्तु का भेद नहीं है। अर्थात्–ब्रह्म से आत्मा जुदा नहीं है, आत्मा और ब्रह्म दोनों एक ही चेतन के नाम हैं, और ब्रह्म आत्मा का जो भेद जानते हैं, उनके लिये वेदों में 'भय' का कथन किया है, भेद दृष्टि वाले को पशु भी कहा है। इससे भी जाना जाता है कि–वेद भगवान का भी अभेद में ही तात्पर्य है।

जब इस प्रकार से युक्ति पूर्वक महात्माओं के अर्थ का चिन्तन करोगे, तब सदा आत्मा का अभेद निश्चय होकर एक परिपूर्ण आत्मा ही भासेगा, और जड़–अनात्म पदार्थों का भेद

भासता है; सोभी युक्ति से विचार करने पर नहीं भासेगा। सा युक्ति यह है कि–जितना पृथ्वी का कार्य घट, पट, वृक्ष, पहाड़ आदि हैं, सो सभी पृथ्वी रूप ही हैं। तैसे ही–पृथ्वी जल का कार्य होने से जल रूप ही है। इसी प्रकार–जल, अग्नि का कार्य होने से अग्नि रूप ही है। ऐसे ही अग्नि, वायु का कार्य होने से वायु रूप ही है। वायु, आकाश का कार्य होने से आकाश रूप ही है, और माया–विशिष्ट ईश्वर से आकाश की उत्पत्ति कही है, सो उसका कार्य होने से माया–विशिष्ट रूप ही है। उस मे जो माया भाग है, सो तो पूर्व कही रीति से मिथ्या है, और चेतन–भाग 'ब्रह्म–आत्मा' रूप एक ही है।

इस रीति से भी द्वैत नहीं है,क्योंकि–किसी भी तरफ को चलो आकाश तो एक ही है, तैसे ही विधि–मुख करके देखो, तो आत्मा से ही सर्व का विधान करना पड़ेगा और जो निषेध–मुख करके देखो, तो आत्मा में ही सब का निषेध कहना होगा। किसी भी रीति से द्वैत नहीं बनता है। तेरी कल्पना में ही द्वैत है, सो कल्पना–मात्र ही है, जो तुझ अधिष्ठान से जुदी नहीं है, 'कल्पित–वस्तु अधिष्ठान से भिन्न नहीं होती है'।

ऐसी युक्तियों का बारम्बार विचार करने का नाम मनन है। इस प्रकार मनन करने से सार का ग्रहण होता है, यही उसमें रत्नपना है। और श्रवण ही उसका कारण है! क्योंकि-श्रवण विना

मनन नहीं होता है। और साधारण असाधारण, भेद स दो प्रकार का उसका स्वरूप है। प्रमेयगत असंभावना की निवृत्ति उसका फल है। महावाक्यों का यथ दृढ़ निश्चय नहीं हो, तब तक चिंतन करना चाहिये, और जब दृढ़ निश्चय हो जाय; तब नहीं करना—यही उसकी अवधि है।

॥ इति श्री मनन रत्न समाप्तम् ॥

(१०)

अथ निदिध्यासन रत्न

॥ दोहा ॥

निदिध्यासन ताको कहे, जो न दिखे नहिं होठ।
विरती के प्रवाह में, होय नहीं कोइ खोट॥
वृत्ति सजाती यों उठे, अन्त करण मझार।
जैसे पुन्ने से छुटे, टूटत नाहीं तार॥

अर्थ यह है कि—पूर्व जो महावाक्यों के अनुसार जीव ब्रह्म के एकत्व का विवेचन किया; सो युक्ति पूर्वक चिंतन करने से जब दृढ़ होगया है, तो फिर उसमें बाह्य इन्द्रियों के व्यापार की, और होठ हिलाने की कुछ जरूरत नहीं, अन्दर ही से अंतःकरण से वृत्तियों के प्रवाह को चलाने और खोट कहिये–विजातीय अनात्माकार वृत्ति नहीं होने दे। अर्थात्—अन्तःकरण में 'सजाती'

कहिये–ब्रह्माकार वृत्तियों का अखंड प्रवाह ऐसा चले कि–जैसे रूई के तूलको खेंचनेसे तार बंध जाता है और टूटता नहीं, इसी प्रकार वृत्ति का प्रवाह होने को निदिध्यासन कहते हैं ।

निदिध्यासन रूपी बृक्ष दृढ होने पर तत्काल ही फल देता है, जैसे बृक्ष के बोने में कुछ देरी नहीं लगती है, किन्तु–प्रथम जमीन को सफाई करने में ही देरी होती है । बीज तो जल्दी बोया जाता है, और फिर जल सिंचन, रखवाली से आदि लेकर जो हिफ़ाजत करनी होती है, उसमें देरी लगती है । परन्तु–हिफाजत करने से वह बृक्ष दृढ़ता को प्राप्त होकर फल जल्दी देता है । तैसे ही 'निदिध्यासन' रूपी जो बृक्ष है, उसे उपदेशरूपी बीज के बोने में कुछ देरी नहीं लगती है, परन्तु–जमीन रूपी अन्त' करण के मल, विक्षेप की सफाई करने में देरी लगती है । उपदेश अर्थात्–श्रवण तो हर एक जगह हो जाता है, परन्तु–बीजरूप जो श्रवण होता है, उस की मननरूप हिफाजत में देरी लगती है । क्योंकि–अनेक प्रकार की युक्ति से चिन्तनरूपी हिफाजत करनी पड़ती है, जिससे उस श्रवणरूपी बीज से मननरूपी पौधा कुछ काल पाकर दृढ़ होता है ।

परन्तु–दृढ़ होने के बाद वह "निदिध्यासनरूपी बृक्ष" के रूप में होकर "ज्ञानरूपी फल" को जल्दी ही उत्पन्न कर देता है । ऐसे ज्ञानरूपी–फल के खाने से,'अज्ञानरूपी–क्षुधा' दूर होकर दु.ख

की सत्ता के लिये निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति होती है। इसी कारण जिज्ञासु पुरुषों को निदिध्यासन रूप वृक्ष की पुष्टि करना चाहिए, क्योंकि—यह महान् फल वाला है। जैसे—किसी रत्न से महा द्रव्य की प्राप्ति होती है, परन्तु—उसके नाश होने के अनेक भय रहते हैं। परन्तु—ब्रह्म ज्ञान रूपी धनको तो कोई भी नाश नहीं कर सकता है। 'चोर न चोरे, राज न डंडै, न कोई लूट सके'। गुप्त—ज्ञान रूपी महान धन की ऐसी महिमा अनाड़ी लोग नहीं जान सकते हैं, इसी से निदिध्यासन को रत्न कहा है। मनन ही इसका कारण है, और जो ब्रह्म में अंतःकरण की वृत्तियों का तैलधारावत् प्रवाह है सोही निदिध्यासन का स्वरूप है। विपरीत भावना की निवृत्ति इसका फल है। यदि—कोई ऐसा पूछे कि— 'विपरीत भावना किसको कहते हैं?' तो सुन—

जैसे स्वर्गादिक अनित्य हैं, तिनको नित्य जानना, और स्त्री, पुत्र अशोच्य हैं; तिनको शोच्य जानना। इसी प्रकार कृषि वाणिज्य, मदिरा—पान आदि दुख रूप हैं, तिनको सुख—रूप जानना, और शरीर आदि अनात्म हैं तिनको आत्मरूप समझना ये चार प्रकार के कार्य अविद्या के कारण जैसे छूटे समझे जाते हैं, वैसे ही—अविद्या से यहां दृष्टान्त में शुद्ध सच्चिदानन्द, जन्म-मरण, तथा—पुण्य-पाप सुख—दुख से रहित, एक, परिपूर्ण ब्रह्म—स्वरूप ऐसा जो आत्मा है उसको असत् जड़ दुख

का भोगने वाला मानता है, इसी को विपरीत भावना कहते हैं, जिसकी निवृत्ति निदिध्यासन से ही होती है। क्योंकि–वारम्बार 'ब्रह्माकार वृत्ति' के होने से 'जीव–भाव' दूर होकर 'ब्रह्म–भावना' होने से अपने को 'ब्रह्म–रूप' ही करके जान सकता है, इससे जीव भाव दूर होता है। इस प्रकार विपरीत भावना की निवृत्ति निदिध्यासन का फल है। जब तक 'जीव–ब्रह्म' की एकता का दृढ निश्चय नहीं हो, तबतक निदिध्यासन करे, और जब दृढ़ निश्चय हो जावे, तब वृत्ति को परि–संख्या नहीं करे, यही इसकी अवधि है।

॥ इति श्री निदिध्यासनरत्नं समाप्तम् ॥

(१२)

अथ ज्ञान रत्न

॥ कवित्त ॥

वेदरूप उदधि में ज्ञान रत्न सुधा सम, करके यतन ताको मथि के निकालिये। गुरुदेव विष्णु है युक्ति की नेति करि, वार वार को अभ्यास ही मथन करि पालिये॥ जीव देव अधिकारी निरवल होय रहा, प्याय ज्ञान सुधा असुर अहंकार गालिये। कीनी है जुगत भयो विष्णु समो गुप्त सुधा, सुरों को पिलाय कर असुरों को जालिये॥१॥

अब यह है कि—एक काल में देवता दैत्यों से निर्बल हो गये, तब हार मानकर के विष्णु भगवान् के पास आके कहने लगे कि—"हे भगवन् ! हम देवता जो निबल हो गये हैं, आप कृपा कर के कोई ऐसी युक्ति कीजिये कि–हमारे को बल की प्राप्ति हो" । तब विष्णु भगवान्, देवताओं और दैत्यों को इकट्ठे कर कहने लगे कि—"चलो समुद्र को मैथन कर अमृत निकाल के तुम्हारे को पिलावें" । अब इस सम्बन्ध में बहुत विवेचन करने से कुछ प्रयोजन नहीं है, जो कोई बात दृष्टान्त अनुकूल है–सो आगे लिखी जावेगी ।

यहाँ दृष्टान्त में विष्णु भगवान् की नाईं गुरू है, और समुद्र की नाईं वेद है; जिस में–अमृत के समान 'ज्ञान रूपी रत्न' है। इसकी प्राप्ति के लिये सत्संग से लेकर निदिध्यासन पर्यंत जो साधन करते हैं सोई 'यत्न' हैं । इन यत्नों से ज्ञान रूपी रत्न निकालना चाहिये । गुरुओं से जो नाना प्रकार की युक्तियें द्वारा बोध सम्पादन किया है, उनको 'रस्सी' बनाके, उससे बारम्बार 'अभ्यास रूपी मंथन' करे । उस अभ्यास को पालना अर्थात्–पुष्ट करना चाहिये । और यह जीव ही देवताओं की भां है, जो निर्बल कहिये, अपने व्यापक ब्रह्मभाव को भूल के अनेक प्रकार के जीवत्व धर्मों को निश्चय करके दुःखता को प्राप्त हो रहा है, यही इसमें निर्बलता है । इस पर तेरे को एक ।

"बाघ, बकरी,–न्याय"

सुनाते हैं, सो यह है कि–किसी एक बाघिन ने बाघ जाया था, उसी काल मे किसी कारण वश वह बाघिन तो भग गई, और उसका बच्चा वहीं पड़ा रह गया। तब किसी ग्वालिये ने उसे उठाकर अपनी बकरियों में मिला लिया। वह शेर का बच्चा, बकरियों का दूध पीकर उनके संग मे घास खाया करता था। वह अपने को बोकड़ा समझने लगा और काल पाय के बड़ा होगया। तब किसी दिन उन बकरियों को देख के किसी वन का एक शेर चला आया और उनको पकड़ने के वास्ते चला। ये बकरियाँ भय की मारी भगने लगीं, और उनके साथ वह शेर भी भगा।

तब वन के शेर ने कहा–"अरे मूर्ख! तू कैसा शेर है? बकरियों के संग मे भगा फिरता है"। तब वह बोला कि–"मैं शेर कैसे हू? मैं तो बोकड़ा हू"। यह सुनकर वह वन का शेर कहने लगा–"अरे मूर्ख! तू कुछ विचार के देख, जैसे शेर हम हैं, तैसाही शेर तू भी है, इन बकरियों में काहे को फिरता है? तू देख तो सही,–जैसा हमारा स्वरूप है, तैसा ही तेरा स्वरूप है"। तब उन बकरियों में रहने वाले शेर ने उस वनके शेर की तरफ देखा, और फिर अपने शरीर की तरफ देखा, तो जैसा रंग रूप

उसका था, वैसाही अपने को भी देखा। तब उसको कुछ संस्कार फुर आये और उस बन के शेर को दहाड़ लगाई और जिन कर्मों के संयोग से शेर का शरीर रचा था, वे भी फुर आये। तब तो वह कूदने लगा और अपने को शेर रूप जानने लगा और उन बकरियों को मार मार के खाने लगा।

इस सम्बन्ध में दृष्टांत यह है कि—यह 'चेतन' आत्मा ही एक 'शेर' है, जिसे 'मन रूप म्यामिये' ने शरीर तथा इन्द्रियाँ रूपी बकरियों के साथ मिला दिया है। यह चेतन आत्मा शरीर व इन्द्रियों में मिलकर उनके जो धर्म हैं, उन्हें वृथा ही अंगीकार करने लगा। अर्थात्—"स्थूलोऽहं, कृशोऽहं बधिरोऽहम्" ऐसा अहंकार करके अपने को शरीर मानने लगा और इस प्रकार शरीर व इंद्रियादि के धर्मों को अपने जानने लगा। तब नाना प्रकार के जीवत्व-धर्मों का अपने में आरोपण करके नाना प्रकार के दुःखों को प्राप्त हुआ। फिर किसी पुण्य कर्म के प्रभाव से बन के शेर के नाई श्री-विचारवान महात्मा पुरुष हैं, उनसे मिलाप होने पर, जब व बन के शेर की नाई यह समझाते हैं कि—

'अरे! तू तो शुद्ध, सच्चिदानन्द, ब्रह्म-स्वरूप है; फिर अपने में शरीर इंद्रियादि के धर्मों को क्यों आरोपण करता है? तू तो उत्पत्ति-नाश रहित परिपूर्ण सर्वधर्म से रहित ब्रह्म-स्वरूप है"। जैसे बन के शेर ने दहाड़ लगाई थी; वैसे ही

महात्मा पुरुष 'अहं ब्रह्मास्मि" ऐसी दहाड़ सुनाते हैं; तब बकरियों के शेर की नाईं जो जिज्ञासु है, उसको पूर्व अनेक वार वेदान्तशास्त्र का श्रवण होने से, उसके संस्कार अन्त करण में सूक्ष्मरुप से स्थित होने के कारण, गुरुजनों के मुखारविन्द से वचन सुनते ही उनके बल से 'मैं ब्रह्म रुप हू" ऐसी स्मृति आजाती है, और वह अपने को ब्रह्मरूप जानता है। इस प्रकार बकरीपना जो 'जीव-भाव' है, सो छूट जाता है। यही निर्बलता इस देवतारुपी जीव मे होरही है।

जैसे-विष्णु भगवान् ने समुद्र से 'अमृत-रत्न' को निकाल के देवताओं को पिलाया, तब वे बल को प्राप्त होकर असुरों को मार सके। तैसेही-यहाँ विष्णुरूप 'गुरु' ने समुद्ररूपी 'वेद' से सुधा की नाईं जो 'ज्ञान-रत्न' है,उसको नाना प्रकार की 'युक्ति-रुपी रस्सी' से मथन करके 'अधिकारी' पुरुषों को पिलाया है। तब उन्होंने 'ब्रह्म-भाव' रूपी बल को प्राप्त करके परिच्छिन्न 'अहंकार' रूपी असुरों को मारा है। और जैसे विष्णु ने देवता और असुरों का आपस में विवाद हुआ, तब युक्ति से मोहनीरुप धारण किया, तब उस रूप को देख के असुर मोहित होगये। उस समय देवताओं को सुधा और असुरों को सुरा पिला के उनका विवाद मिटा दिया। तैसेही-देवरुपी 'जीव' और अनात्म 'अहंकार' रुपी असुरों का जो आपस में विवाद है, उसको मेटने के लिये

विष्णुरूपी 'गुरु' अनेक प्रकार की गुन, प्रगट 'युक्ति' करके परिछिन्न अहंकार रूपी असुर को ज्ञानरूपी 'अग्नि' प्रज्वलित करके जला देते हैं—यह कवित्त का अर्थ है। अब ज्ञान का कुछ कथन किया जावेगा।

"सो ज्ञान क्या है"? ऐसा कोई पूछे तो सुन—"जिससे पदार्थ की ज्ञात होवे उसको ज्ञान कहते हैं"। पदार्थों की ज्ञात तीन प्रकार से होती है। कहीं तो 'अनुमान' से ज्ञात होती है जैसे—'पर्वतो वह्निमान्" कहीं-'स्मृति' रूप करके ज्ञात होती है; जैसे—'वह महात्मा," और कहीं 'इदम्' रूप करके ज्ञात होती है, जैसे—'यह महात्मा" इसी प्रकार ज्ञान भी तीन प्रकार के होते हैं।

अब ज्ञानों को दिखाते हैं—जहां पर्वत आदि में वह्नि आदि का ज्ञान है, सो 'परोक्ष-ज्ञान' होता है। परोक्ष-ज्ञान के और भी बहुत भेद हैं, सो न्याय के ग्रन्थों में लिखे हैं। परन्तु—यह अनुमान ज्ञान हेतु-अंश" में तो 'प्रत्यक्ष' ही होता है और 'साध्यअंश' में 'अनुमिति' रूप होता है। सो भी प्रत्यक्षता के अनन्तर ही जो वह्नि आदि का परोक्ष ज्ञान है, उसका कारण होता है।

और जो पूर्व देखे महात्मा आदि की ज्ञात कराता है, उसको 'स्मृतिज्ञान' कहते हैं। इसके भी बहुत भेद हैं। कोई 'स्मृति'

यथार्थ-ज्ञानजन्य-संस्कारों से होती है, सो 'यथार्थ स्मृति' कही जाती है, और भ्रमज्ञान-जन्य-संस्कारों से जो स्मृति होती है वह 'अयथार्थ-स्मृति' कही जाती है। इनके भी आगे दो दो भेद हैं। कोई बात संक्षेप में लिखी हो, परन्तु-पूर्वदृष्ट पदार्थ के ज्ञान-जन्य-संस्कार विद्यमान होने, और सादृश्य-वस्तु का दर्शन आदि होने से यह 'स्मृतिज्ञान' अपने विषय का ज्ञान कराता है। परन्तु-यह भी पूर्व दृष्टत्व प्रत्यक्षता को लेकर ही "तत्" अंश स्मृति करवाता है, सो तत्अंश में तो 'स्मृतिरूप' है और पूर्व दृष्टत्वअंश में 'प्रत्यक्ष-रूप' है, इससे वह भी प्रत्यक्षरूप होने से प्रत्यक्ष की सहायता को लेकर अपने विषय की सिद्धि करता है।

जो "इदम्" पदार्थ की ज्ञात करानेवाला ज्ञान है, सो 'प्रत्यक्ष ज्ञान' कहा जाता है। जैसे-'यह महात्मा है' सो छे प्रकार का होता है। कहीं तो श्रोत्र-इंद्रिय से प्रत्यक्ष होता है, सो 'शाब्दिकज्ञान' कहाता है, और कहीं चक्षु-इंद्रिय करके होता है, सो "चाक्षुषज्ञान" कहा जाता है, और कहीं घ्राण इंद्रिय से होता है, सो "घ्राणजज्ञान" कहा जाता है, और जहां त्वचा से ज्ञान होता है, सो "त्वाच्यज्ञान" कहा जाता है, और रसना से होता है, सो "रसनाज्ञान" कहाता है, और जो मनसे होता है, सो "मानसज्ञान" कहा जाता है।

जैसे-सुख, दुख का जो ज्ञान है, सो मानस प्रत्यक्ष कहाता

है। और शब्द का ज्ञान श्रोत्र से प्रत्यक्ष होता है, तैसे ही रूप का ज्ञान चक्षु से प्रत्यक्ष होता है, और गंध का ज्ञान नासिका से प्रत्यक्ष होता है, और ठंडे गर्म का ज्ञान त्वचा से प्रत्यक्ष होता है, तैसेही रसका ज्ञान रसना से प्रत्यक्ष होता है। इस रीति से प्रत्यक्ष-ज्ञान षट् प्रकार का होता है। परन्तु-यह प्रत्यक्ष ज्ञान भी दो प्रकार का होता है,-एक तो 'प्रमा' और दूसरा 'अप्रमा' कहाता है। जैसे-रज्जु में अन्धकार आदिक दोष करके सर्प आदि का जो ज्ञान है, सो 'भ्रमज्ञान' कहा जाता है, और रज्जु का जो रज्जु रूप से ज्ञान है, सो 'प्रमा-ज्ञान' होता है, इसी को 'यथार्थ-ज्ञान' भी कहते हैं।

यह तो ज्ञान का साधारण लक्षण है। और जो केवल एक आत्मा का ही ज्ञान है सो यह ज्ञान का असाधारण लक्षण है। जैसे-नेत्र से एक रूप का ही ज्ञान होता है, सो उसका असाधारण लक्षण है, और यदि ऐसा पूछे कि- आत्मा का ज्ञान कौन प्रमाण से प्रत्यक्ष होता है ?' तो सुन-यह कहना ऐसा है, जैसे कोई कहे कि-"सूर्य का प्रकाश किस लौकिक पदार्थ से होता है" ? इस वचन को सुनके दूसरा पुरुष कहता है, 'अरे मूर्ख। जितने लौकिक पदार्थ हैं, सो तो सारे ही सूर्य के प्रकाश से प्रकाशवान होते हैं, सूर्य को कौन प्रकाश कर सकता है" ? तैसे ही जितने 'प्रमाता प्रमाण प्रमेय" "ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय" 'द्रष्टा दर्शन,

दृश्य" कर्ता, क्रिया, कर्म ये सब त्रिपुटी हैं, जो ज्ञान-स्वरूप आत्मा के प्रकाश को पाकर ज्ञानवाली होती हैं, आत्मा का ज्ञान इनसे नहीं होता है। क्योंकि-ये तो सभी अनात्म और जड़ हैं।

इस प्रकार के पदार्थ से किसी का प्रकाश होता नहीं, परन्तु-जैसे अग्नि से तपा हुआ लोहा दूसरे पदार्थों को प्रकाश कर सकता है, और जला भी देता है. परन्तु उस अग्नि के प्रकाश करने में और जलाने में उस लोहे की सामर्थ्य नहीं होती है। तैसेही यह जो प्रमाता, प्रमाण आदि त्रिपुटी हैं, सो आत्मा के तादात्मसम्बन्ध से ज्ञानवाली होती हैं, तब इनसे किसी पदार्थ का ज्ञान होता है, परन्तु-आत्मा का ज्ञान उनसे कैसे होवे? आत्मा तो स्वयं प्रकाश है, और सर्व त्रिपुटी को प्रकाश करता है। इस प्रकार का चेतन आत्मा तू ही "व्यापक ब्रह्म स्वरूप है" ऐसा तू ही है, इसी बात को तू अपना निश्चय कर जब ऐसा तुझे दृढ़ निश्चय होगा, तब उसी को तू दृढ़ अपरोक्ष ज्ञान जानना।

यह ज्ञान श्रोत्र सम्बन्धी 'वाक्य' से होता है. परन्तु-वाक्य दो प्रकार के होते हैं। एक तो 'महावाक्य' और दूसरे 'अवान्तर' वाक्य होते हैं। जो वाक्य 'अस्ति' रूप से बोध करे उससे परोक्ष ज्ञान होता है, जैसे 'दशमोऽस्ति" इस वाक्य से दशम का

'परोक्ष ज्ञान' ही होता है। और जहां वाक्य ऐसा बोध करे कि–"ब्रह्म तू है" वहां वाक्य से 'अपरोक्ष ज्ञान' होता है। ऐसा "अपरोक्ष ज्ञान" तत्त्वमसि, अहंब्रह्मास्मि, प्रज्ञानमानंदं ब्रह्म, अयमात्मा ब्रह्म," आदि महावाक्यों से होता है। "मैं ब्रह्म रूप हूँ" ऐसा ज्ञान मोक्ष सम्बन्धी महावाक्य से ही होता है और 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'आनंदोवै ब्रह्म' ऐसे जो अवांतर वाक्य हैं, उनसे ब्रह्म का परोक्ष ज्ञान ही होता है, सो मुक्ति का हेतु नहीं होता है।

दूसरा जो महावाक्य का उपदेश गुरुमुख से श्रवण किया है, और 'तत्त्वम्' पद के शोधन पूर्वक अर्थात्–माया अविद्या को त्याग के, शुद्ध चेतन मात्र को सर्व–भेदों से रहित अपना ही स्वरूप करके मानते को हो, "अभेद निश्चय (ज्ञान)" कहते हैं, और यही मुक्ति का देनेवाला है। इसके अतिरिक्त और जो अनेक प्रकार के ज्ञानों का कथन करने में आया है, परन्तु–व कोई भी मुक्ति के देनेवाले नहीं हैं।

नैयायिक आदि अज्ञानाऽभाव को भी ज्ञान कहते हैं सो अत्यन्तविरुद्ध है, क्योंकि–ज्ञान के बिना अज्ञान का अभाव किसी रीति से बनता नहीं। अर्थात्–किसी कारण से ही कार्य का अभाव होता, जैसे–घट अभाव रूप कार्य; प्रतियोग के नाश रूप कारण के बिना अथवा–प्रतियोगी के उठा लेजाने के कारण बिना, अभाव किसी रीति से नहीं बनता है। और जो ऐसा कहें कि–

अज्ञान से ही अज्ञान का अभाव होता है, सो भी बात नहीं है, क्योंकि–आत्माश्रय आदि दोषों की प्राप्ति होगी। इससे जाना जाता है कि–अज्ञान का अभाव एक ज्ञान से ही होता है। जैसे–अन्धकार का नाश और किसी से नहीं होता है, एक प्रकाश से ही होता है। तैसे ही–अज्ञान का नाश भी और किसी से नहीं होता है, एक ज्ञान से ही नाश होता है।

इस रीति से 'अज्ञान रूप कार्य के नाश करने में एक ज्ञान ही कारण है, परन्तु यह ज्ञान भी अज्ञान के नाश करने में तभी समर्थ होता है, जब कोई 'प्रतिबन्धक' नहीं हो। प्रतिबन्धक के होने से ज्ञान अज्ञान का नाश नहीं कर सकता है, जैसे–राहू के रथ की छाया पड़ने से चन्द्रमा प्रकाश नहीं करता है और जो ऐसा कहें कि–'प्रतिबन्ध' किसको कहते हैं ? तो सुन'–श्रवण से पूर्व काल में जो किसी पदार्थ में चित्त की दृढ़ आशक्ति हो, उसीका श्रवण काल में वारम्बार चिंतन होता है, उसको 'भूत–प्रतिबन्ध' कहते हैं।

और 'भावी' यह है कि–जैसे 'प्रारब्ध कर्म'। यह भी अनेक प्रकार का विलक्षण होता है, जैसे–किसी एक ही कर्म को दस शरीरों का आरम्भ करना है, तो पहले शरीर में ही 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य का श्रवण होने से भी ज्ञान नहीं होगा। क्योंकि आगे नौ जन्म बाक़ी पड़े हैं, सो ही ज्ञान के प्रतिबन्ध हैं। जैसे–

सनकादिकों ने वामदेव आदि अधिकारी प्रजा को ज्ञान का उपदेश किया, परन्तु–प्रतिबन्ध के होने से वामदेव को अपने स्वरूप का साक्षात्कार नहीं हुआ, क्योंकि–एक जन्म उसका बाक़ी और रहा था। ऐसे जन्म रूपी प्रतिबन्ध के अभाव होने से माता के गर्भ में ही, पूर्व के श्रवण से ज्ञान होगया–यह बात शास्त्रों में प्रसिद्ध है। वैसे ही भरत के तीन जन्म बाक़ी रहे थे, जब उनकी निवृत्ति हुई तब उसको ज्ञान हुआ,–इसको आगामी प्रतिबन्ध कहते हैं।

तीसरा जो वर्तमान प्रतिबन्ध है, सो चार प्रकार का होता है। एक तो–"विषयों में आसक्ति" दूसरा–"बुद्धि की मन्दता" तीसरा–पूर्वकाल में जो भेद वादियों के वचनों का श्रवण किया है, उनके संस्कारों से अनेक प्रकार की वद विरुद्ध भेद की वर्तना जिनको "कुतर्क" कहते हैं, और–चौथा "दुराग्रह"–विपर्यय है। इस जीव के अनेक जन्मों में जीवत्व धर्मों का दृढ़ निश्चय होने से श्रवण काल में जीव भावना बनी रहती है, और ब्रह्म भावना नहीं होती (इस को दुराग्रह जानना) जब तक यह विपर्यय होता है; तबतक 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा ज्ञान नहीं होता है, इसी से इसको प्रतिबन्ध कहते हैं।

'भूत–प्रतिबन्ध की और वर्तमान–प्रतिबन्ध' की तो उपाय करने से निवृत्ति होजाती है, परन्तु–तीसरा जो भावी–प्रतिबन्ध'

हैं, उसकी निवृत्ति विलक्षण कर्म के भोगने से ही होती है, इससे उसमें पुरुषार्थ नहीं चलता है, परन्तु-प्रथम दोनो की तो पुरुषार्थ करने से निवृत्ति होजाती है। इसलिये जिज्ञासु पुरुषों को उनकी निवृत्ति अवश्य करना चाहिये, क्योंकि-ज्ञान के प्रतिबन्ध से रहित होते ही मोक्षरूपी फल की प्राप्ति होती है।

"वासना" भी ज्ञान की प्रतिबन्धक होती है, और सो वासना दो प्रकार की होती है, एक तो "शुद्ध वासना" होती है, जोकि-जिज्ञासु को होती है, यह जन्मों का नाश करनेवाली है, और दूसरी "मलिन-वासना" होती है सो तीन प्रकार की होती है। एक तो लोक में पूजेजाने की जो इच्छा है उसे 'लोक-वासना' कहते हैं। दूसरी 'देह-वासना' है, वह अनेक प्रकार की होती है, "मेरी देह बहुत अच्छी है" मेरी जाति सबसे उत्कृष्ट है, मेरा अङ्ग गोरा है, सर्व शरीरों से मेरा शरीर अच्छा है"-आदि इस प्रकार की सभी वासना मलिन कही जाती है, और जन्मों के देनेवाली होती है। तथा तीसरी 'शास्त्र-वासना' होती है, सो भी कोई तो 'पाठ-वासना' होती है, कोई 'अर्थ-वासना' आदि इस प्रकार 'शास्त्र-वासना' के भी बहुत भेद हैं, परन्तु-ये सभी मलिन वासनाएँ हैं, और जन्मों के देनेवाली हैं। इसलिये यह वासना भी ज्ञान का प्रतिबन्ध होने के कारण त्याग करने के योग्य हैं।

छठा प्रतिबन्ध-'अभिनिवेश' है उसी को सांख्य-मत में 'महत्तत्त्व' कहते हैं, और वेदान्त वाले उसे 'हृदय ग्रन्थी' और सूक्ष्म अहङ्कार' भी कहते हैं। पूर्व के सूक्ष्म संस्कारों का दृढ़ अभ्यास होने से जो-'अनात्म स्थूल, सूक्ष्म संघात' है, उसे आत्मारूप करके जानने और श्रवण काल में भी यही भावना बनी रहने से इस को प्रतिबन्ध कहा है।

छः प्रकार की भावनाओं का त्याग करना चाहिये, क्योंकि-विरोधी की निवृत्ति हुए बिना कार्य की सिद्धि होती नहीं है। इसीलिये विरोधी की निवृत्ति की आवश्यकता है। इस रीति से प्रतिबन्ध से रहित जो यथार्थ ज्ञान है; वह मोक्षरूपी फल की प्राप्ति कराता है। जो पुरुष चारों साधन सम्पन्न हो और जिसकी बुद्धि सर्व प्रतिबन्धों से रहित हो केवल उसको महावाक्य के अर्थ का श्रवण होते ही "मैं ब्रह्म हूँ" इस प्रकार ब्रह्म आत्मा के एकत्व का दृढ़ निश्चय हो जाता है। इस प्रकार के ज्ञानवान् पुरुषों के लक्षण शास्त्रों में नीचे लिखे अनुसार कहे हैं —

श्लोक —

अक्रोध-वैराग्य जितेन्द्रियत्व क्षमा-दया-सर्वजनप्रियत्वम्॥ निर्लोभ-दाता भय-शोकहीनं ज्ञानं प्रकाश्या दश लक्षणाम॥ १॥ निर्द्वन्द्वो निर्विषादश्च निःशङ्कश्च निरञ्जय॥ सुखश्च कृतकृत्यश्च ज्ञानिनः षट्सुलक्षणम्॥

क—अर्थ यह है कि (१) क्रोध रहित होना (२) वैराग्य-वान् होना (३) जितेंद्रिय अर्थात् खोटे विषयों से मन तथा इन्द्रियों को रोकनेवाला होना (४) क्षमावान् होना (५) दयावान् होना (६) प्राणीमात्र पर विशेष प्रकार का प्रेम करने वाला होना (७ निर्लोभी होना (८) दाता अर्थात्–ब्रह्मज्ञान का देनेवाला होना (९) भयहीन, अर्थात्–जन्म मरण के भय जिसके चले गये हैं, और (१०) सांसारिक पदार्थों के वियोग में जिसे शोक नहीं है,–ये दश लक्षण उसी मे होते हैं, जिसको ज्ञान की प्राप्ति हुई है।

ख—ज्ञानी पुरुषों के षट् लक्षण और भी होते हैं,–(१) निर्हठ, अर्थात्–किसी प्रकार का किसी से हठ नहीं करते हैं, (२) निर्विवाद, अर्थात्–विवाद भी किसी से नहीं करते हैं (३) निःशङ्क, अर्थात्–आत्म वस्तु में कोई भी शङ्का उन को नहीं है, और (४) किसी वेद शास्त्र की आज्ञारूपी अङ्कुश उनके शिर पर नहीं होता है, इसी से वे निरंकुश हैं (५) आत्मा में ही तृप्तरहते हैं, और (६) कृतकृत्य हैं। (इसी पर भगवान् ने कहा है.—

श्लोक—यस्त्वात्मरतिरेवस्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥

विज्ञानवान् किसी पदार्थ से तृप्ति को प्राप्त नहीं होता है और लौकिक तथा वैदिक सर्व कार्यो से रहित होता है) ये षट् लक्षण और उक्त दस ऐसे सोलह लक्षण ज्ञानवानों के कहे हैं।

इनके अतिरिक्त और भी 'अमानित्व' आदिक बहुत लक्षण हैं। तात्पर्य यह है कि–जितने लक्षण जिज्ञासु में होते हैं वे प्रयत्न साध्य होते हैं, और ज्ञानवान् में वे स्वाभाविक ही होते हैं।

इस बात को सुनके शिष्य कहता है–"हे भगवन्! यह जो आपने ज्ञान का कथन किया है, जिसमें ज्ञान का कारण कौन है? और उसका स्वरूप तथा–फल क्या है? और उसकी अवधि किस प्रकार है? सो ये सब आप कृपा करके बताइये।"

गुरु कहते हैं–'हे शिष्य! अब तू ज्ञान के कारण आदि का श्रवण कर, प्रथम तो 'विवेक' आदि चार ज्ञान के कारण हैं, परन्तु–ये चारो कारण श्रवण में प्रवृत्ति द्वारा हैं, क्योंकि–बहिर्मुख का तो श्रवण में अधिकार ही नहीं होता है, और श्रवणादिक जो तीन हैं सो भी 'असंभावना' और विपरीत' भावना की निवृत्ति द्वारा ज्ञान केकारण हैं। और साक्षात् कारण तो मात्र तत्त्वमसी' महावाक्य' ही होते हैं। वे ही ज्ञान के मुख्य कारण हैं। सत्य मिथ्या का विचार करके जीव ब्रह्म की 'एकता' का जो निश्चय किया है, वही 'ज्ञान का स्वरूप' है, और–सर्व प्रकार के कर्मों से रहित होके 'ब्रह्माकार–वृत्ति'को धारण करके विचरना' ही ज्ञान का 'फल' है। जैसा अज्ञान काल में शरीर में अहंकार था कि–मैं शरीर हूँ, वैसा ही अहंकार ज्ञान होने पर शुद्ध आत्मा में होता है, इसी को ज्ञान की 'अवधि कहते हैं। इस रीति स ज्ञान रत्न का कथन किया।

॥ इति श्रीज्ञानरत्नम् समाप्तम् ॥

[१३]

अथ जीवन-मुक्त-रत्न ।

सवैया छन्द

जीवन मुक्त भये जग में, जिन आतम पूरण ब्रह्म निहारया । पिंडरु प्राण के संयोगहु ते, भेद अरु भ्रांति का मूल उखारया ॥ प्रारब्ध संयोग से देह वहै नित, संचित और आगामी को जारया ॥ शुष्क तृणवत् भरमत है तन, इष्ट अनिष्ट अदृष्ट अधारया ।

अर्थ यह है कि–जगत् में जीवन मुक्त वही है, जिसने आत्मा को "परिपूर्ण-ब्रह्म" रूप करके जाना है । पिंड प्राण के संयोग होने से पंच प्रकार की जो भ्रांति है, सो दिखाते हैं:–भेद–भ्रांति, कर्त्ता भोक्तापने की भ्राति, संग की–भ्राति, विकार–भ्रांति, और ब्रह्म से भिन्न जगत् के सत्यपने की भ्रांति, इन पंच प्रकार की भ्रांति की निवृत्ति जिन पंच दृष्टांतों से की जाती है, वे दृष्टांत यह हैं.—

बिंब प्रतिबिंब के दृष्टांत से भेद भ्रांति की निवृत्ति होती है, स्फटिक में लाल वस्त्र के लाल रंग की प्रतीति के दृष्टांत से कर्त्ता, भोक्तापने की भ्राति की निवृत्ति होती है, घटाकाश के दृष्टात से संग-भ्राति की निवृत्ति होती है, रज्जु में कल्पित सर्प के दृष्टात से विकार–भ्राति की निवृत्ति होती है और कनक में कुंडल के दृष्टात

से ब्रह्म से भिन्न जगत के सत्यपने की भ्रांति की निवृत्ति होती है इस प्रकार की भ्रांति से जो नाना प्रकार का भेद भासता है उस भेद का और भ्रांति का मूल, कहिये जो–'अज्ञान' उसकरणा, अर्थात्–ज्ञान रूपी असङ्ग शस्त्र से जिसने काट दिया है, और जिसका प्रारब्ध के अनुसार व्यवहार होता है, और जिसने संचित और आगामी को "ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहु पण्डितम्बुधा" उस ज्ञान रूपी अग्नि से जला दिया है और सूखे तृण की नाई प्रारब्ध के बल से जिसका शरीर संसार में फिरता है। इष्ट कहिये अनुकूल और अनिष्ट कहिये प्रतिकूल अदृष्ट इन दोनों के बल से वह विचरता है, इस प्रकार अहंकारता के भाव से रहित 'जीवन-मुक्त' पुरुषों का व्यवहार होता है।

ये सारा व्यवहार ऐसा है कि–जैसो भौंरों की संध्या होती है, और जैसे कुम्हार डंडा लगा के चाक को फिरा देता है, तैसे ही प्रारब्ध रूपी डंडे से शरीर रूपी चक्कर फिरता है, जितना वेग चक्कर में पड़ता है, उतने समय तक फिरता है और वेग घटने से ठहर जाता है। तैसे ही प्रारब्ध रूपी वेग के घटने से शरीर रूपी चक्कर शांत हो जाता है।

परन्तु–सर्व ज्ञानवान् जीवन–मुक्तों का व्यवहार एकसा नहीं होता है क्योंकि–प्रारब्ध कर्म सब के विलक्षण होते हैं। प्रारब्ध के अनुसार व्यवहार भी विलक्षण होता है। किसी का प्रारब्ध कर्म

'राज–पालन' का ही होता है, जैसे–जनक राजा का। किसी का प्रारब्ध 'भिक्षावृत्ति' का हेतु होता है, जैसे–दत्त, जड़ भरतादिक। किसी का प्रारब्ध कर्म ज्ञान से उत्तर काल मे 'निवृत्ति' का हेतु होता है, जैसे याज्ञवल्क्य आदि का। किसी का कर्म ऐसा भी होता है, कि ज्ञान से उत्तरकाल में 'अधिक भोगों में प्रवृत्ति' का हेतु हो, जैसे–सिखरध्वज का। इस प्रकार जीवनमुक्त महात्माओं का कहीं तो प्रवृत्ति का व्यवहार और कहीं निवृत्ति का व्यवहार देखने और सुनने में आता है।

परन्तु–प्रारब्ध के विलक्षण होने से व्यवहार भी विलक्षण ही होता है। परमार्थ में तो सभो का एकही निशाना है, सो निशाना क्या है? "मैं ब्रह्मस्वरूप हूँ" ऐसा जो जानने का है, सो एकही बात है। इस में किंचिन्मात्र भी भेद नहीं है, और जितना व्यवहार भेद प्रतीत होता है, सो सभी 'प्रारब्ध–कर्म' से भासता है। सो प्रारब्ध भी ऐसा है, जैसे–शुक्ति में रजत कल्पित होता है, तैसे–'मैं ब्रह्म-आत्मा सर्व का अधिष्ठान होने से, मेरे में कर्त्ता, क्रिया, कर्म सब कल्पितरूप हैं"।

फिर कोई तो लिंग सन्यास धारण करके विचरते हैं, कोई तीर्थ में ही प्रारब्ध के आधीन विचरते हैं, कोई विधि कर्म को ही करते हैं, और कोई विधि को नहीं भी करते। परन्तु–जैसे आकाश धूवें में लिपायमान नहीं होता है, तैसे ही जीवन्मुक्त किसी भी कर्म

से लिपायमान नहीं होते हैं, क्योंकि—वे निस्पृही हैं। जिनको मुक्ति की भी इच्छा नहीं होती है, उनके समान और कोई मनुष्य, देवता तथा वर्णाश्रम वाला नहीं होता है, इसी से उनको 'अति–आश्रमी' और 'अति–आश्रय' भी कहते हैं। एस जीवन मुक्त विद्वान् किसी पुरुष पाप कर्म से लिपायमान नहीं होते हैं, चाहे वे किसी विधि कर्म को करें चाहे न करें।

यह सुन शिष्य शंका करता है—"हे भगवन्! जिन संध्या गायत्री आदि कर्मों को पाप निवृत्ति के वास्ते वेद ने कथन किया है; उन कर्मों को "जीवन–मुक्त" नहीं करेगा–तो उसको भी पाप होगा?" इस पर से गुरु कहते हैं—

'हे शिष्य! वेद ने पाप निवृत्ति के वास्ते संध्या गायत्री कर्म का जो कथन किया है, सो सब दिन तथा–सब पुरुषों के वास्ते करने को नहीं कहा है। किन्तु–किसी काल में उनके करने का निषेध भी किया है, जैसे—सूतक पातक में उनका निषेध भी किया है। ऐसे हो ज्ञानवान् के लिये भी सर्व कर्मों का निषेध ही कथन किया है, क्योंकि—उनके घर में सूतक और पातक दोनों होते हैं।

कुण्डलिया

ममता माई मरि गई, पुत्र उपजा बोध ॥ सूतक पातक दो हुये, घर में रही न सोध ॥ घर में रही

न सोध कैसे अब करिये सन्ध्या ॥ शास्त्र वर्जित कर्म करे सोई जानो अन्धा ॥ गुप्त माहिं किरिया लखे सो नर मूरख जान ॥ सन्ध्या गायत्री विना सदा एक निरवान ॥ १ ॥

जिसके घर में एक सूतक के होते सन्ध्या गायत्री का निषेध कहा है; फिर जिसके यहाँ 'सूतक, पातक' दोनों इकट्ठे हों, उसको क्या करना चाहिये ? यह तो निषेध रूप ही है, क्योंकि--जीवन मुक्त ज्ञानवान् पुरुष विधि के भी किंकर नहीं होते हैं। वे तो विधि और निषेध दोनों के शिर पर पैर धर के वर्तते हैं। केवल प्रारब्ध के ही आधीन उनका व्यवहार होता है। उनकी क्रिया का नियम नहीं होता है, इसी से उनको जीवन्मुक्त कहते हैं। शिष्य शंका करता है—

"हे भगवन् ! यह जो जीवनमुक्त के सम्बन्ध में आपने कहा है-सो तो जब सिद्ध हो, सो ऐसा होता है, परन्तु--पहिले 'जीवत्वबन्ध" क्या है ? सो आप कृपा करके बताइये"।

गुरू कहते हैं-'हे शिष्य ! तीन शरीर और पंच कोषों में जो कर्त्ता भोक्तापने का परिछिन्न अहंकार" हो रहा है, यही जीवत्वबन्ध" है। जैसे चोर आदि के वास्ते कारागृह बन्धन होता है और उनके हाथों में हथकड़ी, पैरों में बेड़ी, गले में तौक-जंजीर, और हाथ रस्सी से बाँधकर, उसे कारागृह में रोक

से लिपायमान नहीं होते हैं, क्योंकि—वे निरहाही हैं। जिनको मुक्ति की भी इच्छा नहीं होती है, उनके समान और कोई मनुष्य, देवता तथा वर्णाश्रम वाला नहीं होता है, इसी से उनको 'अति-आश्रमी' और 'अति-ब्राह्मण' भी कहते हैं। ऐसे जीवन मुक्त विद्वान् किसी पुण्य पाप कर्म से लिपायमान नहीं होते हैं, चाहे वे किसी विधि कर्म को करें चाहे न करें।

यह सुन शिष्य शंका करता है—"हे भगवन्! जिन संध्या गायत्री आदि कर्मों को पाप निवृत्ति के वास्ते वेद ने कथन किया है, उन कर्मों को "जीवन-मुक्त" नहीं करेगा—तो उसको भी पाप होगा?" इस पर से गुरु कहते हैं:—

'हे शिष्य! वेद ने पाप निवृत्ति के वास्ते संध्या गायत्री कर्म का जो कथन किया है, सो सब दिन सदा—सब पुरुषों के वास्ते करने को नहीं कहा है। किन्तु—किसी काल में उनके करने का निषेध भी किया है, जैसे—सूतक पातक में उनका निषेध भी किया है। ऐसे ही ज्ञानवान् के लिये भी सर्व कर्मों का निषेध ही कथन किया है, क्योंकि—उनके घर में सूतक और पातक दोनों होते हैं।

कुण्डलिया

ममता माई मरि गई, पुत्र उपजा बोध॥ सूतक पातक दो हुये, घर में रही न सोध॥ घर में रही

उस परिछिन्न मलिन अहङ्कार को छोड़ देता है, तब यह बंध से छूट जाता है। यही उसका 'जीवन-मोक्ष' है। स्थूल शरीर के और प्राण के संयोग रहते "बंध भ्रान्ति की निवृत्ति" और "ब्रह्माकार वृत्ति का स्थिति" को ही जीवन्मोक्ष कहते हैं"। जीवन्मुक्ति को सुन के प्रसन्न चित्त होकर शिष्य पूछता है-"हे भगवन्! यह जो आपने जीवन्मुक्त का कथन किया है-सो उसका कारण कौन है? और उसका स्वरूप तथा-फल क्या है? और उसकी अवधि किस प्रकार है? सो आप कृपा करके बताइये"।

गुरु कहते हैं-"हे शिष्य! पूर्व जो जीव ब्रह्म का एकत्व रूपी दृढ निश्चय को अपरोक्ष-ज्ञान कहा था, सो दृढ अपरोक्ष-ज्ञान ही जीवन-मुक्ति का कारण है, और पूर्व कहा है कि-शरीर के होते बंध भ्रान्ति को निवृत्ति और ब्रह्माकार-वृत्ति की स्थिति ही जीवन्मुक्त का स्वरूप है। जीवन्मुक्ति के पाच प्रयोजन कहे हैं, सो ये हैं, 'ज्ञान-रक्षा' विष्णु, वादाऽभाव, तथात-प, दुःख की निवृत्ति और सुख को प्रगटता। ये जो पाच प्रयोजन कहे हैं, सो ही जीवन्मुक्ति का फल है, और विदेह मुक्ति पर्यंत उसकी अवधि है। वेद रूपी समुद्र से अनेक साधन रूपी यत्न करके विद्वान् पुरुषों ने जीवन्मुक्ति रूपी रत्न निकाला है यही उसमें लक्ष्मी के समान रत्न पना है। जीवन्मुक्त पुरुषों के लक्षण इस प्रकार होते हैं।

देते हैं, और पहरेदार सिपाही उसकी रखवाली करते हैं, यदि वह कभी बाहर निकलना चाहे, तो उसके सिर में डंडा मारते हैं। वैसे ही—अज्ञानी पुरुषों के ममतारूपी तौक गले में पड़ा है, और ममतारूपी बेड़ी पैरों में पड़ी है, और पदार्थों में जो प्रीति है, सो ही रस्सी है, इससे हाथ बाँधके रखा है, और अज्ञान रूपी कारागृह में बाँधकर रखा है, और मोह रूपी सिपाही पहरेदार रहता है, यदि—वह कभी अज्ञान रूपी कारागृह से निकलना चाहे, तो मोह रूपी सिपाही 'अहं,मम' रूप डंडा मारता है, तब वह बंध में पड़ा पड़ा रोता है, और नाना प्रकार के जन्म—मरण रूपी दुःखों को भोगता है। यही इस जीव को "जीवतबन्ध" है। और और यह अपने आपही बंधा है किसी दूसरे ने नहीं बांधा है, जैसे—मर्कट मुट्ठी बांध के छोड़ता नहीं है, और जैसे कोई पुरुष किसी स्तंभ को बाथ भर ले और समझे कि—'मुझे वृक्ष ने पकड़ा है' वास्तव में उस पुरुष ने ही वृक्ष को पकड़ा है और वह उसको छोड़दे तो छूट जाता है।

दोहा—

मुझे नहिं पकड़्या जगत् ने, तैनेहि पकड़्या आनि।
ज्यों नलिनी का सूवटा, घोले पकड़्या जानि॥

इसी तरह तीन शरीर और पंच कोषों में इस जीवात्मा ने ही अहंकार किया है, यही उसका 'जीवत–बंध' है। जब वह

आनिये ॥ भेद औ अभेद नाहीं, विधि औ निषेध नाहीं, आन जान खेद नाहीं, गुप्तरूप जानि के भर्म सब भानिये ॥ १ ॥

अर्थ यह है कि–यह जो विदेह मोक्ष है इसमें अने प्रकार का शास्त्रकारों का कथन है; इसमें किस की बात मानें, और किसकी नहीं मानें ? क्योंकि–"कोई तो विदेह मोक्ष में 'ईश्वर से अभेद' कहते हैं, और कोई 'शुद्ध–ब्रह्म से अभेद' कहते हैं, कोई 'किसी लोक में जाने को' मोक्ष कहते हैं, कोई 'पुनरावृत्ति' नहीं मानते हैं और कोई 'पुनरावृत्ति' मानते हैं। इसी प्रकार कोई 'कर्म से मोक्ष' मानते हैं, और कोई 'शिक्षा से हीं मोक्ष' मानते हैं। इस तरह कई लोग अपनी अपनी कल्पना के अनुसार अनेक बातें करते हैं।"

हम भी अपनी कल्पना के अनुसार कहते हैं कि–"बन्ध और मोक्ष' दोनों ही 'कल्पना' मात्र होने से वास्तव से 'कल्पित' हैं और ये सब 'भ्रमरूप' हैं। सर्व का अधिष्ठान गुप्त आत्मा है। उसमें भेद–अभेद, विधि–निषेध, आना, जाना, पुण्य–पाप, सुख–दुख, आदि जो अविद्या का जाल प्रतीत होता है, सो सभी "भ्रमरूप" है। परन्तु–जैसे रज्जु के अज्ञान से सर्पादिक भ्रम भासते हैं, और रज्जु के अपरोक्ष ज्ञान से सभी भ्रम शात हो जाते हैं, तैसे ही–गुप्त आत्मा के अज्ञान से आना-जाना, बन्ध–

श्रुति —(दत्तोपनिषद्)

' नदण्डो नशिखा नयज्ञोपवीतं, नाच्छादनं चरति परमहंस "

श्लोक —कन्थाकौपीनवासास्तु दण्डधृग् ध्यानतत्पर'॥
एकाकी रमते नित्यं, तद्देवा ब्राह्मणं विदु' ॥१॥
निराशिषमनारम्भं, निर्नमस्कारमस्तुतिम् ।
क्षीणञ्च क्षीणकर्माणं, त देवा ब्राह्मणं विदु'॥२॥
न जाति कारण तात ! गुणा कल्याणकारणम् ।
स्थित शुचि ब्राह्मणोऽपि, तद्देवा ब्राह्मणं विदु ॥३॥

॥ इति श्री जीवन–मुक्त–रत्न समाप्तम ॥

[१४]

अथ विदेह–मुक्त–रत्न ।

कवित्त–विदेह मोक्ष के मझार पड़ा झगड़ा अपार, कहें बात जो हजार कहो कौन से की मानिये ॥ कोई तो कहत यह ईश्वर से अभेद होय, कोई तो कहत शुद्ध ब्रह्म से जानिये ॥ और कोई कहे किसी लोक माही मोक्ष होत, कोइ तो कहत तासे ऊपटाइ

बनता है। तैसे ही बिंब जो शुद्ध-चेतन और प्रतिबिंब 'जीव' व 'ईश्वर' जल दर्पण की नाईं है।

ईश्वर में माया और जीव में अविद्या-रूपी उपाधि है। एक अविद्या-उपाधि के निवृत्त होने से माया-उपाधि वाला जो ईश्वर-प्रतिबिंब है, उसके साथ जीव-प्रतिबिंब की 'एकता' कहना नहीं बनता है, और बिंबरूप जो शुद्ध-चेतन है, उसमें अभेद कहना तभी बनेगा, जब उसमे भेद हो? अब -उससे किसी वस्तु का भेद कहना बनता नहीं, क्योंकि-"चेतन में वास्तव में तो कुछ है ही नहीं, और है सो कल्पित है।" ऐसा कहें-तो उससे कुछ भेद सिद्ध होता नहीं है। क्योंकि-जैसे कल्पित रजत से शुक्ति मे भेद होता नहीं है, तैसे-ही मुझ शुद्ध आत्मा में माया, अविद्या, उपाधि, जिसमें प्रतिबिंब, ईश्वर, तथा-जीव और इनके सर्वज्ञता, अल्पज्ञता, आदि जो धर्म हैं, सो सब मेरे में कल्पित होने से भेद और अभेद कहना नहीं बनता है। इसलिये सर्व, द्वैत कल्पना से रहित एक मैं ही परिपूर्ण हूं।

श्लोकः—

किं करोमि क्व गच्छामि, किं गृह्णामि त्यजामि किम्।
आत्मना पूरितं सर्वं, महाकल्पाम्बुना यथा॥ १॥

जब इस प्रकार ज्ञान के शरीर का बोध होगा, तब पुनरा वृत्ति से रहित हो सकेगा। इसी को विदेह मोक्ष कहते हैं।

दिक, आदि जो कुछ प्रतीत होता है; सो सभी आत्मा के 'यथार्थ-ज्ञान' से निवृत्त हो जाता है। फिर कहीं जाने की इच्छा नहीं होती है, जैसे—घट के फूटने से घटाकाश कहीं भी नहीं जाता है, क्योंकि—आकाश नहीं हो; तब तो आना—जाना सम्भव हो सकता है, परन्तु—आकाश तो सर्वत्र परिपूर्ण है फिर जाता कहां ?"

शिष्य शंका करता—"हे भगवन्! घट के फूटने से घटाकाश का मठाकाश में अभेद होता है, आप कैसे कहते हो कि—घटाकाश कहीं नहीं जाता है?" इसी प्रकार 'शरीररूपी जो घट है' उसके नाश होने से घटाकाशरूपी जो जीवात्मा' का 'मठाकाशरूपी ईश्वर' से अथवा—'महाकाशरूपी शुद्ध-ब्रह्म' से अभेद कैसे नहीं होता है? मेरे विचार तो जरूर "जीवात्मा का अभेद" मानना चाहिये।" इस शंका के उत्तर में—

गुरु कहते हैं—"हे शिष्य! ईश्वर से जीव का अभेद मानें सो नहीं बनता है। क्योंकि—जैसे एक ही बिंब का एक प्रतिबिंब तो दर्पण में होता है; और दूसरा जल में होता है, तब एक उपाधि के निवृत्त होने से दूसरी उपाधि के प्रतिबिंब से एकता कहीं सो नहीं होगी। और जो बिंबसे अभेद कहें, तो यह भी नहीं बनता। क्योंकि—प्रथम जिसका भेद होवे, उसी का अभेद होता है, और जिसका उपाधि से भेद प्रतीत हो; उसका भेद नहीं होता है—वह उसका स्वरूप ही है। इसलिये बिंब से भी अभेद कहना नहीं

बनता है । तैसे ही बिंब जो शुद्ध-चेतन और प्रतिबिंब 'जीव' व 'ईश्वर' जल दर्पण की नाईं है ।

ईश्वर मे माया और जीव में अविद्या-रूपी उपाधि है । एक अविद्या-उपाधि के निवृत्त होने से माया-उपाधि वाला जो ईश्वर-प्रतिबिंब है, उसके साथ जीव-प्रतिबिंब की 'एकता' कहना नहीं बनता है, और बिंबरूप जो शुद्ध-चेतन है, उससे अभेद कहना तभी बनेगा, जब उसमें भेद हो ? अत -उससे किसी वस्तु का भेद कहना बनता नहीं, क्योंकि-"चेतन में वास्तव मे तो कुछ है ही नहीं, और है सो कल्पित है ।" ऐसा कहे-तो उससे कुछ भेद सिद्ध होता नहीं है । क्योंकि-जैसे कल्पित रजत से शुक्ति मे भेद होता नहीं है, तैसे-ही मुझ शुद्ध आत्मा में माया, अविद्या, उपाधि, जिसमें प्रतिबिंब, ईश्वर, तथा-जीव और इनके सर्वज्ञता, अल्पज्ञता, आदि जो धर्म हैं, सो सब मेरे में कल्पित होने से भेद और अभेद कहना नहीं बनता है । इसलिये सर्व, द्वैत कल्पना से रहित एक मैं ही परिपूर्ण हूं ।

श्लोकः—

किं करोमि क्व गच्छामि, किं गृह्णामि त्यजामि किम् ।
आत्मना पूरितं सर्वं, महाकल्पाम्बुना यथा ॥ १ ॥

जब इस प्रकार जान के शरीर का बोध होगा, तब पुनरा वृत्ति से रहित हो सकेगा । इसी को विदेह मोक्ष कहते हैं ।

शिष्य कहता है,—' हे भगवान् ! यह जो आपने विदेह मोक्ष कहा; इसमें—उत्तम—देश, उत्तरायण—काल और किसी सिद्ध—आसन आदिक की अपेक्षा तो होगी ?" ऐसी शंका के होने पर—

गुरु कहते हैं—"हे शिष्य ! जैसा पूर्व में जीवन्मुक्त पुरुष का जो वर्णन किया है उसके देह पात होने में किसी उत्तम देश का उत्तरायण—काल का, और आसन—विशेष का किसी वेद, शास्त्र ने विधान नहीं किया है। क्योंकि—ज्ञान से उत्तर काल में जीवन—मुक्त अवस्था में किसी वेद—शास्त्र की विधि उस पर नहीं है, तो देह के अन्त होने पर विधि का होना कैसे सम्भव होगा ? ऐसे—विद्वान् पुरुष का जीते समय तथा मरते समय जो व्यवहार होता है, सो सारा ही प्रारब्ध के आधीन होता है, और कोई विधि उस पर नहीं होती है, इससे किसी भी ध्यानादि की उसको परवाह नहीं है।

श्लोक'—

तीर्थे स्वपचगेहे वा, नष्टस्मृतिरपि त्यजन् ।
ज्ञानस्य समकाले हि, विमुक्तः केवलं यतिः ॥

इसी से जीवन्मुक्त पुरुष को विदेहमोक्ष के वास्ते कोई भी विधि आदिक की अपेक्षा नहीं है।

चाहे तीर्थ में, चाहे स्वपच के गृह में पिंड प्राण का वियोग होवे चाहे व्याधि से हाहाकार करते हुये, चाहे सावधान होकर

ब्रह्म चिंतन करते हुए, किसी भी प्रकार से तिसके शरीर का पात हो, उसने तो जिस काल में गुरु द्वारा महावाक्यों का उपदेश श्रवण किया, उसी काल से वह सर्व शोको से रहित है, और उसी काल से मुक्त है। फिर उसको कौन विधि की जरूरत है ? इस प्रकार के जो ज्ञानवान् निरंकुश हैं, उनको किसी वेद–विधि की शंका नहीं होती है, क्योंकि–वे वेद के दास नहीं होते है, और किसी वर्ण–आश्रम का भी अभिमान उनको नहीं रहता है।

श्रुतिः—

वर्णाश्रमाऽभिमानेन श्रुति–दासो भवेन्नरः।
वर्णाश्रमविहीनश्च वर्तते श्रुतिमूर्धनि ॥ १ ॥

अर्थ यह है कि—जो वर्णाश्रम का अभिमानी होता है, सो ही वेद का किंकर होता है, और जो जीवन्मुक्त विद्वान् है, सो किसी वर्णाश्रम का० अभिमानी नहीं होता है, इसी से उसपर वेद का भी डंडा नहीं है, इसलिये वह सब वेद शास्त्र को उल्लंघन करके वर्तता है। यही कारण है कि–उसके विदेह मोक्ष में कोई भी विधि नहीं है, क्योंकि–मुक्त तो ज्ञान काल से ही है, परन्तु–शरीर का बोध होने से 'विदेह–मोक्ष' कहा जाता है।

और यह जो साधन साध्य रूप जितना कथन किया है, सो सारा तेरी उक्त शंका की निवृत्ति के वास्ते है, क्योंकि–पूर्व ग्रन्थ

शिष्य कहता है,–'हे भगवान् ! यह जो आपने विदेह मोक्ष कहा; इसमें–उत्तम–देश, उत्तरायण–काल और किसी सिद्ध–आसन आदिक की अपेक्षा तो होगी ?" ऐसी शंका के होने पर—

गुरु कहते हैं—"हे शिष्य ! जैसा पूर्व में जीवन्मुक्त पुरुष का जो वर्णन किया है उसके देह पात होने में किसी उत्तम देश का उत्तरायण–काल का, और आसन–विशेष का किसी वेद, शास्त्र ने विधान नहीं किया है। क्योंकि–ज्ञान से उत्तर काल में जीवन–मुक्त अवस्था में किसी वेद–शास्त्र की विधि उस पर नहीं है, तो देह के अन्त होने पर विधि का होना कैसे सम्भव होगा ? ऐसे–विद्वान् पुरुष का जीते समय तथा मरते समय जो व्यवहार होता है, सो साराही प्रारब्ध के आधीन होता है, और कोई विधि उस पर नहीं होती है, इससे किसी भी ध्यानादि की उसको परवाह नहीं है।

श्लोक—

तीर्थे स्वपचगेहे वा, नष्टस्मृतिरपि त्यजन् ।
ज्ञानस्य समकाले हि, विमुक्त केवलं गति ॥

इसी से जीवन्मुक्त पुरुष को विदेहमोक्ष के वास्ते कोई भी विधि आदिक की अपेक्षा नहीं है।

चाहे तीर्थ में, चाहे स्वपच के गृह में पिंड माया का वियोग होवे चाहे व्याधि से हाहाकार करते हुवे, चाहे सावधान होकर

ब्रह्म चिंतन करते हुए, किसी भी प्रकार से तिसके शरीर का पात हो, उसने तो जिस काल में गुरु द्वारा महावाक्यों का उपदेश श्रवण किया, उसी काल से वह सर्व शोकों से रहित है, और उसी काल से मुक्त है। फिर उसको कौन विधि की जरूरत है? इस प्रकार के जो ज्ञानवान् निरंकुश हैं, उनको किसी वेद-विधि की शंका नहीं होती है, क्योंकि-वे वेद के दास नहीं होते हैं, और किसी वर्ण-आश्रम का भी अभिमान उनको नहीं रहता है।

श्रुतिः—

वर्णाश्रमाऽभिमानेन श्रुति-दासो भवेन्नरः।
वर्णाश्रमविहीनश्च वर्तते श्रुतिमूर्धनि ॥ १ ॥

अर्थ यह है कि—जो वर्णाश्रम का अभिमानी होता है, सो ही वेद का किंकर होता है, और जो जीवन्मुक्त विद्वान् है, सो किसी वर्णाश्रम का अभिमानी नहीं होता है, इसी से उसपर वेद का भी डंडा नहीं है, इसलिये वह सब वेद शास्त्र को उत्क्रमण करके वर्तता है। यही कारण है कि-उसके विदेह मोक्ष में कोई भी विधि नहीं है, क्योंकि-मुक्त तो ज्ञान काल से ही है, परन्तु-शरीर का बोध होने से 'विदेह-मोक्ष' कहा जाता है।

और यह जो साधन ,साध्य रूप जितना कथन किया है, सो सारा तेरी उक्त शंका की निवृत्ति के वास्ते है, क्योंकि-पर्व ग्रन्थ

के आरम्भ में तरे को सुख–प्राप्ति की वांछा हुई थी, सो आत्मा को सुख–रूप न जानने के कारण हुई थी। यह ' सुख–रूप तूही है, तरे से भिन्न और कोई दूसरा है ही नहीं, और तूही सुख–स्वरूप है" इसी के ज्ञात कराने के लिये सत्संग से लेकर विदेह–मोक्ष पर्यंत जो कुछ कथन किया गया है, सो सब तेरी ही दृष्टि को लेकर कहा गया है, हमारी दृष्टि में तो ऐसा है—

श्लोक —

नचोत्पत्तिर्नो निरोधो न च बंधोऽस्ति साधके ॥
न मुमुक्षुर्न मुक्तश्च इत्येषा परमार्थता ॥ १ ॥

अर्थ यह है कि–"हे शिष्य ! कोई उत्पन्न ही नहीं हुआ, तो नाश किसका होवे ? और प्रथम कोई बन्ध ही नहीं, तो उस के वास्ते साधन कैसे होवे ? और कोई मुमुक्षुही नहीं, तो मुक्त कहां से होवे ? ये तो परमार्थ से है ही नहीं" हम तो ऐसा ही जानते हैं। तू भी ऐसा ही जान। 'सुख की प्राप्ति की और प्राप्त की प्राप्ति की इच्छा त्यागकर तू सदा चेतन–आत्मा सुखरूप प्राप्त ही है"। इस बात को सुन के शिष्य कहता है—

"हे भगवन् ! मैं चेतन आत्मा सुखरूप और नित्य–प्राप्त ही हूं इसकी प्राप्ति सम्बन्धी मेरी शंका निवृत्त होगई है। अब मरे को कुछ भी शंका नहीं है, परन्तु–यह जो आपने विदेह–मोक्ष

कहा इस का कारण कौन ? और इसका स्वरूप तथा-फल क्या है ? और इसकी अवधि क्या है ? सो बताइये ।"

गुरू कहते हैं—"हे शिष्य ! सत्संग से लेकर ज्ञान पर्यंत जो साधन-साध्य पदार्थ कहे हैं; सो परम्परा से तो सभी कारण हैं; परन्तु-साक्षात् कारण 'जीवन्मुक्ति' ही है, और 'पुनरावृत्ति' से रहित होना; इस का स्वरूप है । और 'अपने स्वरूप का ज्ञात होना' और उसी की तरफ वृत्तियों का प्रवाह चलना, यही इस का फल है । नदियां जैसे-समुद्र में जाके समाप्त होती हैं, तैसे ही-"ब्रह्म-आत्मारूप समुद्र में ब्रह्माकार वृत्तियों की समाप्ती ही इसकी अवधी है ।

ॐ

॥ इति श्री विदेह-मुक्ति-रत्न समाप्तम् ॥

॥ इति श्री चौदह रत्न सम्पूर्ण ॥
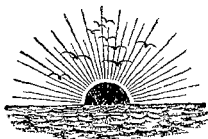
श्रीमहाप्रभु अवधूत श्री १०८ श्री नित्यानन्दजी महाराज।

ॐ

❀ श्रीगणेशाय नमः ❀

अथ गुप्त-ज्ञान गुटका प्रारम्भः

अथ मङ्गलाचरणं लिख्यते

ग्रन्थ की आदि मे मंगलाचरण लिखते हैं, सो मंगलाचरण र प्रकार का होता है, एक वस्तु निर्देश-रूप, दूसरा नमस्कार ा, तीसरा आशीर्वाद रूप-मंगलाचरण होता है । ग्रन्थ की आदि मंगलाचरण चाहिये, क्योंकि-पूर्व वृद्ध जो आचार्य हुये हैं, नको रीति से—

(१)

❀ वस्तु-निर्देश-रूप मंगल ❀

दोहा—

निर्गुण सगुण परमात्मा, वस्तु ताहि पिछान ।
भिन्न भिन्न कीर्तनको, निर्देश हि लेजान ॥

❀ नमस्कार-रूप मंगल ❀

चौपाई—

असुरन को जो करे संहारा । तिनको नमस्कार है म्हारा ।
लक्ष्मी पारवती पति होई । भजतन को सन्तत भजे सोई ॥

❀ आशीर्वाद-रूप मंगल ❀

सोरठा—

शिष्य वांछित स्वयं मांहि, करत प्रार्थना जो नर ।
पावे दूर रहे भ्रांति, आशीर्वाद ताको कहत ॥

(२)

❀ मूल चक्र सवैया प्रारम्भ ❀

मूल चक्र मांहि गणेश विराजत । स्वाद चक्र मांहि कियो ब्रह्मवासा ।
नाभि कमल में विष्णु विश्वम्भर । हृदय कमल महँ महादेव निवासा ।
कंठ कमल में बसे देवी नित । त्रिकुटी कमल महँ सूर्य उजासा ।
सहस्रकमलदल आप विराजत । जाके प्रकाश सभी परकासा ॥
मम शुभ स्वरूप से न्यारो नहीं कछु । सबको समाऊँ कहो अवभासा ।

(३)

❀ लावनी दोहों वाली अज्ञनाशक ❀

लावनी सुन बारहमासी । कटे सब जन्म-मरन फाँसी ॥ टेक—
चैत में चिंता यह कीजे । कि यह तन घड़ी घड़ी छीजे ॥
कीजिये इसमें कछु विचार । कौन वस्तु है सार असार ॥

दोहा—

सत्य वस्तु है आत्मा, मिथ्या जगत असार ।
मिथ्या नित्य विवेक यह, कीजे बात विचार ॥

फिरे क्या मथुरा अरु काशी ॥ १ ॥ टेक—
बैसाख यह वक्त तुम्हें पाया । सभी झूँठी जानो काया ।
यहाँ कोई रहने नहीं पाया । काल ने सब कोई खाया ॥

दोहा—

भोग लोक परलोक के, तिनका त्यागो राग।
तिनकी रहे न कामना, कहत नाहि वैराग॥

जगत से रहना ऊदासी॥ ॥

जेठ में यतन यही करना। मिटै सब जनम और मरना।
बिषयते मन इन्द्रिय परिहरना। लीजिये सन्तन का शरना॥

दोहा—

श्रद्धा करि गुरु वेद में, मनको कर समाधान।
कर्म अकर्म के साधन त्यागो,सहो मान अपमान॥

तितिक्षा तोसों परकासी।

षाढ में सत संगत करना। वहा तुझे पावे सब भरमा॥
तुझे वहां होवे जिज्ञासा। मोक्ष की लगे फेरि आशा॥

दोहा—

परमानंद की प्राप्ति, सब अनर्थ का नास।
यह इच्छा मन में रहे, कहैं मुमुक्षुता तास॥

तिसी से पावे अविनासी॥ ४॥

सावन में शरनागत होना। पैर सतगुरू के धो पोना॥
साफ होवे तेरा सीना। रग फिर रैनी का दीना॥

दोहा—

तत्वमसि के अर्थ का, करैं तोहिं परकास।
संशय शोक नसैं सवतेरे, होय अविद्यानास॥

होय अमरा पुर का वासी॥ ५॥

५ भादों में भरम सभी नासै। प्रेम भक्ती गुरु परकासै ॥
ईश्वर से अधिक जान सेवो । सुफल मानुषतन कर लेवो ॥

दोहा—

ब्रह्म वेत्ता वक्ता अति, गुरु का लक्षण जान ।
इच्छा जाने मोक्ष की, सोई शिष्य पहिचान ॥

बुद्धि जब शिष्य की परकासी ॥ ६ ॥

क्वार में करना यही उपाय । तत्त्वमसि सरवन में मनलाय ॥
युगति से करो मनन अभ्यास । फल पाकर होय निदिध्यास ॥

दोहा—

निदिध्यासन के अन्त में, ऐसा होवे भान ।
ब्रह्म आत्मा एक है, लखि यही ब्रह्म का ज्ञान ॥

हानि होय जिससे चौरासी ॥ ७ ॥

कातिक में कर्म सभी नासा । ज्ञान जब उर में परकासा ॥
आपना आप रूप भासा । उसी का देखूं तमासा ॥

दोहा—

वार पार हमरा नहीं, नहिं देश काल के अंत ।
मैं ही सर्वंचित एक हूँ सब वस्तू का तंत ॥

मैं ही हूँ चेतन अविनासी ॥ ८ ॥

अगहन में ज्ञान अग्नि जागी । लोक सब रागन को त्यागी ॥
पदवि दिय शिव ब्रह्मा विष्णू । फूँकि दिय राम और कृष्णू ॥

दोहा—

जलत जलत ऐसी बढ़ी, जिसका वार न पार ।
ईश्वर जीव ब्रह्म अरु माया, फूँकि दिया संसार॥

विना ईंधन नहिं परकासी ॥ ९ ॥

पूष में पूरण आये आप । जहां कोई नहीं पुन्य नहिं पाप॥
जपें अब कहा कौन का जाप । छूट्या सत्र जन्म मरण संताप॥

दोहा—

ज्ञाता ज्ञान न ज्ञेय कछु, ध्याता ध्यान न ध्येय ।
मम निज शुद्ध सरूप में, उपादेय नाह हेय ॥

करूं अब किसकी तल्लासी ॥ १० ॥

माह में मिटी मिलन की भूख । जहा कोइ नहि आशिक माशूक ॥
इश्क फिर कैसे वहाँ होवे । काहे की वृथा काल खोवे ॥

दोहा—

तुझ चेतन शुद्ध सरूप में, नहिं आशिक माशूक ।
लक्ष रूप में मारनिशाना, कहा वृथा विलोवे थूक॥

करावे क्यों जग में हाँसी ॥ ११ ॥

बसंत ऋतु फागुन में आवे । खेल सत्र प्रारब्ध रचवावे ॥
अतर गुलाल ज्ञान रोरी । खेलते भर भर के झोरी ॥

दोहा—

होली अविद्या फूँकि के, होगये गुप्तानंद ।
समझेंगे कोइ सुघर विवेकी, क्या समझे मति मंद॥

जगत की उड़ी धूलि खासी ॥ १२ ॥

पट के पर मौका जय जया । पाइ जब अधिक मास आया ॥
कलेवर जिसमें पदलाया । लावनी तेरह मास गाया ॥

दोहा—

अधिक मासका अर्थ सुन, नर तन अधिक विज्ञान ।
कलेवर पद्‌प्या यहि जानो, आप रूप का ज्ञान ॥

जहां नहिं दास और दासी ॥ १३ ॥

—o—

४ लावनी

पिय जो गुप्त ज्ञान गुटका । दूरि होवे सब ही खटका ॥टेक॥
किया है इसका जिसन पान । नरों में उसही को नर जान ॥
और तो सब ही जानो नार । गार्गी ने सभा में कही पुकार ॥

दोहा—

वृहदारण्य के बीच में लिखा यही संवाद ।
वाचक्नवी के वचन सुन, पंडितों किया विवाद ॥

बोध बिनु जाय मरे भटका ॥ १ ॥ टेक ॥
कोई तो रखते हैं उपवास । कोई तो करते कम उपास ॥
किसी ने जाय किया वनवास । कोई तो बाग में फिरे उदास ॥

दोहा—

कोई चौरासी घूमी तपैं, करे जन्तर मंतर लेख ।
चाम जलावें आग में, सर मरैं न ज्ञान का लेख ।

भरम कैसे छूटे शठ का ॥ २ ॥

किसी के गल में पड़ा सन्यास । कोई तो बने ईश का दास ॥
कोई तो सन का बताते जोट । किसी ने कीना घोटम् घोट ॥

दोहा—

कोइ पढ़ै व्याकरण काव्य कोष को, करें वेद के पाठ ।
पंडित ह्वै करि भव में विचरें, खूब लगाया ठाठ ॥

समझ किन वातन में अटक्या ॥ ३ ॥

करे निर् वन्धों का सत् संग । तभी कुछ चढ़े ज्ञान का रंग ॥
तभी जीते माया का जंग । भर्म को उतर जाय सब भंग ॥

दोहा—

गुप्त गलीचो बैठकर, कीजै यही विचार ।
ब्रह्मरूप है आत्मा, सब झूंठा जग व्योहार ॥

खेल सब बाजीगर नटका ॥ ४ ॥

—०—

५ लावनी

सोई नर जानो ब्रह्मचारी । जिसने वश कीनी सब नारी ॥टेक॥
प्रथम गुरुकुल में किया वास । फेर किया विद्या का अभ्यास ॥
जिसने सब तजी जगत की आस । नहीं कछु रखते अपने पास ॥

दोहा—

आठ भांति मैथुन कहा, ताका कीना त्याग ।
कंचन कांच एक करि जानें, नहीं किसी में राग ॥

करी आतम पद की त्यारी ॥ १ ॥ टेक ॥

विवेक वैराग्य हुये सम्पन्न । विषय से रोकि लियो है मन ॥
प्रगटे जिनके पूरण पुन्य । जगत में वही पुरुष है धन्य ॥

दोहा—

ऐसी धारना धारिके, इच्छा उपजो येह ।
'कोह' को ससार है, का देही को देह ॥

यात जिन ऐसी विचारी ॥ १ ॥

फेर किया सतगुरु का सरना । विषों से परहेज करना ॥
मिटे सब जन्म और मरना । दूर होवे सब ही भरमा ॥

दोहा—

गुरु ऐसी कृपा करो, मिटैं भेद का पाप ।
भेद भर्म छूटे बिना, मिटै नहीं सताप ॥

अविद्या छूटि जाय सारी ॥ २ ॥

जो नहीं करते हैं यह काम । साई मूढ़ ब्रह्मचारी जान ॥
बढ़ाय केश और दाढ़ी । भस्म वही लावत हैं गाढ़ी ॥

दोहा—

करना था सो ना किया, दोउ कुल खादी लाज ।
झूठे स्वांग बनावता, सरै न एकहु काज ॥

गई मूरख की मतिमारी ॥ ४ ॥

६ लावनी

सूब सिर क ना धारम धार । मुड़ा छइ मूछ और दाढ़ी ॥टेक॥

कोई गेरू का लगाते रंग। कोई रहते नंग निछंग ॥
गले मे रुद्राक्ष माला। भरम का टूटा नहि जाला ॥

दोहा—

कोइ विद्या का अध्ययन कर, खूब सुनावे बात।
त्याग वैराग्य कहैं औरन को, आप पसारैं हात ॥

लगी है तृष्णा अति गाढ़ी ॥ १ ॥ टेक

बांचते शास्त्र और पुराण। वेद के देते हैं पर मान ॥
लोभ ने ऐसी मति मारी। फिरे ज्यों नारी व्यभिचारी ॥

दोहा—

काम क्रोध मद लोभ की, जब लग घट में खान।
क्या पंडित क्या मूरखा, दोनों एक समान ॥

डाकिनी आशा नहीं काढी ॥ १ ॥

खूब किया तन का चगा साज। बने हैं पडित जी महाराज ॥
और दस मूरख लेलिये सग। लगाते कपड़े मे बड़ा रग ॥

दोहा—

लोगन से यों कहत हैं, हम सन्यासी लोग।
हमको कुछ इच्छा नहीं, सब तज दिये घरके भोग ॥

रहे गंगा सागर खाड़ी ॥ ३ ॥

ऐसे हम देख्ये सन्यासी। पड़ी गल आशा की फांसी ॥
लख्या नहिं चेतन अविनाशी। कहे हम बसते हैं काशी ॥

विवेक वैराग्य हुये सम्पन्न । विषय ते रोकि लियो है मन ॥
प्रगटे जिनके पूरण पुन्य । जगत में वही पुरुष है धन्य ॥

दोहा—

ऐसी धारना धारिके, इच्छा उपजी येह ।
'कोई' को ससार है, का देही को देह ॥

भाव जिन ऐसी विचारी ॥ १ ॥

फेर लिया सतगुरु का शरना । तियों से परश्न को करना ॥
मिटे सब भ्रम और मरना । दूर होवे सब ही भरमा ॥

दोहा—

गुरु ऐसी कृपा करी, मिटैं भेद का पाप ।
भेद मर्म छूटे बिना, मिटै नहीं संताप ॥

अविद्या छूटि जाय सारी ॥ २ ॥

जो नहीं करते हैं यह काम । सोई मूढ़ ब्रह्मचारी जान ॥
बढ़ाय केश और डाढ़ा । भस्म नहीं अंगन हैं गाढ़ी ॥

दोहा—

करना था सो ना किया, दोउ कुल खाही लाज ।
झूठे स्वांग बनावता, सरै न एकहु काज ॥

गई मूरख की मतिमारी ॥ ४ ॥

६ लावनी

खुब सिर का ना पोथ्म् घाट । मुछा दाढ़ मूछ और डाढ़ी ॥टेक॥

दोहा—

कर्ता क्रिया कर्म का, छूटा नहिं हंकार।
चाम धर्म अपने कर माने, सोई नर जानो चमार॥

सोई तुम जानो मति का मन्द॥ ३॥

तजो करता मति का हंकार। तेरा है रूप जो अपरंपार॥
गुरु की समझ देख टुकयार। छोड़ सब भेष पंथ आचार॥

दोहा —

तुहिं आतम चेतन शुद्ध है, नहीं कर्म का लेश॥
कर्ता क्रिय कर्म छोड़ि के, देखो अपना देश॥

तुही है आनन्दन का कंद॥ ४॥

—०—

८ लावनी

इस काया नगर मंझार। बसे यक राजनपति राजा॥ टेक॥
राजा है जिसका अपरपार। नहीं कुछ हद बेहद शुमार॥
सदा वह बना रहे यक तार। तिसे कोइ नहिं कर सक्ता छार॥

दोहा—

सदा अखंडित एक रस, जामे लाभ न हान।
सोतो अपना आप है, यों हम लियो पिछान॥

सुधर जावे सबही काजा॥ १॥

और झूठे जानोराजा। काल का सबही है खाजा॥
तिसे कभी काल नहीं खाता। कहीं सो आवे नही जाता॥

दोहा—

काया काशी ना लखी, शिर पर धर्यो सन्यास ।
पद्म कोप अपु तीन को कीना नाहीं साफ ।
मजहब की फाँसी नहीं काटी ॥ ४ ॥

—०—

७ लावनी

मजहब का पड़ा गले में फंद । आपको समझत नाहीं मंद ।टेक
वरण जाती का करके त्याग । फर आश्रम में करते राग ॥
लगी है घरसे दूनी आग । भटकते बोलत जैसे काग ॥

दोहा—

विषय मास की लालसा, तजि दिया आतमरूप ।
औरन को उपदेश सुनायें, आप पड़ा भव कूप ॥
छूटा नहिं पूरण परमानन्द ॥ १ ॥ टेक

करे जो आश्रम का अभिमान । वही नर पशू खर के जान ॥
औरन स चाहत हैं बड़ा मान । मान मद पी मति दागई हान ॥

दोहा—

बुद्धी कर अन्धा हुआ, पड़ा मान मोतियाबिंद ।
दशहु दिशा को पड़ा अन्धेरा, छिप गया आतमपद ॥
फर कैसे हार आनन्द ॥ २ ॥

आश्रमो मानत है करता । वही नर जनमें अरु मरता ॥
गम की अग्नि में जरता । राशि चौरासी में फिरता ॥

दोहा—

कर्ता क्रिया कर्म का, छूटा नहिं हंकार ।
चाम धर्म अपने कर माने, सोई नर जानो चमार ॥

सोई तुम जानो मति का मन्द ॥ ३ ॥

तजो करता मति का हंकार । तेरा है रूप जो अपरंपार ॥
गुरु की समझ देख दुकयार । छोड़ सब भेप पंथ आजार ॥

दोहा —

तुहिं आतम चेतन शुद्ध है, नहीं कर्म का लेश ॥
कर्ता क्रिय कर्म छोड़ि के, देखो अपना देश ॥

तुही है आनन्दन का कंद ॥ ४ ॥

—०—

८ लावनी

इस काया नगर मंझार । बसे यक राजनपति राजा ॥ टेक ॥
राजा है जिसका अपरपार । नहीं कुछ हद बेहद शुमार ॥
सदा वह बना रहे यक तार । तिसे कोइ नहिं कर सक्ता छार ॥

दोहा—

सदा अखंडित एक रस, जामे लाभ न हान ।
सोतो अपना आप है, यों हम लियो पिछान ॥

सुधर जावे सबही काजा ॥ १ ॥

और मूठे जानोराजा । काल का सबही है खाजा ॥
तिसे कभी काल नहीं खाता । कहीं सो आवे नही जाता ॥

दोहा—

आपै राजा आपै परजा, आप कर सब काज ।
आपही बन्यो दीवान मुसद्दी, आपही रहा बिराज ॥

जिमें यह साज सभी साजा ॥ २॥

जहाँ कोइ माल न खजाना । वहाँ पर नहिं दफ्तर खाना ॥
जहाँ पर नाहीं कोइ हिलकार । नहीं कोइ चौकी पहरदार ॥

दोहा—

ऐसा निरभय राज है, जहा कोई नहीं ठग चोर ।
निराकार है सभी विभूती, चलेम किसी का जोर ॥

जहाँ पर भरम सभी भाजा ॥ ३ ॥

मिला हमें बिन परजा का राज । जहां कोई बिगड़े नाहीं काज ॥
सभी है अमरापुर का साज । जहां काइ नहीं काज नहिं लाज ॥

दोहा—

शुद्ध राज को जो कर, सो भूपन को भूप ॥
साधु समान और नहिं दूजा, किसकी दीजे रूप ॥

रख तिसको सबही आजा ॥ ४ ॥

—०—

६ लावनी

खेल बाजीगर के सारे । बस कर मत भूले प्यारे ॥ टेक ॥
रची बाजीगर न बाजी । ठि रचना बहुत घनी साजी ॥
कोइ तो भूनी काइ बाजी । काइ तो पंडित कोइ काजी ॥

दोहा—

रविकर जब देखन लगा, मिला तिसी के संग ।
निराकार को भूलकर, देखन लागा अंग ॥

देखता पंचभूत सारे ॥ १ ॥

निद्रा में भासत है स्वपना । कोई तो पर का कोई अपना ॥
देखता है सबही रचना । सभी वह निद्रा का सपना ॥

दोहा—

जाग्रत माहीं देखता, नाना जगत अपार ।
जैसे तार छुआ पुंवेते, सब पुंवे का विस्तार ॥

आप से कछु नहीं न्यारे ॥ २ ॥

भई जब आप रूप की भूल । देखता है सूक्षम अरु स्थूल ॥
कल्पना कारण की होवे । अवस्था सुखोपति जोवे ॥

दोहा—

ऐसा मन ये बाजीगर है, करकै देख विचार ।
मनन भाव जब छूटे धाका, तब होवे निस्तार ॥

काम अरु क्रोध सभी हारे ॥ ३ ॥

जरा टुक करके देख विचार । झूठा है मन का सभी आकार ॥
आपना गुप्त रूप है सार । जासु में कबहुँ न होय विकार ॥

दोहा—

शुद्ध स्वरुप प्रकाश में, ना कोई चित्तस्पंद ।
जो मानत है शुद्ध रुप में, ते नर मूरख अंध ॥

फिरत जग में मारे मारे ॥ ४ ॥

दोहा—

आपै राजा आपै परजा, आप कर सब काज ।
आपही बन्यो दीवान मुसद्दी, आपही रहो बिराज ॥

जिने यह साज सभी साजा ॥ २॥

जहाँ कोई साह न साजानार । वहां पर नहिं दफ्तर जाना ॥
जहां पर नहीं कोइ हिसकार । नहीं कोइ चौकी पहरेदार ॥

दोहा—

ऐसा निरभय राज है, जहां कोई नहीं ठग चोर ।
निराकार है सभी विभूती, चलेन किसी का जोर ॥

जहां पर भरम सभी भागा ॥ ३ ॥

मिला हमें बिन परजा का राज । जहां कोई बिगड़े नाहीं काज ॥
सभी है अमरापुर का साज । जहांकोई नहीं काज नहिं व्याज ॥

दोहा—

शुद्ध राज को जो करै, सो भूपन को भूप ॥
साधु समान और नहिं दूजा, किसकी दीजे रूप ॥

दल तिसको सबही साजा ॥ ४ ॥

—०—

६ लावनी

सब बाजीगर के सारे । देख कर सब भूमो प्यारे ॥ टेक ॥
रची बाजीगर न बाजी । कि रचना बहुत भली साजी ॥
कोइ थे सूनी कोइ ताजी । कोई तो पंडित कोइ काजी ॥

दोहा—

तुम्ह चेतन शुद्ध स्वरूप में, नहीं क्रिया की गंध ।
जो माने कूटस्थ रूप में, सो पामर मतिमंद ॥

—०—

११ लावनी

बताऊं कहा ज्ञान का रूप । जहां पर नहिं छाया नहिं धूप ।।टेक।।
जहा पर नाहीं सूक्ष्म स्थूल । नहीं कोइ पंचकोश का मूल ।
जहां कोइ नहीं मूल नहिं तूल । नहीं कोइ शाखा फल और फूल ।।

दोहा—

जहां चंद्र सूर्य तारा नहीं, नहिं पंचभूत का लेश ।
जहां नहीं तन मात्रा, नहीं काल नहिं देश ॥

कहो फिर किसकी दीजे रूप ।। १ ।।

जहां नहिं स्वर्ग नर्क कोई । जहां नहिं देव दनुज दोई ।।
जहां पर पुरुष नहीं लोई । जहाँ कछु पाई नहिं खोई ।।

दोहा—

ज्ञान ध्यान जहँ कोइ नहीं, नहीं मोक्ष नहिं बंध ।
वेद पुराण शासतर नाहीं, नहिं गायत्री छंद ॥

वहां कोई पड़ता नहि भव कूप ।। २ ।।

जहाँ नहिं जीव ईश माया । नहीं कोइ धर्म कर्म पाया ।।
जहा नहिं सादी अनादी । नहीं कोई वाद और वादी ।।

१० लावनी

निरख्या अब आप आपना नूर । करमा सब हमसे होगया दूर ।।टेक।।
कहो अब क्या कीजै प्यारे । छूल सब बंध मोक्ष वारे ।।
अर्पू अब कहो कौन का आप । मैं ही हूँ पूरण आपै आप ।।

दोहा—

देशकाल अरु वस्तु में, व्यापरह्यो भरपूर ।
सभी जगत् के अंतर बाहर, नहिं मेरे महिं दूर ।।

सभी यह मेरा नूर जहूर ।। १ ।।

कैसे अब कीजै कर्म उपास । मैं नहिं ना काहू के दास ।।
किया हम भेद भरम का नास । कर्म की टूट गई सब फाँस ।।

दोहा—

भरम माहिं भरमत फिरा, बना देव का दास ।
ज्ञान प्रकाश भया घट अन्दर, हुई अविद्या नास ।।

सब कछु हमसे नाहीं दूर ।। २ ।।

छुट्या वर्ण आश्रम का अभिमान । किया हम वेद नीर का पान ।।
छूटे सब मान और अपमान । छुटी सब लोक वेद की कान ।।

दोहा—

करता मिथ्या कर्म का, छूटि गया हंकार ।
ज्ञान अगिन परघट भई, कर्म भये जरि छार ।।

रहा अब मैं ही मैं भरपूर ।। ३ ।।

जो नर मानत है करना । उन्हीं को जन्म और मरना ।।
गुप्त वो कहिये निष्कर्मा । जिसमें नहीं जन्म और मरना ।।

दोहा—

तुझ चेतन शुद्ध स्वरुप में, नहीं क्रिया की गंध ।
जो माने कूटस्थ रूप में, सो पामर मतिमंद ॥

—o—

११ लावनी

बताऊं कहा ज्ञान का रूप । जहां पर नहिं छाया नहिं धूप ।।टेक।।
जहा पर नाहीं सूक्ष्म स्थूल । नहीं कोइ पंचकोश का मूल ।
जरां कोइ नहीं मूल नहिं तूल । नहीं कोइ शाखा फल और फूल ।।

दोहा—

जहां चंद्र सूर्य तारा नहीं, नहिं पंचभूत का लेश ।
जहां नहीं तन मात्रा, नहीं काल नहिं देश ॥

कहो फिर किसकी दीजे ऊप ।। १ ।।
जहां नहिं स्वर्ग नर्क कोई । जहां नहिं देव दनुज दोई ।।
जहां पर पुरुप नहीं लोई । जहाँ कछु पाई नहिं खोई ।।

दोहा—

ज्ञान ध्यान जहँ कोइ नहीं, नहीं मोच्छ नहिं बंध ।
वेद पुराण शासतर नाहीं, नहिं गायत्री छंद ॥

वहा कोई पड़ता नहि भव कूप ।। २ ।।
जहाँ नहिं जीव ईश माया । नहीं कोइ धर्म कर्म पाया ।।
जहा नहि सादी अनादी । नहीं कोई वाद और वादी ।।

१० लावनी

निरख्या जब आप आपना नूर । करना सब हमसे होगया दूर ॥टेक॥
कहो अब क्या कीजै प्यारे । झूल सब बंध मोक्ष सारे ॥
अर्पूं अब कहो कौन का जाप । मैं ही हूँ पूरण आपै आप ॥

दोहा—

देशकाल अरु वस्तु में, व्यापरह्यो भरपूर ।
सभी जगत् के अंतर बाहर, नहिं नेरे नहिं दूर ॥
सभी यह मेरा नूर अहूर ॥ १ ॥

कैसे अब कीजै कर्म उपास । भेद नाहिं ना काहू के दास ॥
किया हम भेद भरम का नास । कर्म की टूट गई सब फाँस ॥

दोहा—

भरम माहिं भरमत फिरा, बना देव का दास ।
ज्ञान प्रकाश भया घट अन्दर, हुई अविद्या नास ॥
वेद कछु हमसे नाहीं दूर ॥ २ ॥

छुट्या वर्ण-आश्रम का अभिमान । किया हम वेद नीर का पान ॥
छुटे सब मान और अपमान । छुटी सब लोक वेद की कान ॥

दोहा—

करता किया कर्म का, छूटि गया हंकार ।
ज्ञान अग्नि परघट भई, कर्म भये जरि छार ॥
रहा यक मैं ही मैं भरपूर ॥ ३ ॥

जो नर मानत है करना । उन्हीं को जन्म और मरना ॥
गुप्त तो कहिये निष्कर्मा । जिसमें नहीं जन्म और मरना ॥

दोहा—

हाथ पैर जिसके नहीं, ना कोई पिंड न प्रान ।
ना वह पंडित मूरखा, ना कछु जान अजान ॥

नहिं कभी जिसमें प्यास न भूख ॥ २ ॥

नहिं कभी सोवे नहिं जागे । नहीं वह स्थिर नही भागे ॥
नहीं कछु ग्रहण करै त्यागे । नहिं कभी ध्यान माहि लागे ॥

दोहा—

अस्तिभाति करि रमि रहा, सभी ठौर के माहिं ।
सभी कछू करता सा दीखे, कछु भी करता नाहिं ॥

जासु में रंक नाथ नहिं भूप ॥ ३ ॥

सदा है सन, चेतन, आनन्द । जासु में कोई दुख नहिं द्वंद ॥
फेर भी समझत नाहीं अंध । वही है सब सिद्धन का सिद्ध ॥

दोहा—

हस्ती छिपै न घास में, करके देख विचार ।
सो गुरु आपना रूप है, सब करता ज्ञान व्योहार ॥

जासु में नहीं ऊक नहिं चूक ॥ ४ ॥

— —

१३ लावनी

जरा टुक कर कर देखो गौर । तेरे से नहिं दूजा कोई और ॥ टेक
जीव होय तू ही परकासा । तुही फिर ईश्वर हो भासा ॥
तुही है जगत् जाल माया । तुही है पिंड प्राण काया ॥

दोहा—

नहीं वर्ण नहीं आश्रम, ना कोई जात न पाँत ।
ना कोई न्यारा रहे, ना कोइ रहता साथ ॥

हमें सब देखा फटकि कर सूप ॥ ३ ॥

कहे कोई घी का कहा स्वाद । मूढ नर बिरथा करै विवाद ॥
आत्मु में नहीं अंत नहिं आदि । नहीं कोई साधन सिद्ध समाधि ॥

दोहा—

कोई जीव ब्रह्मकी एकताको, निश्चय कहते ज्ञान ।
द्वैत अद्वैत जहां पर नाहीं, कहे सो मूरख जान ॥

जहाँ कोई नाहीं रूप अनूप ॥ ४ ॥

—०—

१२ लावनी

आत्मा व्यापक ब्रह्म सरूप । आत्मु के नहीं रंग नहिं रूप ॥ टेक ॥
अवस्था तीनों से न्यारा । नहीं वह रक्त पीत कारा ॥
नहीं वह भारी न जारा । पवन से सूक्ष्म ना प्यारा ॥

दोहा—

शस्तर से कटता नहीं, जलसे भीगे नाहिं ।
जैसे घृत दूध मे व्यापक, सभी ठौर के माहिं ॥

यही तुम जिनका जानी रूप ॥ १ ॥

नहीं कभी जन्म नहिं मरता । नहीं कोइ सुख दुख को धरता ॥
नहीं कछु मांगे नहिं करता । नहीं कहीं स्थिर नाहीं चरता ॥

दोहा—

हाथ पैर जिसके नहीं, ना कोई पिंड न प्रान ।
ना वह पंडित मूरखा, ना कछु जान अजान ॥

नहिं कभी जिसमें प्यास न भूख ॥ २ ॥

नहिं कभी सोवे नहिं जागे । नहीं वह स्थिर नहीं भागे ॥
नहीं कछु ग्रहण करै त्यागे । नहिं कभी ध्यान माहि लागे ॥

दोहा—

अस्तिभाति करि रमि रहा, सभी ठौर के माहिं ।
सभी कछू करता सा दीखे, कछु भी करता नाहिं ॥

जासु मे रंक नाथ नहिं भूप ॥ ३ ॥

सदा है सत्, चेतन, आनन्द । जासु में कोई दुख नहिं द्वंद ॥
फेर भी समझत नाहीं अंध । वही है सब सिद्धन का सिद्ध ॥

दोहा—

हस्ती छिपै न घास में, करके देख विचार ।
सो गुरु आपना रूप है, सब करता ज्ञान व्योहार ॥

जासु मे नहीं ऊक नहिं चूक ॥ ४ ॥

— —

१३ लावनी

जरा टुक कर कर देखो गौर । तेरे से नहिं दूजा कोई और ॥ टेक

जीव होय तू ही परकासा । तुही फिर ईश्वर हो भासा ॥
तुही है जगत् जाल माया । तुही है पिंड प्राण काया ॥

दोहा—

जीव बिना नहिं आत्मा, जीव बिना नहिं ब्रह्म ।
जीव बिना शीवो नहीं, जीव बिना सब भर्म ॥

करो टुक विचार बालका ओर ॥ १ ॥

जाग्रत में सब ही देखा ख्याल । सुपने में देखो थोड़ी हाल ॥
अवस्था सुषोपती आवे ॥ जाग्रत् स्वप्न नहीं पावे ॥

दोहा—

तुरिया में देखन लगा, सुषोपती भी नाहिं ।
सभी अनातम कल्पित जानो, अधिष्ठान के माहिं ॥

कोई का मूल अभासा छोर ॥ २ ॥

सभी तुरिये को दिखलावे । सभी तुरया तिलको पावे ॥
वहाँ से कछवि नहीं आना । आप में आपहि मिलिजाना ॥

दोहा—

विश्व नहिं तेजस प्राज्ञ कछु, नहिं तुरिया तो माहिं ।
स्व स्वरूप निज ज्ञानघन, मैं तू चिन्मत् है माहिं ॥

यहाँ पर चले न किसका ओर ॥ ३ ॥

भये स्थित आप रूप में आप । जहाँ पर लगे न किसकी छाप ॥
गुप्त में सदा रहो गपचाप । मिटा भुव जनम मरन संताप ॥

दोहा—

इस दरजे को सो पावे, जिनके विमल विवेक ।
तजके सब संसार को, एक लई गुरु की टेक ॥

निरख्या जब आप आपना गोर ॥४॥

—•—

१४ लावनी

हीरा तुझे खोदिया कचरे मे । देखै क्या पोथी पतरे मे ॥टेक॥
फिरे क्या मथुरा और काशी । करो इस तन की तल्लाशी ॥
जहाँ तुझे पावे अविनाशी । कटे सब काल कर्म फासी ॥

दोहा—

वस्तु तो घर में धरी, बाहर ढूंढन जाय ।
कहो तोकों कैसे मिलै, दीजो बात बताय ॥

कहा है पानी पथरे में ॥ १ ॥

जभी सतगुरु शरने आवे । वस्तु का तब ब्योरा पावे ॥
वचन में कीजै परतीती । वस्तु के पाने की रीती ॥

दोहा—

श्रद्धा कर गुरु वेद में, तब पावे कुछ भेद ।
ज्ञान प्रकाश होय घट अंदर, दूर होय सब खेद ॥

भूले मन अपने चतुरे में ॥ २ ॥

जहां तू पावे समता भाव । दूर हो चित तेरे की दाह ॥
फेर तुझे मिलै न ऐसा दाँव । जरा टुक धर आगे को पाव ॥

दोहा—

समदर्शी हो विचरना, ना कहिं राग न दोष ।
भयो ज्ञान जब नशी अविद्या, जीवत पायो मोच्छ ॥

एक सम मूढे सुथरे मे ॥ ३ ॥

गुप्त सागर मारा गोता। जगत सब ही लगा थोथा॥
पुरुष ने ऐसो कियो विचार। जगत का झूठा सभी अचार॥

दोहा—

ब्रह्म आत्मा एक लखि, कियो भेद को अंत।
कृष्ण कन्हैया यों कहै, कोई जाने विरला संत॥

रहै मस्त मन के नखरे में॥ ४॥

—०—

१५ लावनी

चहे कोई राम कहो चहे श्याम। इससे निज रूप हो पूरण काम। टेक।
रज्जु अधिष्ठान है एक। कल्पना होय वामें अनेक॥
सीपी में रूपे का भ्रम होय। रवि किरनों में नीर कहै कोय॥

दोहा—

अधिष्ठान अज्ञानतें, भ्रम होवत बहु भांत।
ज्ञान हुये निज वस्तु को, सब भ्रम होवत शांत॥

सभी को एक आप विश्राम॥ १॥

पुंवे से खींचत निकसत तार। तार सब पुंवे का विस्तार॥
ब्रह्म में यों होवत संसार। बीज में ज्यों वृक्ष फल डार॥

दोहा—

जग होवत अज्ञान कर, ज्ञान होत जग हान।
जैसी इच्छा करै आप में, होवत सोई विधान॥

याही पै कल्पित हैं सब नाम॥ ॥

पूर्ण पर ब्रह्मादि ग्रन्थें। वेद नित अभेद बतावें॥
संत भी योंहीं समझावें। द्वैत में अगम मरन पावें॥

दोहा—

द्वैत मिटा अद्वैत हुआ जब, सब जग ब्रह्म विलास ।
सत चित आनंद शुद्ध रूप में, नहीं जीव आभास ॥

याही विधि होवत है आराम ॥ ३ ॥

तन यह सुरदुर्लभ जानो । गुप्त गुरु इस्ट हृदय ठानो ॥
इस्ट विन भृष्ट होय जगमाय । इस्टलखि श्रेष्ठ आप हो जाय ॥

दोहा—

जो इस्टी जिस रूप का, ध्यान धरे सिध होय ॥
मूल ध्यान धर भूल निकालो, निर्भय होकर सोय ॥

घूमे नहिं पंचकोष का गाम ॥ ४ ॥

—०—

१६ लावनी

आपना इस्ट आपही जान । और सब झूठे इस्ट पिछान ॥टेक॥
तुही है सब इस्टन का इस्ट । भूल कर क्यों होता है भ्रष्ट ॥
तेरी तो ऐसी मति मारी । फिरे ज्यों नारी व्यभिचारी ॥

दोहा—

अपने पति को छोड़कर, करै और को संग ॥
सो पामर जितित होलत है, हा गइ है मति भंग ॥

भूलि गई अपने पति का ज्ञान ॥ १ ॥

जबी दूजे को समझा इस्ट । ज्ञान सब हो गया है नष्ट ॥
जबी तू हो बैठा है दास । इस्ट की पड़ी गले में फांस ॥

दोहा—

इष्ट आपनो आत्मा, जाको कीनो त्याग॥
झूठे इष्ट बनाय कर, सरै न एकहु काज॥

उल्ट कर अन्तर आवो ध्यान ॥ २ ॥

आप सब इष्टदेव को भास । करो निज अन्तर अपने वास ॥
मूढ़ जानो बुद्धि चिदाभास । ज्ञान से होवे इनका नाश ॥

दोहा—

आप रूप कूटस्थ का, नहीं ब्रह्म से भेद॥
भेद मार आपसे परयो तब से पावो खेद।

समझ ऐसा क्यों हुआ अज्ञान ॥ ३ ॥

आपसे भिन्न जानते इष्ट । वही नर पाते हैं बहु कष्ट ॥
गुप्त गठियारे में आवे । इष्ट कहिं ढूंढा नहिं पावे ॥

दोहा—

अपना आप पिछानि के, तजो इष्ट की बात॥
वृक्ष बीज से न्यारा नहीं, मूल फूल फल पात॥

गुरु को गाइ सुनायो ज्ञान ॥ ४ ॥

—०—

१७ लावनी

यहां कोइ नहीं राम नहिं श्याम । सदा एक तूही पूरण काम ॥
आप ही रचता सब विस्तार । जिसका कछु नहीं वार नहिं पार ॥
रचि कर भूल गया है आप । तभी फिर तपता तीनों ताप ॥

दोहा—

देव बनाया ईश को, आप बना है दास ॥
आपहि अपने गले में, घालि लई है फांस ॥

किया है तुझने ही सब काम ॥ १ ॥

तुझे यह कल्पि लई माया। फेर उसे तुझको भरमाया ॥
आपको मानन लगा शरीर। मिला ज्यों जल के माहीं क्षीर ॥

दोहा—

बहुत काल भरमत फिर्यो, अबतो समझ गंवार ॥
औसर चूका जाय है, फिर पड़ेगी यम की मार ॥

तभी तू रोवेगा उस धाम ॥ २ ॥

अब तू समझ अपने को आप। छोड़ सब राम कृष्ण को जाप॥
सदा यक तूही आपहि आप। कहाँ से लाया भेद का पाप ॥

दोहा—

जन्म मरन तोमें नहीं, नहिं सुख दुख की गंध ॥
जीवभाव को छोड़ि दे, तुहि पूरण परमानंद ॥

जहां पर नहीं ध्यान नहिं ज्ञान ॥ ३ ॥

जब तू पावे गुप्तानन्द। तबी होय तेरे को आनन्द ॥
वहाँ पर कोई नहीं दुख द्वन्द। जहां नहिं परकाशत है चंद ॥

दोहा—

यहां पर गोबर्धन बसै, लागी ब्रह्म समाधि ॥
कहन सुनन में है नहीं, गति कछु अगम अगाध ॥

जहा पर सब सिध होते काम ॥ ४ ॥

—०—

१८ लावनी

रम्या सब जगह में राधेश्याम । श्याम बिन ना कोई खाली ठाम ॥
हुई इच्छा कीना विस्तार । गुन तीनों में सब संसार ॥
सभी का एक आप आधार । जैसे माला में सूत्र का तार ॥

दोहा—

अस्ति, भाति, प्रिय देखलो, व्यापक नंद किशोर ।
पंचभूत तीनों-गुणमाहीं, पूरण है सब ठौर ॥

मिटा तृष्णा को जलावो काम ॥ १ ॥

कोई वन परबत में जावे । कोई तन तपस्या सटकावे ॥
कोई काशी गंगा न्हावे । द्वारिका छाप से हरपावे ॥

दोहा—

चित चंचल इन्द्रिय। मन रोके, वन में धारे ध्यान ॥
ध्यान मिटा चंचलता, व्यापी, यह तो कच्चा ज्ञान ॥

इससे सरे नहीं कछु काम ॥ २ ॥

प्रथम निष्काम कर्म करना । पुन चित ईश्वर में धरना ॥
षट्सम्पत्ति साधन हो सम्पन्न । गुरू की लेवे जाय शरन ॥

दोहा—

प्रेमभाव गुरु में करे, धारे भक्ति सुजान ॥
गुरु प्रसन्न उपदेश करे जब, छूटे तम अभिमान ॥

सभो में सूझत आतमराम ॥ ३ ॥

गन्ध गुरु कृपा मिला आराम । दिखाया सब में सुन्दरश्याम ॥
मिटा जगसार हुआ सुखिधाऊ । मूलस गइ अविद्यामाऊ ॥

दोहा—

गोवर्धन यों कहै कृष्णबिन, और नहीं कर गौर ॥
सत चित आनन्द शुद्ध रूप में, चलै न किसका जोर ॥

धुरू में नहीं रूप नहिं नाम ॥ ४ ॥

—०—

१९ लावनी

हम हैं उन सन्तन के दास। जिन्नें सब तजी जगत की आस ॥टेक॥
किया है बिजन देश में बास। जगत से रहते सदा उदास ॥
फाटिदइ सबी कर्म की फास। आपको जाना चिद् आकाश ॥

दोहा—

इस धारा पर विचरते, सदा रहे निर्द्वंद ॥
जानत हैं कोई जाननहारे, क्या जानेंगे अंध ॥

किसी को देवे नहीं तरास ॥ १ ॥

नहीं कुछ दंभ कपट माया। उलटि मन आतम में लाया ॥
जगत सब चेतन की छाया। कभी तिने व्यापै नहिं माया ॥

दोहा—

जग के माहीं यों रहे, ज्यों पदुम-पत्र जल बीच ॥
न्हाये निरमल ज्ञान से, सब छूटी अविद्या कीच ॥

नहीं कुछ रखते अपने पास ॥ २ ॥

जिन्हों के ज्ञान वनिज वेपार। और नहिं करते दूजी कार ॥
जगत में लिपते नहीं विकार। सभी झूठा जाना आकार ॥

दोहा—

चेतन निरमल शुद्ध में, ना कछु हुआ न होय ॥
ऐसी जाकी दृष्टि है, साध कहावे सोय ॥

संत विचरत इस पंथन में । चाल गई सब मंथन में ॥
शुद्ध बिन खोजि क्रिया जग में । फेरि नहिं मानव है जग में ॥

दोहा—

मोक्षधर्म यों कहत हैं, सतों अभय पद ॥
भूमिक्षय जिनका भया, तिनके देह न गेह ॥

नई है मूल अविद्या नाश ॥ ४ ॥

—•—

२० लावनी (चाल दून)

सखि सच्चे सुहागिन आज आज घर पी के ।
अजी एजी, पिया को मेरी सुधाई है ।
सजना पर पलंग सवारी सखि कर लाई है ॥ टेक ॥
तरे नारि सबै शृंगार प्यार सब होले ।
अजी एजी; जरा अब अँखियाँ तो खोले ॥
कर प्रीतम घर की सुर्ति सम्भ कुछ मुख सेती बोले ॥
मन भर प्रीतम का ध्यान मान मद तजि के ।
अजी एजी; मोह ममता को सब त्यागो ॥
गृह छोड़ि पिता का चलो चरण अब प्रीतम के लागो ॥

शेर—

भूली फिरै उस सजन को, कर अंदरूनी ख्याल को ॥
वह ज्ञानरूपी दे असी, काटे अविद्या जाल को ॥
शुभगुन के भूषण पहिरि के, छांडो सभी धन माल को ।
तू उससे परदा मत रखे, वह जाने तेरे सब हाल को ॥

अब कर आगे का सूल मूल गहि राखो ॥
अजी एजी पिहर मे उमर गमाई है ॥
अब तजो कुटिल परिवार भार को पटको ।
अजी एजी, छोड़ कर ममता माई को ॥
परिछिन्न पिता हंकार विषय तज पांचों भाईको ॥
तृष्णा चिन्ता अरु चाह सहेली त्यागो ।
अजी एजी कुसंगति सब अशनाई को ।
राग द्वेष अरु हर्ष तजो सब मान बड़ाई को ॥

शेर—

जल शील का अशनान करके, तिलक तन का कीजिये ॥
भक्ति प्रेमा माल गल में; साज यह सज लीजिये ॥
करनी के कपड़े पहिर के; निष्कामता रंग दीजिये ।
सोलह करो शृङ्गार अब; जिसे देखि पीतम रीझिये ॥

पीतम को प्यारी लगी फेर डर किसका ॥
अजी एजी, सभी के मन को भाई है ॥ २ ॥
यह पाया अटल सुहाग भाग पिछले से,

अजी एजी; सोहागिन सुख भर सोई है।
जो होना होय सो होय सुर्ति जिन अंतर मोई है॥
अन्तरमुख सुख को अनुभव करके जाग्या,
अजी एजी, भेद भिन तोड़ दिया जकड़ा।
जब खुलि गए ज्ञान कपाट भरम का फाटि गया पड़दा॥

शेर—

पंच कोष मय देह का, पड़दा पड़ा अज्ञान से।
शमशेर सतगुरु की दई, काट्या निजातम ज्ञान से॥
तोड़ि भवन बिचरती, कुछ काम नहिं घन धाम से।
प्रारब्ध से व्योहार होय, नाता नहीं कछु चाम से॥

यों होय एकमएक मौज में रहती,
अजी एजी; जीवनमुक्ति को पाई है॥ २॥
हुई बिरती अखण्डाकार वार से मिलि के भामी है।
अजी एजी उसीने भेद जनाया है,
पड़ा गर्म लोहे पर जब जल मांहि समाया है॥
जिमे सिंधु बिंदु त्यागि भेद सब जल का,
अजी एजी; उपाधि सब ही दूरि डारी॥
हुई शुद्ध सच्चिदानन्द भाव यह पीतम की प्यारी॥

शेर—

सिंगार सोलह साजि के, पाया पति के रूप को॥
तजि कर पिता के धाम को, तिर गई भव के कूप को॥

गुप्त सैन पिछानि सजनी, पावे रूप अनूप को ॥
समझे चतुर परबीन कोई, समझावे को वेवकूफ़ को ॥
जिन क्रिया आनना काज लाज सब तज के,
अजी एजी, चतुर की यह चतुराई है ॥ ४ ॥ चढ़ना पड़े जरूर

दोहा—

त्रय काले दो ऊजरे, पतले पंच प्रकार ।
सूभर चार कठोर दो, ये सोलह सिंगार ॥
(इन षट्दस शृंगारों को जिज्ञासु में घटाते हैं)

दोहा—

आवरण दोष काले त्रय, ऊजले दो कर्म उपास ॥
पंच पातले कामादिक कर, मन में होय हुलास ॥
पुष्ट किये हैं जासु ने, विवेकादिक जे चार ।
सत्शास्त्र सत्संग दो काठे, ये अधिकारी के शृङ्गार ॥

—०—

२१ लावनी (चाल दून)

मत पड़े भरम के कूप रूप लख अपना,
अजी एजी, मनुष्य तन तुझको पाया है ।
कर देखो तत्त्व विचार कौन तुह कहा से आया है ॥टेक॥
यह तन धन सच्चा जानि खेल में लागा,
अजी एजी, विसरि गया अपनी सुधि सारी ।
खानपान में लग्या विषयों की बढ़ि गई बीमारी ॥

अजी एजी, सोहागिन सुख भर सोई है ।
जो होता होय सो होय वृत्ति जिन अंतर मोई है ॥
अन्तरमुख सुख को अनुभव करके जाग्या,
अजी एजी, भेद जिन तोड़ दिया जकड़ा ।
अब खुलि गये ज्ञान कपाट भरम का फटि गया पड़दा ॥

शेर—

पंच कोष त्रय देह का, पकड़ा पड़ा अज्ञान ते ।
शमशेर सतगुरु को दई, काट्या निजातम ज्ञान ते ॥
तोड़ि गमन विचरती, कुछ काम नहिं धन धाम ते ।
प्रारब्ध ते व्योहार होय, नाता नहीं कछु चाम ते ॥

यों होय एकमएक मौज में रहती,
अजी एजी, जीवनमुक्ति को पाई है ॥ ३ ॥
हुई विरही अखंडाकार यार से मिलि के आयी है ।
अजी एजी रसीले भेद बनाया है,
पड़ा गम छोड़ पर अब अक माँहि समाया है ॥
किये सिंधू बिंदू त्यागि भेद सब जल का,
अजी एजी, उपाधि सब ही दूरि डारी ॥
हुई शुद्ध सच्चिदानन्द आम वह पीतम की प्यारी ॥

शेर—

सिंगार सोलह साजि के, पाया पति के रूप को ॥
तजि कर पिता के धाम को, गिर गई भ्रम के कूप को

अजी एजी, ईश की ऐसी है नीती ॥ चहे लाखों करो उपाव और विधि पावे नहिं रीती ॥ अब सुनिये करिके ख्याल हाल कहुँ सगरा ॥ अजी एजी, चतुष्टय साधन को करना ॥ सब त्यागो करम उपास फेर ले सतगुरु की शरणा ॥

शेर—

विधी से गुरु देव को, भक्ति से परसन करे ।
जाता आता कौन है, जन्मता अरु को मरे ॥
विधी और निषेध दोनों, कर्म को कहु को करे ।
फल तास के पुन्य पाप का, कौन सुख दुख को धरे ॥

सतगुरु से परसन करे विधी से जाके, अजी एजी, सब संदेह सुनाया है ॥३॥ जब मुनि के शिष्य की बात हाथ को ठाया ॥ अजी एजी कहा सो हमको सब जान्या ॥ मन बुद्धी कर समाधान लगा के सुन दोनों काना ॥ तुझ में नहीं आवन जान जन्म और मरना ॥ अजी एजी, विधी निषेध नहीं झगड़ा ॥ पुन्य पाप के सुख दुख फल का तुझमें नहिं रगड़ा ॥

शेर—

ये धर्म सूक्ष्म स्थूल के, बुद्धि सहित आभास में ।
तू तो है सबका साक्षी, रहता है इनके पास में ॥
चैतन्य ज्ञानस्वरूप है, हस्ती छिपे नहिं घास में ।
तुझ में क्रिया कर्म ऐसा, जिमि नीलता आकाश में ॥

सुन गुप्त गुरू से ज्ञान खुलै भ्रम ताला । अजी एजी, भरम का मूल उठाया है ॥ मतपड़े ॥

इस चमकधाम को देखि फिरत है फूल्या,
अजी पजी, कुफर के पलङ में मूल्या ॥
पकने खय्या तख्तन, अमा सब अपनी।को मूल्या ॥

शेर—

माया के मद् को पीके, फिरता अविद्या रात में ।
अराम अन्दर के मिथे, फस गया जातजगात में ॥
जैसे करिणी दखि के, हस्ती पकड़्या है खात में ।
अंकुश खाता शीश में, पंचि के वियों की बात में ॥

यों मोह जाल में फंसा जीव मरता है, अजी पजी, कष्ट कष्टोतर पाया है ॥ १ ॥ यह विषय भोग सब बिजली का चमकारा। अजी पजी पसारा बिगड़ि जाय छिन में ॥ मुकी हिय सुखी क्यों भाव मन की रह जाय मन में ॥ औसर के चूके होय फेर पच तावा भजी पजी काज अब करलीजे अपना, छोड़ो सब परमार्थ जगत यह रैनि माहिं सपना ॥

शेर—

अब छोड़ो वाद विवाद् को, याद कर निज रूप को ।
आकार दृष्टी छोड़ि के, समझो न रूप अरूप को ॥
जो परकाशता है सर्व को, सो सर्व में भरपूर है ।
यह रमज समझो आरिफों की, वोहि तेरा निज नूर है ॥

जिस को कहते हैं वेद मर्म को लेके, अजी पजी; सो अपना आप बताया है ॥ २ ॥ कर भेद गुरू से प्रीति रीति को पावे ॥

शेर—

शक्ति के परसंग में, मत भेद से दिखलाय के ।
सब के शिर में धूलि डाली, वेद मत ठहराय के
नाना मतों के भेद जो, झगड़ा सभी समझाय के ।
सिद्धांत जो अद्वैत है, तिसको कहा है गाय के ॥

करि यतन वेद से रतन निकाले जिसने । अजी एजी, वेद वादी मुनि के धूजा ॥ २ ॥ हुये सूत्रकार अरु भाष्यकार औतारा अजी एजी, सर्वथा हुवा न परकासा ॥ विरतों का दिनकर रच्या किया है अंधकार नाशा । सब पोल बजाकर ढोल निकाली जिसने ॥ अजी एजी मतांतर बात जनाई है । किया विषय-वाद का बाध चतुर की यह चतुराई है ॥

शेर—

विद्या पढ़ी तो क्या हुआ, करता है वाद विवाद जो ।
बंधि गये मजहब के पक्ष में, दयानन्द से साधु जो ॥
अर्थ का अनरथ किया, तजि ईश की मर्याद को ।
लोप करके ज्ञान का, इसमें क्या पाया स्वाद को ॥

किया कर्म काड को धरि धूर्तता करके । अजी एजी, छुटादई ईश्वर की पूजा ॥३॥ जिसे अपनी अपनी ठौर काड सब राखे । अजी एजी, विद्वत की यह विद्वताई है ॥ निश्चल का कथन है अचल अचल को दिया दिखाई है । नहिं लक्ष माहिं कोई पक्ष दक्ष यह कहते । अजी एजी, पक्ष में डूब्या संसारा ॥ वे किसको करते पक्ष वेद वेदाग भये पारा ।

२२ लावनी (चाल दून) ॥

अब भक्ति निरपक्ष की रीति प्रीति सों प्यारे। अजी एजी; अगम और नहीं दूजा ॥ हुये ज्ञानरूप औतार भरम सब छेदि दिया दूजा ॥ टेक ॥ सागर सब कर दिया सेतु अगम के माहीं। अजी एजी; जीव चढि चढि उतरें पारा ॥ दिन में सौ सौ बार तिनों को नमस्कार म्हारा। आचारज जगमें हुये और बहुतेरे ॥ अजी एजी; सभी के सिर पै और साजा। तजि दिया सब ईसार किसी बिन माया नहिं काजा ॥

शेर—

शेर के कछु भय नहीं, निरभय हो के गाजता।
सुनि के तिसकी गाज को, स्याल मूरख भागता ॥
सुनि के प्राकृत शब्द को, सरस्वती है लाजता।
घिरणा सपापा मगज को यह होश चौरे बाजता ॥

बिन माया किये निर्भय पंथ कर डोले। अजी एजी बैर बैराग सभी सूम ॥ १ ॥ बिन सुत रचा है शास्त्र प्रमाण कर पढ़ो। अजी एजी, नाम निरपक्ष रखि दिया माया। बिन देखी बिन सुनी सुना के रचि दिया तमासा ॥ दिया का रखावे पसंद भी अभिमानी। अजी एजी, बोलते हैं सम्भव बानी ॥ निरपक्ष का सुनि के वचन चीव। भूलि जाय पानी।

शेर—

शक्ति के परसंग में, मत भेद से दिखलाय के ।
सब के शिर में धूलि डाली, वेद मत ठहराय के
नाना मतों के भेद जो, झगड़ा सभी समझाय के ।
सिद्धांत जो अद्वैत है, तिसको कहा है गाय के ॥

करि यतन वेद से रतन निकाले जिसने । अजी एजी, वेद वादी मुनि के धूजा ॥ २ ॥ हुये सूत्रकार अरु भाष्यकार औतारा अजी एजी, सर्वथा हुवा न परकासा ॥ विरती का दिनकर रच्या किया है अंधकार नाशा । सब पोल बजाकर ढोल निकाली जिसने ॥ अजी एजी मतांतर बात जनाई है । किया विषय-वाद का बाध चतुर की यह चतुराई है ॥

शेर—

विद्या पढ़ी तो क्या हुआ, करता है वाद विवाद जो ।
बंधि गये मजहब के पक्ष में, दयानन्द से साधु जो ॥
अर्थ का अनरथ किया, तजि ईश की मर्याद को ।
लोप करके ज्ञान का, इसमें क्या पाया स्वादु को ॥

किया कर्म कांड को धरि धूर्तता करके । अजी एजी, छुटादई ईश्वर की पूजा ॥३॥ जिसे अपनी अपनी ठौर कांड सब राखे । अजी एजी, विदुत की यह विदुताई है ॥ निश्चल का कथन है अचल अचल को दिया दिखाई है । नहिं लक्ष माहिं कोई पक्ष दक्ष यह कहते । अजी एजी, पक्ष में डूब्या संसारा ॥ वे किसको करते पक्ष वेद वेदांग भये पारा ।

शेर —

धन्य है उस पुरुष को, साज जिसको यह सजणा ।
उसी ने संसार में, विद्या का पाया है मजा ॥
निष्काम होके विचरते, राजी रहे उसकी रजा ।
तीनों भुवन के बीच में, ऊंची गड़ी तिनकी धजा ॥
निज गुरु रूप मे अभे भूप कोई भवके ।
अजी एजी शूरमा रण मांहीं चहता ॥ अब छवि० ॥ ४ ॥

—०—

२३ लावनी (चाल दून.)

अब करो कुम्भ असनान घाट तिरबेनी, अजी एजी, काल अब तुमको पाया है, मत फंस भरम के जाल सभी यह झूठी माया है ॥ टेक ॥ कर तीव्र धार बैराग यही तिरबेनी । अजी एजी आतमा तीरथ में न्हावो ॥ कर विषय देश का त्याग किनारे तिरबेनी आवो । निज आतम तत्त्व का ज्ञान अक्षय वट परसो ॥ अजी एजी; सरस्वती सार वेद टोहो । मलिन वासना मैल सभी अब मलि मलि के धोवो ॥

शेर—

अंतःकरण के कपड़े को साफ करके धोइये ।
साबुन कर्मनिष्काम भक्ती, दोनु बो कर साहिये ॥
लक्षण कहे हैं शास्त्र में, ऐसे गुरू को जोइये ।
मूल अविद्या मैल को, गुरु-चरण सगम खोइये ॥

जब तिरवेनी का न्हान सफल होता है। अजी एजी भर्म को धोय वहाया है ॥ १ ॥भमरा आत्मा चेतन पूरण सब में। अजी एजी रती अव तिस माहीं कीजे ॥ द्वाज द्वैत कर दूरि अर्थ आश्रम का सुनि लीजे। आशा तृष्णा करि त्याग आसरम पावे ॥ अजी एजो यात्रा जब होवे पूरी। फिर रहा चौरासी लाख कर्म की पड़ी कंठ धूरी ॥

शेर—

यह पर्व अब तिसको मिल्या,पाया है अपने आपको ।
आत्म तीरथ शांत में, खोया है तीनों ताप का ॥
मेला मिलौनी हो गई, फिर जपै किसके जाप को ।
दरशन हुआ दीदार का,खोया है पुन्यरु पाप को ॥

सोई तिरवेनी के तटपर बैठे डटके। अजी एजी मजा कुछ तिसको पाया है ॥ २ ॥ दारागज दारा त्याग इलाहो पावे। अजी एजी इलेह आवाद किया जिसने ॥ झूनी मे झलक रहा आप भेद की गंध नहीं जिसमें। सतसंगति नौका बैठि उतर भवधारा ॥ अजी एजी नहीं है जिसमें वार पारा। व्यापक एक अखड सभी शामिल सब से न्यारा ॥

शेर—

इस विधि से तीरथ किया,तिनयोग यज्ञ सबही किया॥
स्वयं पित्र को उद्धार के,सब दान अवनी का किया ॥
संसार में उस पुरुष का, सफल है दिया लिया ।
रूप अपना नीर गंगा, छानि के जिसने पिया ॥

कोइ समझे सूरमा रमज हमारा वेषी। अजी एजी माया की जाल उड़ाया है ॥ ३ ॥ माया के जाल में फंसे मूढ अज्ञानी। अजी एजी धम अपने से मारे हैं ॥ पकड़ी लोम की नाहि भाव होंकन को लाग हैं। तजि दिया ज्ञान अध्ययन लोम के फंद में ॥ अजी एजी कर्म अपने को त्यागा है। व्यभिचारिन ज्यों फिरे भाट विषयों की लाग्या है ॥

शेर—

घर छोड़िके क्यों नीच सा, काहे को गुमराह किया।
मूसे शब्द सन्यास को, फलदार में मन को दिया ॥
बिरला है संसार में ऐसे, सन्यासी का जिया
कौड़ी फिरत है मांगता खाता है अवटा किया ॥

ज्यों गुप्त सैन को समझे मूढ अनारी। अजी एजी अवज्ञ सार को लाया है ॥ ४ ॥

—०—

२४ अथ लावनी चाल दून

अब हुआ कुम का अन्त सन्त यह कहते। अजी एजी सोमवती समता को धारो ॥ मावस ममता को त्याग राग अरु द्वेष सभी मारो ॥ टेक ॥ स्नानो संशय को काटि मूल स प्यारे। अजी एजी ज्ञान की धारा में न्हावो ॥ निष्काम निशान हिसाब धाय गुरु संगम पर आवो ॥ सतगुरु से करो मिलाप सुफल होय मला। अजी एजी कर्म की कालिख को धोवो ॥ करि के ऐसा स्नान फेर निरभय होके सोवो ॥

शेर—

ऐसा किया अशनान जिसको,ज्ञान गोता लाय के ।
सो निरभय होके सोवता,विरती थकी है आय के ॥
पाया अमोलक वस्तु को,वह क्यों मरे फिर धायके ।
अंतर की अग्नी बुझि गई,निज रूप अपना पायके ॥

हर हाल हंसी हर हाल खुशी मे रहते । अजी एजी मूल संसृती को जारो ॥ १ ॥ सब झूठा यह परपंच रंच नहिं सच्चा ॥ अजो एजी फेर क्या मजब गोत गावे ॥ शास्त्र वेद पुराण सभी यह कहि के समझावे ॥ नहिं समुझे मूढ गंवार वेद का आशा । अजी एजी चाल वही भेडों की चलते ॥ फँसि गये मजहब के जाल अविद्या अग्नी मे जलते ॥

शेर—

मरुस्थल को देखि के, मिरघा फिरत है धावता ।
भटकि के मरजात है,नहिं उसकी प्यास बुझावता ॥
तैसे ही यह जीव मूरख,विषय सुख को चाहता ।
तिन हेतु धन के काज जग में,नाना स्वांग बनावता ॥

सब कहते संत पुकार विषय दुख रूपा । अजी एजी तजो अब अपने को तारो ॥ २ ॥ जो किया तुझे सन्यास आश करे किसकी । अजो एजी काम क्या चेतर से तुझको ॥ यही बड़ा अफसोस बात सुनि सुनि होता मुझको ॥ कोई बने वैरागी खाकी खाक रमावे ॥ अजी एजी अर्थ वे तिसका भूले हैं । समुझावे को तिसे लोभ के झूले झूले हैं ॥

२५ लावनी. (चाल दून)

शेर—

हाल दौरे का लिखें, सुन लीजिए चित लाय के।
जो आया देखन सुनन में, सबही कहते गाय के।
ये जीव दौरा करत है, जगत जंगल आय के।
भूल्या हुकुम सरकार का, रहा रैयत में उलझाय के॥

हाकिम पति हाकिम जीव करै जग दौरा। अजी एजी, बैठि के माया असवारी॥ जब करके देखी जांच तभी गलती निकली सारी॥ टेक॥ गलती गिरदावर जान पर्दा पटवारी। अजी एजी; सभी यह वेद जाळ बस्ता। सँतसगति सड़क जान यही सीधा रख्या रस्ता॥ सब हाल यही एक हवलदार तुम जानो॥ अजी एजी, कायदा कर्मकांड भास्या, नानापन नंबरदार हुकुम भुगतन लाग्या सारा॥

शेर—

बैर बलाई चले, तड़वि तामस धाय के।
न्याव नाई मन मन कर, हाकिम पे पहुंचे जाय के॥
चित्त चौकीदार से, हाकिम कहै समुझाय के।
प्रारब्ध जागीर खावो, सरकारी काम बनाय के॥

रैयत रजोगुण बुलवाय कहा समझाय के॥ अजी एजी, बकाया दीजै सरकारी॥ १॥ ये मान अमीन बुलाय हुकुम दिया

शेर—

कहे बेद पुकारि के, रागी सो बैरागी नहीं।
सोही बैरागी है सही, तिरलोकी से राजी नहीं॥
कहते बैरागी आपको,मन बात है तिनकी बही।
माया मन्दिर में भरे,पुत्रियों की चाह रही है तहीं॥

जिस संत कहं बैराग असर नहिं उसकी, अजी एजी रात दिन करैं म्हारो म्हारो॥ ३॥ तजि कर अपनी मर्याद स्वाद क्या आया। अजी एजी छोम की अजर फाँस भारी। क्या गृही क्या सन्यासि छोम को रूप छिये ब्रह्मचारी॥ जब छोकिं दिया घर बार स्वार क्यों होता। अजी एजी मागि कर टुकड़े को खावे। अपनी इच्छा अनुसार चहे आगे चहे सो जावे॥

शेर—

यही मता है संत का, मिल जपे अपने आप को।
स्वतंतर होके बिचरता,तजिकर परतंतर पापको॥
गुरुद्वार में क्या काम है,घर छोड़ दीना बापको।
गुरु अपना आप है फिर, जपे किसके जापको॥

पंथो में संत नहिं पड़ें पड़ें सोई पछते, अजी एजी ज्ञान के अंजन को सारे॥ ४॥

—०—

फिर देख्या लोभ लंगूर डाक बडि मारे। अजी एजी, करी जब मुर्दे घाट त्यारी ॥ ३ ॥ जहाँ नाम नरवदा न्हाय मैल सब धोया ॥ अजी एजी; हवा हुरमत की खूब उड़ी। तिसते आगे चाल सवारी वाकानेर वड़ी ॥ यह वका मारग जान पहुँचता कोई ॥ अजी एजी, मान की मनवर में आये। कामादिक रस्ता धिकट काट अमभेरे को पाये।

शेर—

आमनाथ अमझेरेमें, थी अंबिका देवी रहे।
जो समझे याके अर्थ को, पाप जन्मों के दहे ॥
सत रुप जों सरदार पुर है, उस्में उलटा आ रहे।
फिर दौरे का झगड़ा चुक्या, निज धाम अपना पा रहे ॥

इस गुप्त दौरे का सार ग्यार कोइ समझे, अजी एजो, पार सब होवे नरनारी ॥ ४ टेक ॥

दोहा—

मुस्ताजिर माया में फंसे, बह गये वहवटदार।
छुटि गये माया जाल से, सोइ उतरे परले पार॥
लेवे सार सुगंध को, तज दुरगंध असार।
पावे अपने रुप को सब, छूटे भरम विकार ॥

—०—

तिसको ॥ अजी एजी; आप जल्दी कीजे प्यारे ॥ जो पद आपनी भूल फिरो जग जंगल में मारे। सुनके हाकिम का हुकुम मस्त फुरती स ॥ अजो एजो, आप का साज लिया सारा। झगड़े की झंडी गाड़ शिस्त जिने बांधी यकवारा ॥

शेर—

वेद के कामन मूजिब, काम तिसको सब किया।
कर्म फल को त्यागि क, मुक्ति रिशवत से हुआ॥
करके सफाई काम की, स बही तिसे दिखला दिया।
तुम कीजिये सरकार अब, यह काम हमजिस विधि किया।

सब ऊंच नीच कह आप रही नहिं दिस्ता। अजी एजी; नहीं छोड़ी हक्की मारी ॥२॥ हम गेरो यतन अरीब ज्ञान का गट्ठा॥ अजी एजी, काया भूमी की माप गिरी। अब निकलो पंच हि खेर खेत तीनों में वक्क करी॥ जिम चौरासी लखखेत तीनों में॥ अजी एजी चार दिस्स कोनी सारी, इकिस इकिस लाख नहीं कागज के मंझारी॥

शेर—

सत रूप जो सरदारपुर तिस्से यह दौरा चल्या।
मधामपुरताका पख्या, बाग में डेरा रख्या॥
पाप पांडवगुफा देखी, कासपुर में जा रख्या।
भय पद भीलाघाट में, फेर काँगडी कू में जप्या॥

वेद शास्त्र में नाना झगड़े, तुझ में तो कोई वाद नहीं ॥
माया अविद्या जीव ईश में, तुझमे कोई उपाधि नहीं ॥
काल का भय नहिं जरा भी तुझमे, काहे को विरथा दुःख सहे ॥ ४

—०—

२७ लावनी. रंगत ख्याल (प्रश्न रूप)

खबर नहीं है अपने घर की, औरों के घर की बात करे ।
कौन पुरुष इस काया नगर में रातदिना परकाश करै ॥टेक॥
चन्द्र सूर्य तारागण अग्नी, विद्युत बायक सब भासे ।
जाग्रत स्वपन सुखोपति तुरिया, चार अवस्था परकासे ॥
तुरियातीत अरु अंधकार को, या काया में कौन लहे ।
लिया दिया अरु खाया पीया, पहिली वार्ता कौन कहे ॥

शेर—

सब हाल का होय ख्याल जिसमें, कौन क्रुव्वत पायके ।
कहने मेरे पर गौर कर, मन आपने को लायके ॥
अंतर में करो विचार, क्यों मरे बाहर धाय के ।
जाता आता कौन है, सबही कहो समझाय के ॥

तन शहर का खोज करो यों को जन्मै अरु कौन मरे ॥ १ ॥
ईश्वर जीव कहत है किस को, भेद का कारण दिखलावो ।
क्या स्वरूप और देश काल है, वस्तू तिनकी बतलावो ॥

३६ लावनी (रगत ख्याल)

काया मन्दिर माहिं पियारे, आतम ज्योतिर्लिंग रहे ।
मनीराम है जिसका पुजारी, तरह तरह के भोग धरे ।टेक।
गौण पुजारी और आठ हैं, अपने अपने काज चले ।
शब्द, अरु स्पर्श रूप, रस, गंध को लेके हाजिर चले ॥
नौ तो पूजा करें ज्ञान से, मन बुद्धि चित अहंकार मिले ॥
दस पुजारी हैं कर्म कांड के, करते अपने कर्म भले ।
सब मिलि पूजा करें हैं देव की, जन्म २ के पाप हरे ॥ १ ॥
धूप दीप हैं साधन सारे अरु जितने पत्रा पोथी ॥
निज आतम बिनिरेक जो किरिया और सभी जानें थोथी ॥
सत चित आनन्द तीन पुष्प धरि, निजमन में पुरुषो सोती ।
मन बाणी की गम्य नहीं जहं, मंद होय सबही जोती ॥
आप स्वयं परकाश बिराजे, नेति नेति कर वेद कहे ॥ २ ॥
ज्योती सरूप है आप तुही फिर, किस ज्योती का आस करे ।
अन्दर बाहर तीन काल में, सबही का परकाश करे ॥
तुझी भरा अज्ञान में आके, तुही रूप आभास धरे ॥
"अहं-ब्रह्म" यह बिरती करके, तुही आवरण नाश करे ।
सब तेरी चमक की चमक पड़ी है पवन रु पानी सभी बहे ॥ ३ ॥
गुप्तरु परघट आप बिराजे, तेरे तो मरयाद नहीं ॥
आदि अन्तादि सब्ज कहे जो तेरे तो कोई आदि नहीं ।

वेद शास्त्र में नाना झगड़े, तुझ मे तो कोई वाद नहीं ॥
माया अविद्या जीव ईश मे, तुझमें कोई उपाधि नहीं ॥
काल का भय नहिं जरा भी तुझमें, काहे को विरथा दु ख सहे ॥ ४

—०—

२७ लावनी. रंगत ख्याल (प्रश्न रूप)

खबर नहीं है अपने घर की, औरों के घर की बात करे।
कौन पुरुष इस काया नगर में रातदिना परकाश करे ॥टेक॥
चन्द्र सूर्य तारागण अग्नी, विद्युत वायक सब भासे ।
जाग्रत स्वपन सुसोपति तुरिया, चार अवस्था परकासे ॥
तुरियातीत अरु अंधकार को, या काया में कौन लहे ।
लिया दिया अरु खाया पीया, पहिली वाता कौन कहे ॥

शेर—

सब हाल का होय ख्याल जिसमें, कौन कुव्वत पायके ।
कहने मेरे पर गौर कर, मन आपने को लायके ॥
अंतर में करो विचार, क्यों मरे बाहर धाय के ।
जाता आता कौन है, सबही कहो समझाय के ॥

तन शहर का खोज करो याँ को जन्मै अरु कौन मरे ॥ १ ॥
ईश्वर जीव कहत है किस को, भेद का कारण दिखलावो ।
क्या स्वरूप और देश काल है, वस्तू तिनकी बतलावो ॥

३६ लावनी (रंगत ख्याल)

काया मन्दिर मांहि पियारे, आतम ज्योतिर्लिंग रहे ।
मनीराम है तिसका पुजारी, तरह तरह के भोग धरे ।।टेक।।
गौण पुजारी और आठ हैं, अपने अपने काज चले ।
शब्द, अरु स्पर्श रूप, रस, गंध को लेके हाजिर खड़े ।।
सो तो पूजा करें ज्ञान से, मन बुद्धि चित हंकार मिले ।।
दस पुजारी हैं कर्म कांड के, करते अपने कर्म भले ।
सब मिलि पूजा करें हैं देव की, जन्म २ के पाप हरे ।। १ ।।
धूप दीप हैं साधन सारे अरु जितने पखरा पोथी ।।
निज आतम विविरेक सो किरिया, और सभी जानें थोथी ।।
सत चित आनन्द तीन पुष्प धरि, निश्चय में जुड़ो जोती ।
मन वाणी को गम्य नहीं जहं, सब होय सबही जोती ।।
आप स्वयं परकाश विराजे, नेति नेति कर वेद कहे ।। २ ।।
जोती स्वरूप है आप शुद्ध फिर, किस ज्योती का भास करे ।
अन्दर बाहर तीन काल में, सबही का परकाश करे ।।
बुद्धी मध अज्ञान में आके, शुद्ध रूप आभास धरे ।।
"मैं-मेरा" यह वृत्ती करके, शुद्ध आवरण नाश करे ।
सब वर्ती चमक की चमक पड़ी है पवनत पानी सभी बहे ।। ३ ।।
गुप्तरु परपद आप विराजे, तेरे सो मरयाद नहीं ।।
आदि अनादि शब्द कहे तो तेरे तो कोई आदि नहीं ।

वेद शास्त्र मे नाना झगड़े, तुझ मे तो कोई वाद नहीं ॥
माया अविद्या जीव ईश में, तुझमें कोई उपाधि नहीं ॥
काल का भय नहिं जरा भी तुझमें, काहे को विरथा दु ख सहे ॥ ४

—०—

२७ लावनी. रंगत ख्याल (प्रश्न रूप)

खबर नहीं है अपने घर की, औरों के घर की बात करे।
कौन पुरुष इस काया नगर मे रातदिना परकाश करै ॥टेक॥
चन्द्र सूर्य तारागण अग्नी, विद्युत वायक सब भासे ।
जाग्रत स्वपन सुसोपति तुरिया, चार अवस्था परकासे ॥
तुरियातीत अरु अधकार को, या काया में कौन लहे ।
लिया दिया अरु खाया पीया, पहिली वातां कौन कहे ॥

शेर—

सब हाल का होय ख्याल जिसमें, कौन कुव्वत पायके ।
कहने मेरे पर गौर कर, मन आपने को लायके ॥
अंतर में करो विचार, क्यों मरे बाहर धाय के ।
जाता आता कौन है, सबही कहो समझाय के ॥

तन शहर का खोज करो यो को जन्मै अरु कौन मरे ॥ १ ॥
ईश्वर जीव कहत है किस को, भेद का कारण दिखलावो ।
क्या स्वरूप और देश काल है, वस्तू तिनकी बतलावो ॥

गुण दाती अरु बाधा कौन है, क्या करते अरु क्या जाते ।
कौन रूप तिनके मिपटने का जहाँ पै य भाव जाते ।।

शेर—

चेतन नित्य समान है फिर धर्म उसके क्यों कहे ।
एक तो सर्वज्ञ है, अल्पज्ञ दूजा क्यों कहे ॥
एक तो करता नहीं, अरु एक कर्ता क्यों रहे ।
एक तो आनन्दमय है, एक दुख को क्यों सहे ॥

जब वह भजन करे ईश्वर का, फिर कैसे उस भा ध्यान करे ।।
तत्त्वमसि पद का वाच्य कहा है कौन लक्ष्य बतलावे है ।।
महावाक्य में वृत्ति कौनसी, जो तिनका भेद मिटावे है ।।
कह ब्रह्म यह ज्ञान कहावे, या यह होता है किसको ।
या तम में रहे कौन अज्ञानी, हमने बतलाओ उसको ।।

शेर—

प्रक्रिया सबही कहो, वेदान्त के सिद्धान्त की ।
जिस भूमि के ज्ञानी पुरुष, बात करते ज्ञान की ।
जिस तरह के करते ध्यान को, वह कौन वाला ध्यान की ।
समाधी के विघन साधन, बात कह अष्टांग की ।

के प्रकार की है यह समाधी जिसकर योगी योग करें ।। १ ।।
काल का भय किसको रहता है, कौन पड़ अन्त क्या मुक्ते ।
मुक्ति होयकर बन्ध से छूटे सभी कहो तिनको मुक्ती ।।

ज्ञान के साधन कौन पियारे, किसको कहते हैं भक्ती ।
कै प्रकार की कैसे करते, बतलावो करके शक्ती ॥

शेर—

पंच कोश अतीत आतम, कौन कारण से रहे ।
सबके शामिल मिल रहा, कैसे अकारता हो रहे ॥
गुप्त परघट एक है, क्यों अपनी लज्जत खो रहे ।
फंसि के अविद्या जाल में, इस जगत में क्यों मोरहे ॥
व्यापक ब्रह्म स्वरूप कहत हैं, कैसे डूबे कैसे तरे ॥ ४ ॥

(इति प्रश्नः)

—०—

२८ लावनी. चाल दून (पूर्व प्रश्नों के उत्तर)

कर घर अपने की खबर सबर से सोवे । अजी एजी, आतमा सब का परकासी ॥ सत् चित् आनन्द रूप स्वयं प्रकाश है अविनासी ॥टेक॥ जब स्वप्न अवस्था होय नहीं कोइ जोति ॥ अजी एजी, भासता जगत जाल सारा । सब जोनि जीवाभास नहीं तुझ द्रष्टा से न्यारा ॥ जो कहीं अवस्था चार जाग्रत आदि ॥ अजी एजी पंचमी तुरियातित जानो ॥ इन सब का व्यभिचार एक रस आतम पहिचानों ॥ जिसे अंधकार प्रकाश भासते दोनों ॥ अजी एजी, उसे आभास बताया है ॥ लेना देना जान भूल सब उसमें हि गाया है ॥

गुण धर्मी अरु धामा कौन है, क्या करते अरु क्या जावे ।
कौन देश तिनके विचरन को जहाँ पे ये आवे जावे ॥

शेर—

चेतन मित्र समान है फिर धर्म उलटे क्यों करे ।
एक तो सर्वज्ञ है, अल्पज्ञ दूजा क्यों बने ॥
एक तो करता नहीं, अरु एक कर्ता क्यों रहे ।
एक तो आनन्दमय है, एक दुख को क्यों सहे ॥

जब वह भजन करे ईश्वर का, फिर कैसे वस आकार करे ॥
तत्त्वं पद का वाच्य क्या है, कौन लक्ष लक्षण है ॥
महावाक्य में वृत्ति कौनसी, जो तिनका भेद मिटाते है ॥
अहं ब्रह्म यह ज्ञान कहाते या यह होता है किसको ।
या तन में रहे कौन अज्ञानी, इसमें बतलाओ सबको ॥

शेर—

प्रक्रिया सबही कहो, वेदान्त के सिद्धांत की ।
जिस योनि के ज्ञानी पुरुष, बात करते ज्ञान की ।
जिस करके करते ध्यान को, वह कौन वार्ता ध्यान की ।
समाधी के विघ्न साधन, बात कह अष्टांग की ।

दो प्रकार की है यह समाधी जिसकर योगी योग करे ॥ १ ॥
काल का भय किसको रहता है, कौन पंगु अरु क्या सुझे ।
शुचि रायमल बन्ध से छूट सभी कहो तिनको सुझे ॥

एजी, लोक लोकांतर को जावे ॥ दूजा रहे असग, नहीं कछु करै नहीं खावे ॥

शेर—

चेतन नित्य समान है, धरम उलटे यों कहे ।
माया अविद्या भेद से, करता अकरता बनि रहे ॥
करता मती के भेद से, सुख अरु दुख को सहे ।
निष्काम होय ईश्वर को भजता, आजादता में होरहे॥

त्वं पद वाचक जीव ईश तत् पद का । अजी एजी, असी पद लक्षहै सुख रासी ॥ २ ॥ होय चिदाभास को ज्ञान वही अज्ञानी ॥ अजी एजी सभी प्रक्रिया को जानो ॥ नहिं प्रक्रिया का अंत बात जिसकी करते ज्ञानी ॥ विधि, इच्छा, हठ, विश्वास, ध्यान उपयोगी ॥ अजी एजी, आदि में विघन चार रहते । साधन हैं जिसके आठ योगी जिसे निर्विकल्प कहते ॥

शेर—

अभ्यास की कर तारतम्यता, भेद जिसके बहुत हैं ।
भय रहता अंतःकरन में, अब बंध मुक्ति कहत हैं ॥
बंधन विषयों की वासना, त्याग को मुक्ती कहैं ।
तज राग को युक्ती यही, फिर मुक्त आपै होरहैं ॥

ज्ञान के साधन अष्ट भक्ति बहि रंगा । अजी एजी, भक्ति बहि काटे सब फाँसी ॥ ४ ॥

शेर—

चैतन्य जो कूटस्थ है, तिसकि शक्ती पाय के।
आभास अन्त करण में, सब उपाध बरतें आय के॥
उपाध की पहिली कली में, कहे परसन गाय के।
पुरि अष्टिका में गमन होय, सुनलीजिए चित लायके॥

जन्मे मरता स्थूल विकारी पटका। अजी पजी, आतमा वाले नहीं आसी॥ १॥ माया में पड़्या आभास ईश कहलावे। अजी पजी, अविद्या माहिं जीव कहिये, यहि कहते तिनका रूप भेद उपाधी से लहिये॥ अब ईश काल वस्तू का हाल कहूं समझ। अजी पजी, ईश के तीन वेश माने॥ सूत्रात्म् वैराट, तीसरे अव्याकृतराने॥

शेर—

भूत भविष्यत् वर्तमान काल जिसके हैं सही।
समष्टी, स्थूल, सूक्ष्म, कारण ये वस्तू कही॥
आठ गुण हैं माया शक्ति, ॐकार वाचा हुई।
अब जीव के सुन लीजिये, टुक समझ के मेरी कही॥

है नेत्र, हृदय, अरु कंठ, देश यह तीनों। अजी पजी, अवस्था तीन काल भासी॥२॥ इंद्रियाँ और स्थूल हैं तिसकी वस्तू। अजी पजी चतु-र्वेश गुण जिसमें रहते॥ किरिया शक्ती ज्ञान बैखरी बानी को कहते॥ सो कर्ता पुण्यरुपाप दुःख सुख खाता। अजी

एजी; लोक लोकांतर को जावे ॥ दूजा रहे असंग, नहीं कछु करै नहीं खावे ॥

शेर—

चेतन नित्य समान है, धरम उलटे यों कहे ।
माया अविद्या भेद से, करता अकरता बनि रहे ॥
करता मती के भेद से, सुख अरु दुख को सहे ।
निष्काम होय ईश्वर को भजता, आजादता में होरहे॥

त्वं पद वाचक जीव ईश तत् पद का। अजी एजी, असी पद लक्षहै सुख रासी ॥ ३ ॥ होय चिदाभास को ज्ञान वही अज्ञानी ॥ अजी एजी सभी प्रक्रिया को जानो ॥ नहिं प्रक्रिया का अंत वाल जिसको करते ज्ञानी ॥ विधि, इच्छा, हठ, विश्वास, ध्यान उपयोगी ॥ अजी एजी, आदि में विघन चार रहते । साधन हैं तिसके आठ योगी जिसे निर्विकल्प कहते ॥

शेर—

अभ्यास की कर तारतम्यता, भेद तिसके बहुत हैं ।
भय रहता अंतःकरन में, अब बंध मुक्ति कहत हैं ॥
बंधन विषयों की वासना, त्याग को मुक्ती कहैं ।
तज राग को युक्ती यही, फिर मुक्त आपै होरहैं ॥

ज्ञान के साधन अष्ट भक्ति बहि रंगा । अजी एजी, भक्ति बहि काटे सब फाँसी ॥ ४ ॥

शेर—

चौथा प्रेमा परा भक्ति, कहते यों श्रय भेद हैं।
दृष्टा है पञ्चो कोष का, यों कोष तें न्यारा कहैं ॥१॥
जैसे मिला आकाश सब में, शुभ दोष नहिं धारन करे।
तैसे मिलातम देह के, धर्मों से नहिं जन्मे मरे ॥२॥
भरम के वश कलमकर, भूलता है अपने रूप को।
निद्रा में कंगाल होइ, स्वपना ज्यों आवे भूपको ॥३॥
आतम तो ब्रह्मस्वरूप है, परकी उपाधी को धरे।
इस हेतु से यह दूखता, तजकर उपाधी को तरे ॥४॥
एक आत्मा में भरम करके, भीतर यो बाहर भासता।
एक रस रहता सदा, मोपदि आप उजासता ॥५॥

—०—

२६ लावनी (चाल दून.)

क्या सुनूँ कि देखूँ तेरे कमाल की लीला, महाराज ये सूरत किसने बनाई है। अजब तरह की सूरत सभा, यह कहाँ से पाई है ॥टेक॥ कहीं शिव ब्रह्म विष्णु हो के चरण पुजावे महाराज कहीं सुर असुर कहाई है। मन के मोहनीसूरत सुघाहित करी ठगाई है॥ कहीं धन दम कहीं धन पुरंदर राजा, महाराज सभा गन्धर्व सजाई है। करे अप्सरा नृत्य ताल सुरस कहीं गाई है॥

शेर—

कहीं पद्मासन बांधे मुनिजन, ध्यान तेरा करि रहे ।
ब्रह्मानंद में होके मगन, कोइ मुक्त जीवन बनरहे ॥
तीर्थ यज्ञादिक करे कोई, दान में मन दे रहे ।
कोइ भोजन प्रेम से दें, कोई भिक्षा लेरहे ॥

कहिं पंडित बनके वेद पाठपढ़ते हैं । महाराज हरिजन हर गुन गाई है ॥१॥ कहीं पै राजा रानी कहीं रइयत है, महराज चोर ठग पड़े दिखाई है । कहीं पाप कहीं पुन्य शत्रु कहीं करे भलाई है । यह खलकत तेरे ख्याल की चाल निराली, महराज देखें देखी नहीं गई है । सभी शान हर आन एक नहिं मिले मिलाई है ।,

शेर—

कहीं ऐसी शान है, कुरबान आलम हो रहे ।
हुस्न बिजली सी चमक में चित्त जिनके मोहरहे ॥
देख बद सूरत कहीं पै, मुंह से पल्ला ले रहे ।
तारीफ निंदा शान की, अपनी जबां से कहि रह ॥

मी०॥ कहीं देख के सूरत खुदी ये मन चल जावे, महराज नहीं वो हटे हटाई है ॥ २ ॥ टेक ॥ ये चित्र रचे हैं एक से एक अनोखे । महराज ये माया से उपजाई है ॥ पलभर में हो नाश नहीं कछु परै दिखाई है ॥ तू कौतुक करके देखै खलक तमाशा । महराज चतुर भूले चतुराई है ॥ स्वसरूप को विसारि रूप में रहे लुभाई है ॥

शेर—

माया जो ऐसी आपकी, निकसै नहीं योगी यती ।
त्याग ग्रहण की क्रिया को, उसमें फिर करते रती ॥
त्याग संग्रह के विषय में, बेखबर जिनकी मती ।
नीर बिन संसार, में डूबे हैं अचरज सी गती ॥

मी०॥ इन खुले नयन से अलख परे दिखाई । महराज नैन बिन सब भिटजाई है ॥ ३ ॥ टेक ॥ ईश्वर माया जीव अविद्या दोनों, महाराज जहां कों श्रवण सुनाई है । इंद्रिय मन का विषय स्वजन कहँ समुझाई है ॥ नहि भीतर बाहर नहिं दूर नहीं नरे । महराज वद नेति कहि गाई है, सत्यसच्चिदानंद ब्रह्म निर्भय सदाई है ॥

शेर

शुद्ध है चेतन्य है वह, नित्य ब्रह्मानन्द है ।
निर्मल निजातम है सदा, ना कोई माया गंध है ॥
प्रकाश ना पहुँचे कोई जहां सर्व ज्योति मंद है ।
गुप्त है सो प्रगट दीसे, गुप्त गुप्तानन्द है ॥

मो०॥ये विषय वासनामय दुखरूप सदाई । महराज ये महरम गुरु से पाई है ॥ ध्रुव निश्चय होगया आप अपनोई मांही है ॥ ४ ॥ टेक ॥

—o—

३० लावनी (चाल दून)

तुहीं व्यापक ब्रह्म अखंड नहीं जड़ लीला, महाराज अपन मे आप भुलाया है। स्वपने का परपच जागिकर कहूं न पाया है॥ टेक॥ सब तेरे ही फुरने का है विस्तारा, महराज नहो कुछ तुझसे न्यारा है, कर देखो तत्व विचार सभी मिथ्या संसारा है॥ कहिं नहिं आशिक माशूक सभी यह झूंठा, महाराज नहीं कोइ मरे न मारा है। सुन गीता का ज्ञान कृष्ण को यह निरधारा है॥

शेर—

अब शेर यामें लिखत हैं,समझे सोई नर शेर है।
समझे सो पावे आपको, बिना समझे फेर है॥
सब फेन तरंग तुषार जल मे,पडत घूमर घेर है।
यक तोय से कछु भिन्न नाहीं,दृष्टि माहीं फेर है॥

कर देखो दिल में ख्याल हुया नहिं होगा। महाराज नहीं कोई जाप जपाया है॥ स्वपने का०॥

जैसे सुवरण में भूषण बने अनेका। महाराज एक नहिं मिले मिलाया है॥ कंठ, कुंडल, अरु नाथ, कंदोरा खूब बनाया है॥ जब देखे नाना रूप भूलि गया सोना, महराज मोल तिसका करवाया है॥ जब काटे धरा सराफ तभी यक सुवरन पाया है॥

शेर—

तैसे जगत है आतमा में, कनक में भूषन यथा।
नीर माही लहर जैसे, सीपी में रूपा तथा॥

आकार दृष्टि कोरि के,तुक समझ ले उस पार को ।
पार है दिलदार दिल में, देखि अजब बहार को ॥

तू नहीं रक्त नहिं स्वेत न काला पीला । महाराज नहीं खोया नहिं आया है ॥ २ ॥ टे० ॥ जैसे भ्रम माहीं दीखत नीला काला । मह राज अनों लंबू तनवाया है। धूलि धूम अरु मेघ गगन नहिं छिपे छिपाया है ॥ ऐसा है आतम अद्भुत रूप तुम्हारा । महाराज छिपै नहिं देह विकारा है, जो देखत में आवे सभी मह झूठ पसारा है ॥

शेर—

रहता सदा तुही एक रस,दूजे का तुझमें लेश ना ।
आरम्भ और परिणाम माहीं,देश और परदेश ना ॥
सादी अनादि कोश नहीं,सब कल्पना का अंत है ।
तूही सदा चिन्मत रूप है,कोई समझे विरला संत है ॥

कर्ता क्रिया और कर्म सभी है झूठा । महराज जनों स्वप्न की माया है ॥ ३ ॥ टेक ॥ यों होय जगत का अंत, संत मह कहते । महराज वद मे एस ही गाई है ॥ नेति नेति कहि ब्रह्म तुम मह मैन सुनाई है ॥ ये चारन बैठे हार अवस्था नहिं चारा ॥ महाराज सभी झूठी चतुराइ है । पढ़ि पढ़ि वेद पुराण करी जग माहिं ठगाइ है ॥

शेर—

कोई गुप्त से परघट कहै, परघट जो गुप्तानन्द है ।
कोइ ध्रुव से चलता कहै,सो चलता परमानन्द है ।
वस्तु में कछु भेद नाहीं, कहन माहीं फेर ह ॥
जैसे वन के पशू को, कोइ बाघ कहै कोइ शेर है ।
कोई कहै ब्रह्म कोई कहे उसी को माया ॥ महाराज भेद तिसमें नहिं भाया है ॥ ४ ॥

—०—

३१ ख्याल (रंगती दून)

मत पड़े भरम के जाल ख्याल सुन मेरा । महराज बात वेदोंने गाई है, तुही सच्चिदानन्द सभी तेरी रोशनाई है ॥ टेक ॥ जब हुवा भर्म तो लगा खेल के माहीं, महाराज सुधी अपनी विसराई है । तरह तरह के रंग राग में सुरति लगाई है ॥ उस सूरत में मूरत का ही प्रतिबिंबा ॥ महाराज वही आभास कहाई हैं । सोन करै करता बनिके माने मनमाहीं है ॥

शेर—

भर्म के वश कर्म करि, फिरता है माया ठाट में ।
वो अविद्या होके तेरे, मारे, सिर की टाट में ॥
तू खुशी करि मानता, लगता विषय की चाट में ।
अजब नमा चीज को, देखन लगा है हाट में ॥

मी० ॥ इस सभी चीज का बीज नजर नहिं आवे, महाराज भिन्न भिन्न फिरे सुभाई है ॥ १ ॥ एक सुन्नमीत पर चित्र रंगे गुमाई, महाराज बिना कर लिखा चितेरेने । पोंचे से ना मिटे मारवा चाहीं सेरेन । यों भ्रम वश होकर फंसा सत्य माने है ॥ महाराज कर है कम जो बतलाई । छूटन का भी चाहे, मगर बाकी में उलझाई ॥

शेर —

मिरधम में धमम समझ,करता जो छोडे कर्म को ।
कर्म धर्मी से जुदा सो, मानता है धर्म को ॥
देख कालातीत आतम, देखता क्या धर्म को ॥
पर को अपना जानता सब छोड़ दीनी धर्म को ।

मी० ॥ यों भ्रम छोड़ के फिरता मारा मारा, महाराज दुख गफलत के माहीं है ॥ २ ॥ आपज्ञान के ज्ञान बिना जग भासे । महाराज सर्प रस्सू में परकासे ॥ रस्सु ज्ञान स सर्प सभी नट माही में नास ॥ जा अज्ञानसे उपजत है ना नासे महाराज ज्ञान होय ही मिटिमाई ॥ ठूंठ जानते तस्कर का भय होवत है नाहीं ॥

शेर—

पाप पुन्यों से अलहिदा, कृष्ण गीता में कहा ।
अज्ञान वश हो जीव,य खुद आप सकट सह रहा ॥
वाशिष्ठ में श्रीराम से परमग ऐसा कह रहा ।
अज्ञान अपने आपके से, वृथा हो नर जल रहा ॥

मी० ॥ यह विश्व सभी फुरने का है विस्तारा । महाराज देख अनुभव के माहीं है ॥ ३ ॥ जो सत चित आनन्द व्यापक ब्रह्म कहावे । महाराज वेद नित अभेद कहि गाई ॥ नेति नेति कहि थाकी श्रुति नहिं उसकी थाह पाई ॥ फिर कौन अलहिदा शामिल किस को कहिये ॥ महाराज भेद की गंध नहीं राई ॥ ज्यों वंध्या का पुत्र किसी ने देखा है नाहीं ॥

शेर—

चेतन निरमल शुद्ध है, सो कभी छिपता नहीं ।
सर्व का परकाश है, वह सर्व में लिपता नहीं ।
आनन्द गुप्तानन्द का, वह प्रकट में जाता नहीं ॥
एक रस वह वस रहा, पकड़े से कहिं आता नहीं ।

मी० ॥ है स्वयं सच्चिदानंद नहीं कछु करता, महाराज समक्ष ध्रुव बात जनाई है ॥ ४ ॥

—o—

अथ वेद शास्त्र पुराणादिकों का सार (कवित्त पर्व सी)

३२ कवित्त

ईश इच्छा अनुसार, पाया विष्णु को अधिकार । सोतो रचता ससार, नाना भाति कर पेखिये ॥ मही बाढ़त है भार, तब धारत औतार । धर्म की बाधत कार, पाप सब छेदिये ॥ कहीं शूकर कहीं कच्छ, कहीं लक्ष औ अलक्ष, कहीं पर घट ही

लेखिये ॥ दुष्टन को मारिडारे संतन के काज सारे श्री गुप्तरूप धारे, यह अचरज देखिये ॥ १ ॥

दोहा—

नाना विधि लीला करै, जिस का वार न पार ।
हानी होवे धर्म की, तब विविध वेष औतार ॥

३३ कवित्त

जब राम रूप धार्या, ब्रह्म ज्ञान को संभार्या । गुरु वशिष्ट पधार्या, राज सभा में आयके ॥ विश्वामित्र तहां आये, जब राजा हरषाये । तहां राम को बुलाये, ब्रह्म ज्ञान को सुनाय के ॥ ब्रह्म ऋषी के सुधारे, सिया स्वयंवर पधारे । तहां तोडे धनुष मारे, मान भूपों के धराय के ॥ हरी भक्तों की शरन, पूज्यो राम को चरन । किया सिया को वरन, पहुँचे अवधपुर में आय के ॥ २ ॥

दोहा—

राम रूप को धारि के, कीन अदभुत काम ।
भक्तीवश है राम की, धर्यो रामजी नाम ॥

३४ कवित्त

फरि वन को पधाना, जहाँ सिया को चुराना । सुग्रीव को मिलाना, दुष्ट बाली को पछाड्या है ॥ बन्दर फौज को पठाना, सतू सागर पै बंधाना । चढि लंकाजु को धाया दशशीश को बिडार्या है ॥ पद दिय समीभरज, फरि आय कियो राज ।

बाँधी धर्म की मर्याद, सब प्रजा को सुखाय्या है ॥ किये सब ही शुभ काम, फेरिगये निज धाम। जहाँ पाय के आराम, सब श्रम को निवाय्या है ॥ ३ ॥

दोहा—

भार उतारयो धरनि को, बांधी धर्ममर्याद ।
परघट किया गुण कर्म को, जिसको गावैं साध ॥

३५ कवित्त

फेरि मथुरा में आये, वसुदेव घर जाये। पुत्र नन्द के कहाये, रहे गोकुल में धाय के ॥ बानी हुई जो अकाश, जाने कियो परकाश। ऊपज्यो त्रास, जब कंस मन आय के ॥ मता कंस ने उपाया, जब हुकुम सुनाया। सभी मंत्री बुलाय मारें बाल कोने जाय के ॥ प्रथम पूतना पधारी, सोतो खैंचि खैंचि मारी। दैत्य आये कपट धारी, सब राखे हैं संहार के ॥ ४ ॥

दोहा—

रामकृष्ण लीला करी, जाय बने गोपाल ।
कंस केशी चाणूर से, हने दुष्ट भूपाल ॥

३६ कवित्त

राम औ गोपाल, लीला कीनी सब बाल। मारे धरा के भूपाल, और दुष्ट जो संहारे हैं ॥ किया जल बीच वास, पूरी भक्तन की आस। कुरुक्षेत्र प्रभास कौरव यादव सब मारे

हैं ॥ वाम्मो धरनी को भार, ऐसे कियो है संहार। फेरि धाय सोये नार निज धाम में पधारे हैं ॥ जब होती है अनीती तब होय यह रीती। ऐसी ईश्वर की नीती, पावे सब कोई हारे हैं ॥ ५ ॥

दोहा—

अर्जुन उद्धव विदुर को, स्वयं बताया ज्ञान ।
काज किये मन भावते, प्रभु पहु चे निज धाम ॥

—०—

३६ कवित्त

कारण जीवों के कल्याण गुण कर्म भक्ति ज्ञान। जाने कियो है विख्यान, परगट करिके दिखायो है ॥ अष्टा दस जो पुरान किये व्यास भगवान। महा भारत के माहिं, विस्तार ते बतायो है॥ वेदमें जो कॉड तीन, भिन्न सब कीनि कीनि। भक्ति कर्म के अधीन, निज ज्ञान को सुनायो है ॥ वानी केसरी अपार, जाको नहीं वार पार । लेव बुधि मान सार, काम आपनो बनायो है ॥ ६ ॥

दोहा—

निगमागम इतिहास, औ अष्टादश पुरान ।
कहे जो कर्म उपासना, इम सबको फल ज्ञान ॥

ज्ञान बिना मुक्ति नहीं, यह तू निश्चय जान ।
बाजै डंका वेद का, सबसे प्रबल प्रमान ॥

—०—

३७ कवित्त (निष्काम)

तिस ज्ञान के ही हित कहे साधन अमित । सुनि लीजे कर के चित्त, कहें तिनको बखानि के ॥ फल कामना का त्याग, कीजे विधी अनुराग । याते छुटैं सब दाग रहै मलदोष हानि के ॥ उठे वासना अपार, अंत करण के मंझार । ताको भयो तिरस्कार, मल दोष गया निश्चय लीजिये जानि के ॥ निष्काम को यह फल, जाते दूर होवे मल । मन होत है अचल वृत्ति ध्येया कार तानि के ॥ ७ ॥

सोरठा—

वृत्ति ध्येयाकार, चलता मन तब स्थिर रहे ।
यही ध्यान परकार, ध्येयाकार मन जब गहे ॥

—०—

३८ कवित्त (निष्काम)

अब कहत उपासना को, दूरि करे वासना को मेटे भव-वासना को, नाता जग तोड़ती । मनवाह्य वृत्ति धावे, तिसें फेरि कर लावे । निज तत्व जग पावे, विषयों ते यही मोड़ती ॥

कहीं जाय के इकान्त, करे ध्येयहू को चिंत जब पावे कछु चैन, तब ध्यान हू में खोवता। जैसे नारि व्यभिचारी पर पुरुष वृत्तिधारी, तैसे जानो अधिकारी, वृत्ती ध्येयहू पे जोवता ॥ ८ ॥

दोहा—

वृत्ती अन्तःकरन में, होवे ध्येयाकार।
नाशे मल विक्षेप सब, अब कहूँ विवेक विचार ॥

—०—

३९ कवित्त (विवेक)

सब साधन में सरदार, सब नरों का सिंगार विवेक को विचार, पावे सत्याऽसत्य पेखिये । आतम अविनाशी, सब जगत् विनाशी, सोतो सदा सुख राशी, सारा जग स्वप्न देखिये ॥ यह ज्ञेय जब आवे, संग अनुजों को जावे अविवेकता के जावे, पावो मुक्ति गति लखिये । जब जाने नित्याऽनित्य, तब होवत है हित सुनि कीजै कर के मित्र, सोतो परम विशापिय ॥ ९ ॥

दोहा—

लक्षण कहा विवेक का, सो तू निश्चय धार ।
बिगड़े काज अनादि के, पल में देत सुधार ।

—०—

४० कवित्त (वैराग्य)

दूजा भ्राता जब आवे, तब रोष को दिखावे। सब झूंठा ही बतावे, दृश्य जाल को दिखाय के॥ इच्छा त्यागने की होवे, लोक वासना को धोवे। गत हुये दिन रोवे, बृथा आयु को गवाय के॥ जाने जानते थे सच्चा, सो तो पायो अतिकच्चा, सब झूठे नाच नच्या, वामें मच्यो धाय धाय के॥ यह जगत जाल तजूँ, निज रुपही को भजूँ। अवसाज यही सजूँ, गाऊँ राग निज पाय के॥ १०॥

दोहा—

यह सरूप वैराग का, जो कोइ लेवे जान।
फिरि याको धारन करै, तब करै वेगि कल्यान॥

।—०—

४१ कवित (उपरती)

तीजो मैया है उपरती, सो तो करत है निवरती। धारि लेस पट्, देत विषयों ते हटाय के॥ मन इंद्रियहु को तोड़े, नाहीं विषयन में जोड़े। वेद गुरू श्रद्धा लोड़े, समाधान को ठहराय के॥ और साधन जो कर्म, सब जानि लेवे भर्म। जाने विषयों को मर्म, भाजे विषवत धाय के॥ निज परनारी, सब लागत है खारी। ऐसी धारना को धारी, द्वैत दिये हैं उड़ाय के॥ ११॥

कहीं जाय के इकान्त, करें ध्येय को चित जब गहे कछु अंत, तब ध्यान हू में खोवता । जैसे नारि व्यभिचारी पर पुरुष चितधारी, तैसे आमो अधिकारी, वृत्ती ध्येय पे खोवता ॥ ८ ॥

दोहा—

वृत्ती अन्तःकरन में, होवे ध्येयाकार ।
भागे मल विक्षेप सब, अब कहूँ विवेक विचार ॥

—०—

३६ कवित्त (विवेक)

सब साधन में सरदार, सब नरों का सिंगार विवेक को विचार, याते सत्याऽसत्य पेखिये । आतम अविनाशी, सब जगत् विनाशी सोतो सदा सुख राशी, सारा जग दुख पेखिये ॥ यह भेद जब आवे, संग मनुओं को त्यागे अविवेकता को जावे, याको मुक्ति मति लेखिये । जब जाने नित्याऽनित्य, तब होवत है हित सुनि सीखे कर के चित, सोतो परम विशेषिये ॥ ९ ॥

दोहा—

साधन कहा विवेक का, सो तू निश्चय धार ।
पिछले काल प्रमादि के, पल में देत सुधार ।

—०—

तत्व मसि गावते ॥ ताको सोधन बतावे, वाक्य अर्थ को छुटावे, वृति लक्षणा ठहरावे, फेरि लक्ष को लखावते ॥१३॥

दोहा—

तत्वमसि आदिक वाक्य जो, सुनना करके कान ।
इस स्थल के बीच में, येही सरवन जान ।

—०—

४४ कवित (मनन)

श्रवण किये हैं वचन, कीजे मन से मनन । ओष्ठ वाक्य को हलन, या में रंचहू न देखिये ॥ युक्ती भेद की है बाधक, और अभेद की स्वयं स्वरूप की साधक, बार बार ताको लेखिये ॥ प्रमाण औ प्रमेयगत, भावना असंसत । श्रवण मनन से होवे गत, यह निश्चय करि पेखिये ॥ तजे मूरखों का संग करें होय के असंग । लागे श्रवण को रंग, पावे पद जो अलेखिये ॥ १४ ॥

दोहा—

मनन इसी को कहत हैं, मन से करे विचार ॥
सोधे सत्य असत्य को, खैंचि गहे निजसार ।

—०—

४५ कवित (निदिध्यासन)

वृति धारा ज्यों बहावे, सब ब्रह्म में ठहरावे ये निदिध्यासन कहावे, खोवे विपरीत भावना ॥ वृत्ति उठत सजाती, दूर होवत

दोहा—

तीजा साधन उपरती, सोई षट् परकार ।
जब याकौ धारन करै, तब कुछ देख बहार ॥

—०—

४२ कवित (जिज्ञासा)

चतुर्थ जिज्ञासा है भाई, जाने इच्छा उपजाई करे मोक्ष की चाह आशा सुखकी लगाय के ।। जन्म मरन दुख जावे आनन्द सुख पावे । अब छोटी चित आवे तोहि कहूँ सुनाय के ॥ गुरु ज्ञानवान पास, जाय करिके उल्लास । तेरी पूरे सब आस, कहे ज्ञान समझाय के ॥ अब कीजै यही काम, होय जिस में आराम । पावे सुखद के धाम, रहे ब्रह्म में समाय के ॥१२४

दोहा—

जिज्ञासा चौथो कह्यो, निश्चय कर मन माहिं ।
सुख की करता प्राप्ती, दुख को खोवे माहिं ॥

—•—

४३ कवित (श्रवण)

कछु घर नाहीं मान निज आतम स ध्यान । ऐसे गुरु देवे ज्ञान, निज ब्रह्म को बतावते । ऐसे समझ्या पहिचाने, सेवा तिनकी की ठान । अब दया दृष्टी आने, सब तत्व को सुनावते ॥ वाक्य वदों मंझार मुख्य कहे हैं जो चार । करें तिन को उचार

४७ कवित्त (जीवन मुक्ति)

वेद कहे याको ज्ञान, सो तो प्रवल प्रमान। हुये पुरुष जो शंकर, आदि सब गायी है ॥ याते होवत मुकत, यह पाय के वखत। मिथ्या भासे यह जगत, जाको सचा जानि धायो है ॥ जीवनमुक्ती जो कहावे, भेद भ्रांती को उड़ावे। पुनरावृत्ती को मिटावे, एक ब्रह्म मन लायो है ॥ छूटे धारना औ ध्यान, पाया पद जो महान्। सब ज्ञान औ अज्ञान, ब्रह्म-नीर-में बहायो है ॥ १७ ॥

दोहा—

यह जीवन मुक्ति कही, दूजी कही विदेह।
स्थित ह्वै निज रूप में, छूटि जाय जब देह।

—०—

४८ कवित्त (विदेह मुक्ति)

कही मुक्ती जो विदेह, सो तो झगड़ों का गेह। कीजे कौन से सनेह, नाना भांति कहि रोवते ॥ कोई दोऊ को सुनावे, एक जीवत बतावे। कोई ईश्वर में मिलावे, कोई शुद्ध ब्रम्ह पोवते ॥ कोई कर्म से बतावे, कोई ध्यानहू ते गावे। कोई वासना मिटावे कोई शिला पत्थर जोवते ॥ कोई लोकों में बतावे, कोई कहे लौटिआवे। नाना झगड़े मचावे, चीर पंक माहिं धोवते ॥ १८ ॥

बिजाती यहाँ करो बिन रावी, मन फेरि फेरि लावना ॥
वृत्ति होवे ब्रह्माकार, जरे वासना की झार । जब देखन्या ब्रह्म,
सो महाम् पद पावना ॥ वृत्ति होवे परिपक्व, और सब में
लक्ष्य यामें कछु नाहीं शक्य, जो समाधी कहे गावना ॥ १५ ॥

दोहा—

निदिध्यासन श्रवण मनन, तीनो बसते ध्यान ॥
तेहि पर अवश्य पधारते, भूपति निरभय ज्ञान ।

—०—

४६ कवित्त (ज्ञान)

चढ़ो ज्ञान का सवारी, तेगा हाथ लियो भारी । 'अहं-मद' छिनकारो, करी, दल विघ्न भाय के ॥ दूजो राज था अज्ञान, सो थो समर मैदान । छूटे ज्ञानहू के बान, योधा भाग्या है घबराय के ॥ अज्ञान दल मारे बाजे ज्ञान के नगारे । होन लगी जयजय कारे, निज भरल समाय के ॥ पाया राज जो गुप्त हुए जीवन मुक्त । तीनों ताप सेना भगाय, कहे एक ब्रह्म पद मति मति गाय के ॥ १६ ॥

दोहा—

जीव नहीं तू ब्रह्म है, अविनाशी निरवान ।
बजे ढंढोरा वेद का, कहें इसी को ज्ञान ॥

—०—

कहानी, कछु मनन धरत हैं ॥ जान्या आपको असंग, चढ़े काहू का न रंग । जाने जीत्यो अति जग, सो तो मार्‌यो ना मरत है ॥ २० ॥

दोहा—

काल नगारे शीस पै, डंका ज्ञान लगाय ।
सब कल्पित निजरूप, में विचरत सहज सुभाय ॥

—o—

५१ कवित्त (पूर्वोक्त लक्षण)

कभी तीर्थों में जावे, कभी मरूभूमि आवे । कभी भोजन अतिखावे, कभी भूखों ही रहत है ॥ राखै काहुसे ना काम, रहे दिल में आराम, एक आतम में धाम, निजरूप में चरत है ॥ करने योग किया काज, तजी जगत की लाज । मिथ्या जाने सब राज, स्वयं राज को करत है ॥ देह इन्द्रिय अरु मान, मन रहत है दीवान, बुद्धि नारी है महान, चित् चिंतन करत है ॥ २१ ॥

दोहा—

अहंकार सब काज को, देवे तुरत संभार ।
मन दीवान के हुक्कम से, खड़ा रहे दरबार ॥

—o—

५२ कवित्त (पूर्वोक्त लक्षण)

जपै ईश को न जाप, मिटा भेद भरम पाप । स्वयंरूप चिदाकाश

दोहा—

कोई समसहु व्ययमानते, कोइ कर्मसम व्यवहार।
आगम निगम पुरान का, सार गहे कोइ साध॥

—०—

४९ कवित्त (जीवन मुक्तों का व्यवहार)

कहे जीवन मुक्त, तिनके व्यवहार व्यक्ताव्यक्त। नहीं विषयों में आसक्त, सो तो साज नाना साजते॥ कभी कुटी में लंगोटी लिये हाथ माहीं सोटी। कभी सोटी ना लंगोटी, नागे ही विराजते॥ कभी ध्यान को लगावे, निजरूप में समावे, कभी रूप मन भावे, कछु लाज नहीं लाजते॥ कभी तत्व को विचारें कभी वाक्य उचारें, कभी मौन ही को धारें, कभी सिंह सम गाजते॥ १९॥

दोहा—

जिनके व्यवहार को लखें, जिनको आत्मा लक्ष।
बाह्य धर्म को त्यागि के, निर्भय विचरें दक्ष॥

—०—

५० कवित्त (पूर्वोक्त लक्षण)

आश्रम धर्म नाहीं जाति कुल धर्म नाहीं। मन को पतन नाहीं सदा ही परत हैं॥ कोई कहे जीवन् मुक्त, कोई विषय आसक्त। ठगि खायो सारा जगत, नाना वेष ही को धारते। कोइ जाने दक्ष, ज्ञानी वास बोले मीठी बानी। सुनि सब क

कहानी, कछु मनन धरत हैं ॥ जान्या आपको असंग, चढ़ै काहू का न रंग । जाने जीत्यो अति जग, सो तो मार्यो ना मरत है ॥ २० ॥

दोहा—

काल नगारे शीस पै, डंका ज्ञान लगाय ।
सब कल्पित निजरूप, में विचरत सहज सुभाय ॥

—०—

५१ कवित्त (पूर्वोक्त लक्षण)

कभी तीर्थों में जावे, कभी मरूभूमि आवे । कभी भोजन अतिखावे, कभो भूखों ही रहत है ॥ राखै काहुसे ना काम, रहे दिल में आराम, एक आतम मे धाम, निजरूप में चरत है ॥ करने योग किया काज, तजी जगत् की लाज । मिथ्या जाने सब राज, स्वयं राज को करत है ॥ देह इन्द्रिय अरु मान, मन रहत है दीवान, बुद्धि नारी है महान, चित् चिंतन करत है ॥ २१ ॥

दोहा—

अहंकार सब काज को, देवे तुरत संभार ।
मन दीवान के हुकुम से, खड़ा रहे दरबार ॥

—०—

५२ कवित्त (पूर्वोक्त लक्षण)

जपै ईश को न जाप, मिटा भेद भरम पाप । स्वयंरूप चिदाकाश

कहीं आवना न जावना ॥ राखे काहू से न काम, मस्त या आठोयाम। रहे आतमा आराम, जो अदृष्ट भोग अनन्य ॥ कभी खाट को बिछोना, सम मिट्टी और सोना। मिलै पत्र भी चबेना, आनन्द गीत गावना ॥ माने काहू से न शंक, चाहे राव होय रंक। रहे सदा निशंक हुई एक मत भावना ॥ २२ ॥

दोहा—

काल कर्म फांसी कटी, विचरत है निर्द्वंद।
तिन की गति कैसे लखे, जग-मानमोहिया बिंद ॥

—०—

५३ कवित्त (पूर्वोक्त लक्षण)

कोई कहे पद भ्रष्ट, कई मानते हैं इष्ट। सदा मनमें संतुष्ट, जाको हर्ष नाहीं शोक है ॥ कहीं पूजते हजार, कहीं देते हैं धिक्कार कोई नाहीं मित्र यार, कछू रोष नाहीं तोष है ॥ कभी मांगते हैं भीख, कहीं देत शुभ सीख। कभी बोले ना अलीक, विशेष शक्ति शेष है ॥ परमार्थ दृष्टी माहिं, सूक्ष्मसूक्ष्म दोनों नाहिं व्यवहार दृष्टी माहिं, मान्य तृष्णा का ही लेश है ॥२३॥

दोहा—

मूला तूला प्रारब्ध, स्वयं स्वरूप में नाहिं।
अन्य दृष्टि करके कही वेद शास्त्र के माहिं ॥

—•—

५४ कवित्त (पूर्वोक्त लक्षण)

तत्व ज्ञान मनोनाश, उड़ी वासना की वास। जब होत है हुलास, तिन तीनन को पाइ के ॥ याते होवे जीवन मुक्ति, छूटे सब ही आशक्ति। छावे दिल पै विरक्ति, वेद कहे नित गाय के ॥ समुझे वेद तत्व भेद, जाते दूर होवे खेद, आप जानत अछेद, सुनो मन बुद्धि लाय के ॥ जाको खोजने को जाये, सो तो कहीं नहीं पाये। अंतर वृत्ति क्यों नहिं लाये, बाह्य मरै धाय धाय के ॥ २४ ॥

दोहा—

जो समझे इस रमज को, मिथ्या बंधरु मोख ।
वेद कहे नित टेरि के, मन अपने में जोख ॥

—०—

५५ कवित्त (समाप्ती)

पाच और बीस कहे, कवित्त पचीस। सम्वत् एक सौ उन्नीस, मुनी सिद्धि कहि गायो है ॥ कहा वेद तत्व सार, कोई समझेंगे यार। कहा जानत गवार, जाने विषय मन लायो है ॥ यामें साधनश्री ज्ञान कहे, जीवत विदेह भये। लक्षण तीहूँ के कहे, काज आपनो बनायो है ॥ ऐसा साज्या जिने साज, पायो चक्रवर्ती राज। रहे सुख सो विराज, निज रूप में समायो है ॥ २५ ॥

दोहा—

अष्टादस प्रस्थान को, कहा सो निश्चय जान ।
साधन सो सब वृक्ष हैं फल हैं सबके ज्ञान ॥
कवित्त पचीसी म कह्यो, सबको सूक्ष्म सार ।
या को पढ़ि धारन करे, वह तत्त्व निरधार ॥

इति श्रीकवित्त पचीसी समाप्तम । शुभमस्तु ।

—०—

४६ राग बंगला

बंगला खूब बनाया है, चतुर कारीगर करतारा ।टेक। पांच रंग की ईंट लगी है, सप्त–धातु का गारा । बिन औजार साज सब जोड़े, नक्श जिस लागया प्यारा ॥१॥ निज माया का ठाट रच्या है, नाना रंग अपारा ठाट बाट बोगड़े गलियाँ, जिन में लगे बजारा ॥ २ ॥ इस बंगले में बाग लगया है मन माली रखवारा, साढ़े तीन करोड़ वृक्ष हैं, खिल रही भजन बहारा ॥३॥ किरोड़ बहत्तर नदियां बहती छूटि रही जलधारा । अन्त' करण अगाध सरोवर भरयो फुव्वे फुव्वारा ॥४॥ इस बंगले में रास रच्या है, नाना राग अपारा । अनहद शब्द होत दिनराती सोहम सोहम् सारा ॥५॥ इस बंगला में बाजे बाजैं, उठ रही है झंकारा । ढोलक झांझ बज हरिमुनिया, खिमपाही स्वास सितारा ॥६॥ बाजे तीन बजाय रहे हैं स्वर अरु ताल निकारा । पांच पचीसों पातर नाचें दसवें देखन हारा ॥७॥ तीन लोक बंगला के

अन्दर, नाना जगत अपारा ।। गुप्त रूप से आप विराजे, सबका जानन हारा ।। ८ ।।

—०—

५७ बंगला

बंगला रच्या अविद्या जाल, किया है कारीगर कम्माल ।। इस बंगले की तीन अवस्था, वृद्ध तरुण और बाल ।। ताके माहिं बहुत मन लाया, कुछ नहिं रही संभाल ।।१।। जन्म हुये से जन्म्या माने, मरने से निज काल ।। तिस्के तदाकार हुई वृत्ति, भूल्या अपना हाल ।।२।। मात पिता भ्राता सुत दारा, इनके लागि लिया जाल ।।ग्राम धाम यह देश हमारा, और सब ही धन माल ।।३।। भोगन काज अकाज करत है, रहा देह को पाल ।। मैं मेरे में मगन हो रह्या, यम करसी बेहाल ।।४।। तेल फुलेल लगावे तन में, धो धो बाहे बाल, यम के दूत आय के पकड़ें, चिमटो खींचें खाल ।।५।। वृद्ध हुआ नहिं गई दुर्बुद्धी, नाचत देदे ताल ।। विषवत विषय फलन को खावे, चढा मौत की डाल ।।६।। टूटी जाड नाड लगी हालन, तौ भी करै न टाल ।। भोगों निमित्त आसन करता है, पड़ा काल के गाल ।।७।। गुप्त रूप को भूल्या मूरख, लगि के झूठे ख्याल ।। जैसे भूप स्वप्न के माहीं फिरै कंगाल ।।८।।

—०—

५८ बंगला

भूलि गया बगले से मिलि यार, क्यों नहिं करता तत्व विचार

॥टेक॥ जब से बंगले में मन आया तब से भया खुवार । चार रूप
बंगले को जान्या, मौलिक मूल विकार ॥१॥ ममता और निगहव
रहता, बंगला बारम्बार । बंगला साढ़े तीन हाथ का, तेरा रूप
अपार ॥२॥ बंगला तो जड़ पंच भूत का, दीख रहा साकार । तेरा
रूप अरु रेख नहीं है, गुरु चेतन निराकार ॥३॥ बंगला तो परिच्छिन्न
परिणामी, धारत षट् विकार । गुरु तो सदा एक रस रहता,
बंगले का आधार ॥४॥ गुरु तो सत्य रूप अविनाशी, करके देख
विचार । बंगला तो यह असत रूप है, पल पल में है छार ॥५॥
गुरु तो चेतन रूप विराजे, सब प्रकाश आधार । बंगला के
परघट जड़ दीखे, मूरख होत खुवार ॥६॥ गुरु तो आनन्द रूप
रहित है, नहिं दुःख नहिं भार । राग दोष का पोष मनावत,
बंगला दुःख अगार ॥७॥ गुरु तो रहता गुप्त रूप से, बंगला
दरय संसार । गुरु बंगले का रहनेवारा, बंगले का सरदार ॥८॥

—c—

५६ बगला

बंगला करि बाके काठी, यामें करत बहुत कुचाली ॥ टेक ॥
सेठ केश यह नोटिस आया, हुकुम सुनाया खाली । बरतन में
गुल देख सिधारे, पक्षी अनामी काली ॥१॥ हुआ पुराना बंगला
तेरा, उड़ि गई है सब लाली । आस पास में बन्या बगीचा, छोड़ि
चलेगा माली ॥२॥ जब मालिक के आवें सिपाही, अरथा देत
निकाली । एक पक्षी के खास पाक्षिय, रिश्वत चले न पाली ॥३॥

कुटुम समेत निकाला जावे, कह्वा आज क्या कालो। सबही दखल छूटि जाय तेरा, खुलि जाय कचो ताली ॥४॥ तुझको पकड़ करेंगे आगे, मारें कलेजे भाली। हाहाकार पड़े जब कूचे, देवे काल को गाली ॥५॥ घड़ी पलक का लेखा लीजे पर घट होहिं कुचाली। वाकिफ्हरी रिश्वत तहाँ तेरी एक सके नहिं चाली ॥६॥ जोर जुलुम तेरा क्या चलता, मारे रावण बाली। काल बली से कोइ नहिं बचता, हाली और मुवाली ॥७॥ गुप्त रूप को जान्या नाहीं, पड़ा अविद्यावाली। यह सब झूठा ख्याल रच्या है, तुह देखन वाला ख्याली ॥ ८ ॥

—०—

६० बंगला

अब तुह तज बंगले का सग, करके सन्तो का सतसङ्ग ॥टेक॥ तिरने को है सत सङ्ग मारग, डूबन कोंहै कुसङ्ग। हरि की भक्ति साधकी संगति, लगे हरी को रग ॥१॥ जिस बङ्गले को स्थिर जाने, होवे एक दिन भग। विवेक वैराग के शस्तर बांधो, खूब मचावो जंग ॥२॥ अवतो संग विषयों का त्यागो, बहुत किया इने तंग। लोभ मोह के पड़ा पिटारे, जैसे मस्त भुजंग ॥ ३ ॥ विषय रूप अग्नी ने दाहा, तन मन सबही अङ्ग, आपही आप आय के गिरता, दीपक माहिं पतङ्ग ॥४॥ जैसे मीन मास के लालच, फँसि जाय कुडी संग। तैसे जीव विषयों में बंधता, पाय मूर्ख

कथा कीर्तन यहि गीता का पाठ। सर्व रूप परमेश्वर जानो सब कुछ विश्व विराट् ॥ ८ ॥

—ः—

६२ बंगला

ज्ञान जब सतगुरु से पाया। सभी बगले का भर्म उड़ाया ॥टेक॥ तीन काल नहिं हुये ब्रह्म में, द्वैत कहाँ से आया। जो दीखन जानन में आवे, सब चेतन की छाया ॥ १ ॥ नेति नेति कह वेद पुकारें, सत गुरु ने समझाया। व्यास वशिष्ठ सनकादी शुकजी, दत्त भरत वामदेव गाया ॥ २ ॥ जो कुछ यह दीखन में आवें पिंडप्रान करु काया। गंधर्व नगर स्वप्न की सृष्टी, खोज कछू नहिं पाया ॥ ३ ॥ मिथ्या सर्प रज्जू में जैसे, काटि कोई नहिं खाया। तैसे जगत आतमा माहीं, कहाँ से चलिके आया ॥ ४ ॥ शुक्ती माहीं रुपा भासे, नाकहिं मोल विकाया। ठुठ के माहीं चोर कहत है, कहो किसका माल चुराया ॥ ५ ॥ गगन माहिं जिमि नीला भासे किसने रंग चढ़ाया। आतम एक अद्वितीय पूरन, कैसे जगत कहाया ॥ ६ जोव ईश का भेद भासता, याही जानो माया। सोवत भरम जाल है झूठा, काहे में मन लाया ॥ ७ ॥ गुप्त भेद सत् गुरु से पावना, कोई न जन्भी जाया। सदा असंग एक रस आतम, कभी न काल ने खाया ॥ ८ ॥

—o—

पर-सङ्ग ॥५॥ नीच सुखों मीच पावता, लेत कमल की गन्ध है करी देख कर पड़ा खात में, मूरख मूढ़ मतंग ॥६। जैसे वधिक बैन बजाई, राग सुनाया चंग ॥ सरवन इन्द्रिय के वश है के, मारया जात कुरंग ॥७॥ वैसे ही यह जीव जलत है, विषय अग्नि के संग॥ गुप्त ज्ञान का गोता खाके न्हावो आतम गंग॥८॥

—o—

६१ वगला

बंगले छाया विषयों का ठाट, एक दिन बैठि चलेगा बाट ।तेरा चारों हाथे छुटि जांय तेरे, भगि जाय चारो ठाठ । प्राण पवन का पंखा छूटे, बन्द होय सब घाट ॥१॥ धूम धाम जब मचे शहर में, पुरी छुटी आम बाठ । चोबेदार दीवान मुसद्दी, भगि गये सेते बाट ॥ २ ॥ तकिये तोसक और बिछौने, पड़े पलङ्ग और खाट । नंगे हाथों पकड़ि लिया है, कछु न बांधा गाँठ । ३ ॥ यम के दूत पकड़ि ले चाले जूते मारे डाँट । पीछे और कुटुम्बी आये, माल लिया सब बाँट ॥ ४ ॥ हरि की भक्ती क्यों नहीं करता, उतरे औघट घाट । राम नाम की डोंगी बनाके यम की फाँसी काट ॥५॥ जिसको देखि भूलि रहा मूरख, यह सब मूठा ठाट । भक्ती बिना मुख दीमो काऊ नहिं, यम का दफ्तर खाफ्ठट ॥ ६ ॥ अनन्य भाव से हरि को सुमिरो छोड़ि विषयों की बाट । प्रारब्ध जोग स करो गुजारो कपटी समझो कट ॥ ७ ॥पढ़ि भक्ती और

कथा कीर्तन यहि गीता का पाठ। सर्व रूप परमेश्वर जानो सब कुछ विश्व विराट् ॥ ८ ॥

—०—

६२ बंगला

ज्ञान जब सतगुरु से पाया। सभी वगले का भर्म उड़ाया ॥टेक॥ तीन काल नहिं हुये ब्रह्म में, द्वैत कहाँ से आया। जो दीखन जानन मे आवे, सब चेतन की छाया ॥ १ ॥ नेति नेति कह वेद पुकारें, सत गुरु ने समझाया। व्यास वशिष्ठ सनकादी शुकजी, दत्त भरत वामदेव गाया ॥ २ ॥ जो कुछ यह दीखन मे आवें पिंडप्रान करु काया। गंधर्व नगर स्वप्न की सृष्टी, खोज कछू नहिं पाया ॥ ३ ॥ मिथ्या सर्प रज्जू मे जैसे, काटि कोई नहिं खाया। तैसे जगत आतमा माहीं, कहाँ से चलिके आया ॥ ४ ॥ शुक्ती माहीं रुपा भासे, नाकहिं मोल विकाया। ठुठ के माहीं चोर कहत है, कहो किसका माल चुराया ॥ ५ ॥ गगन माहिं जिमि नीला भासे किसने रंग चढ़ाया। आतम एक अद्वितीय पूरन, कैसे जगत कहाया ॥ ६ जीव ईश का भेद भासता, याही जानों माया। सोवत भरम जाल है झूठा, काहे में मन लाया ॥ ७ ॥ गुप्त भेद सत् गुरु से पावना, कोई न जन्मा जाया। सदा असंग एक रस आतम, कभी न काल ने खाया ॥ ८ ॥

—०—

६३ बगला

धर्मी मत बंगले का अभिमान। तू तो दो दिन का मेहमान ॥ टेक ॥ लख चौरासी भुगत एस, मनुष हुआ हैरान। जहाँ गया तहँ भोगि बिपत्ती, कहीं न पायो आराम ॥ १ ॥ हरि की भक्ति साधु की संगति करि लेना यह काम। गुरू बेद में श्रद्धा करिके, तिन का कहना मान ॥ २ ॥ पैरों से चलि तीरथ जाना, क्या संतन के धाम। नैनों से दरशन करि हरिका, हाथों से कर दान ॥ ३ ॥ वायक से हरिके गुन गावो, बुद्धी से कर ध्यान। हरि भजन में मन को लावो, कथा सुनो कर कान ॥ ४ ॥ तन से पर स्वारथ को कीजे, धन सुपातर दान। जन्म गुरू की सब सिखोवो, जासों पावे ज्ञान ॥ ५ ॥ जब माया के छूटे फंदे, पावे पद निरबान। चार बेद षट् शास्त्र कहते, अष्टा दस पुरान ॥ ६ ॥ इस बिधि से जो काम करत है, छोड़ मान अपमान। प्रेम भाव का दफ्तर फाड़े, सब होवे कल्यान ॥ ७ ॥ गुप्त रमज को समझ पियारे, मत ना रहे अज्ञान। काल बड़ी के छूटे फंदे, पुरुषोत्तम पावे ज्ञान ॥ ८ ॥

—०—

६४ बगला

कार्तिक कर करमन की हान न्हाय के पूरम निरमल ज्ञान ॥ टेक ॥ जल के न्हाये न्हाना नहीं है, अन्दर मैला जान। इस

पात्र को सौ वेर धोवे, शुद्ध हुया नहिं मान ॥ १ ॥ अन्तर की शुद्धी जब होवे, कर्म करे निष्काम ॥ वृत एकादसि गंगा न्हावे, ईस्वर का जप नाम ॥ २ ॥ सब साधान में शुद्धी करता, है आतम अशनान ॥ जो कोई न्हावे, फेर न आवे सोवे चादर तान ॥ ३ ॥ कार्तिक न्हाया जभी सफल है, करै नित्य हरि ध्यान ॥ मनोकामना पूरन होवे , मिटै चोरासी खान ॥ ४ ॥ मन में धारो कामना, लागी गोपिका न्हान ॥ अन्तरयामी घट घट व्यापक, पूर्ण करे भगवान ॥ ५ ॥ तिन की भक्ती के वश ह्वैकर, किये नाच अरु गान ॥ मुरली मधुर बजाई बन में, मटकत देदे तान ॥ ६ ॥ ऐसा न्हान न्हावना चहिये, रीझत है भगवान ॥ जप तप वृत यज्ञ अरू पूजा, भक्ती के साधन जान ॥ ७ ॥ चारों साधन तिसतें होवे, चारों ही अगले पहिचान ॥ अन्तरंग यह आठो साधन, इन बिन होत न ज्ञान ॥ ८ ॥

—o—

६ ५ बंगला

बंगले पावे अविनाशी, अब तू कर के देख तलाशी ॥ टेक ॥ वैठि एकाँत विचार करै, जोग से होय उदासी । तिस को दर्शन अवश्य देत है, कैलासन का वासी ॥ १ ॥ तीन देह कैलास के माहीं, है सब का परकाशी ॥ घट घट माहीं रटना रटि रहा, करै विलास विलासी ॥ २ ॥ एक बार हो दरशन वा का, कटे

६३ बगला

सजनो मत बंगले का अभिमान। तू तो दो दिन का मेहमान ॥ टेक ॥ लख चौरासी बंगले देखे बहुत हुआ हैरान। जहाँ गया तहँ भोगि विपत्ती, कहीं न पायो आराम ॥ १ ॥ हरि की भक्ति साधु की संगति करि लेना यह काम। गुरु देव में श्रद्धा करिले, तिन का कहना मान ॥ २ ॥ पैरों स चलि तीरथ जाना, करना संतन के धाम। नैनों से दरशन करि हरिका, हाथों से कर दान ॥ ३ ॥ वाचक से हरिके गुन गावो, बुद्धी स कर ध्यान। हरि भक्तन में मन को लावो, कथा सुनो कर कान ॥ ४ ॥ तन से पर स्वारथ को कीजे, धन सुपात्र दान। सच्चे गुरु की सेवा बिठोबा लाखों पावे ज्ञान ॥ ५ ॥ जब माया के छुटे फँसते, पावे पद निरवान। चार वेद षट् शास्त्र कहते, अष्टा दश पुरान ॥ ६ ॥ इस विधि स जो काम करत है, छोड़ मान अपमान। देव मान का दफ्तर फाड़े, जब होय कल्यान ॥ ७ ॥ शुभ रमज को समझ पियारे, मत ना रहे अजान। काल बली के छुटे फँसते, पुनर्जन्म होय हान ॥ ८ ॥

—०—

६४ बगला

कार्तिक कर करमन की हान महम के पूनम निरमल ज्ञान ॥ टेक ॥ जल के न्हाये न्हान नहीं है, अन्तर मैल जान। छुए

पात्र को सौ वेर धोवे, शुद्ध हुया नहि मान ॥ १ ॥ अन्तर को शुद्धी जब होवे, कर्म करे निष्काम ॥ वृत एकादसि गगा न्हावे, ईश्वर का जप नाम ॥ २ ॥ सब साधान मे शुद्धी करता, है आतम अशनान ॥ जो कोई न्हावे, फेर न आवे सोवे चादर तान ॥ ३ ॥ कार्तिक न्हाया जभी सफल है, करै नित्य हरि ध्यान ॥ मनोकामना पूरन होवे , मिटै चोरासी खान ॥ ४ ॥ मन में धारो कामना, लागी गोपिका न्हान ॥ अन्तरयामी घट घट व्यापक, पूर्ण करे भगवान ॥ ५ ॥ तिन की भक्ती के वश हूवैकर, किये नाच अरु गान ॥ मुरली मधुर बजाई बन में, मटकत देदे तान ॥ ६ ॥ ऐसा न्हान न्हावना चहिये, रीझत है भगवान ॥ जप तप वृत यज्ञ अरू पूजा, भक्ती के ।साधन जान ॥ ७ ॥ चारों साधन तिसतें होवे, चारों ही अगले पहिचान ॥ अन्तरंग यह आठो साधन, इन बिन होत न ज्ञान ॥ ८ ॥

—०—

६५ बंगला

बगले पावे अविनाशी, अब तू कर के देख तलाशी ॥ टेक ॥ वैठि एकाँत विचार करै, जोग से होय उदासी । तिस को दर्शन अवश्य देत है, कैलासन का वासी ॥ १ ॥ तीन देह कैलास के माहीं, है सब का परकाशी ॥ घट घट माहीं रटना रटि रहा, करै विलास विलासी ॥ २ ॥ एक बार हो दरशन वा का, कटे

अविद्या फाँसी ॥ सुख के सागर महा उजागर खोजो काया काशी ॥ ३ ॥ आप रूप जब सब को मान्या मलिन अविद्या नासी ॥ धर्मराय का दफ्तर फाट्या मिटिगई लख चौरासी ॥ ४ ॥ ईश्वर जीव माया सब मिटि गये, होगये ब्रह्म निवासी ॥ मन का कल्पा कल्पित जानो, हमो दास अरु दासी ॥ ५ ॥ आपहि अलख निरंजन जोती मन वाणी नहिं जासी ॥ आपहि आप विराजि रहा है, व्यापक चिदाकाशी ॥ ६ ॥ गुरु चेतन भेद लखाया, अमो ज्ञान उजासा ॥ हुआ प्रकाश अमास जो नास्या, पाया सब का साक्षी ॥ ७ ॥ आप हि गुप्त आपही परगट, आप हि घट घट रासी ॥ आप हि ठाकुर सेवक रक्षक है, आप हि सब के आसी ॥ ८ ॥

इति श्री राग बंगला समाप्तम् ॥

—०—

६६ शब्द

सखि श्याम सुन्दर की झलक, झट झटप मोहि लाने लगे ॥ टेक ॥ सेन मन मोहन करी, वे व्याकुल सब आने लगे ॥ धरी मथनिया सीस से सुधी छाडि सेवाने लगा ॥ १ ॥ बाल बिलखने डोरिये मद अँखिया फैलाने लगे ॥ दधि लाव हैं हरि प्रेम से, फिर मटुकी पटकन लगे ॥ २ ॥ रिस भरी पकड़े गूजरी, मद राम महिं मान लगा ॥ कहि कर के मीठी बात तिन की तरफ मुसकाने

लगे ॥ ३ ॥ गुप्त लीला करत वन, मुरली बजाने को लगे ॥ सब गोप गोपि देखी लीला, मन मे हरषाने लगे ॥ ४ ॥

—०—

६७ शब्द

यमुना के तीर श्याम की, मन मोहनी वंशीजो ॥ टेक ॥ ताल तेरह सात स्वर, भर गाज तिरलोकी गजी। छ राग तीसों रागिनी, साज को सबही सजी ॥ १ ॥ पत्थर पानी वहि चले, यमुना ने मरियादा तजी ॥ बिन बूंद बादल बीजली सब, नदी चढ़ि समुंदर भजी ॥ २ ॥ धूम माची व्रज मे, धुन सुनि के सब लज्जा तजी, घर काज तज, नहिं साज साजा, ज्यों कि त्यों उठि के भजीं ॥ ३ ॥ गगन बाजी दुदभी, गावत अप्सरा सब लजी ॥ गुप्त गोविंद को गती, किस रीति से जावे तजी ॥ ४ ॥

—०—

६८ शब्द

दिल की दिवाली बीच में, निज गोरधन पधरावना ॥टेक॥ शुभ विधी से पूजा करो, मन दृढ़ कर के भावना ॥ चित चरच चदन, कर्म केसर, भावी का भोग लगावना ॥ पुराय के पकवान करके देव पै ले जावना ॥ दया को ले दही गौरस गम का घृत चढावना ॥ २ ॥ यह वक्त पूजा का मिला है, फेरि नहि यहाँ आवना ॥ तजि कर अविद्या जालको, निज गोरधन को धावना ॥ ३ ॥ गिरकारण सूक्ष्म स्थूल है, तिन का ही बोझ उठावना। गुप्त आतम गोरधन है, तिसको पूजि रिझावना ॥ ४ ॥

—०—

अविद्या फांसी ॥ सुख के सागर महा उजागर खोजो काया काशी ॥ ३ ॥ आप रूप जब सब को जान्या मलिन अविद्या नाशी ॥ धर्मराय का दफ्तर फाड्या मिटिगई जम चौरासी ॥ ४ ॥ ईश्वर जीव भाव सब मिटि गये, होगये ब्रह्म निवासी ॥ मन का कल्पा कल्पित स्वामी, सभी दास अरु दासी ॥ ५ ॥ आपहि अलख निरंजन जोती मन वाणी नहिं जासी ॥ आपहि आप विराजि रहा है, व्यापक चिदाकाशी ॥ ६ ॥ गुरू वेदने भेद बताया, अभे ज्ञान उजासी ॥ दुया प्रकाश अभास जो नाल्या, पाया सब का साक्षी ॥ ७ ॥ आप हि गुप्त आपही परघट, आप हि सब रंग रासी ॥ आप हि ओंकार वेद रचत है, आप हि सब को नाशी ॥ ८ ॥

इति श्री राग मंगल समाप्तम् ॥

---

६६ शब्द

अलि श्याम सुन्दर की छटक, झट छटप भरि जाने लगी ॥ टेक ॥ सेन मन मोहन करी, ब्ब व्याकु सब भान लगे ॥ सारी मथनिया शीस से दही लूटि फैलाने लगे ॥ १ ॥ सारी सिंगारों होरिये यह छीड फैलाने लगे ॥ दधि खात हैं हरि प्रेम से, फिर मटुकी पटकान लगे ॥ २ ॥ रिस भरी पकडे गुजरी, अब हाथ नहिं आन लगा ॥ कहि कर के मीठी बात, तिन की तरफ मुसकाने

७१ शब्द

जिया जी तुम बैठो ब्रह्म की रेल ॥ तजि कर झूंठे खेल ॥टेक॥ भक्ति कर्म का तांगा करले, तन स्टेशन ठेल ॥ १ ॥ सत सगत से सार निकालो, मलो इतर तन तेल ॥ २ ॥ ज्ञान वैराग्य के पहिन कापड़े जरा न लागे मैल ॥ ३ ॥ टिकट बादू सत गुरु सहाय से, करिले क्यों ना मेल ॥ ४ ॥ अमरापुरका टिकट लीजिये, साधन दसड़े मेल ॥ ५ ॥ फर्स्ट क्लास फारिग हो जग से, आतम सुख को झेल ॥ ६ ॥ जीवन मुक्ती पोढ़ गलीचे, करते चालो खेल ॥ ७ ॥ गुप्त ज्ञान की बैठ स्पेशल, अमरापुर को पेल ॥ ८ ॥

—०—

७२ भजन

तुझको नहिं हानी लाभ है, कछु मरने और जीने मे ॥टेक॥ पुरुप मिला प्रकृती धर्मा, मानन लाग्या अपने कर्मा । जानत नहीं वेद का मर्मा, यही तेरा अजाब है ॥ भूल्या है बैठि सीने में ॥१॥ इंद्रिय धर्म आपने जाने, विपयों हेत बन उद्यम ठाने । रूप आपना कैसे जाने, मूरख बड़ा अभाग है, फँसि गया खाने पीने में ॥२॥ प्रकृती का यह सघात है सूक्ष्म, और स्थूल गात है, तुह तो इनसे रहे अजात है, न कोई राग वैराग है, तुइ असग रहे तीनों में ॥ ३ ॥ तू इन माहीं गुप्त रहत है, टेरि टेरि के वेद कहत है, फिर

६६ शब्द

जियाजी अब कर संतन का संग । होयगीजभी अमिया संग ।।टेक ।। संत संग नारद ने किया, मछो पाई अर्मंग ।। १ ।। संतन का संग हुआ भील को, बेंबड़ चढ़ि गई अंग ।। २ ।। नरा बरत सोहुये मुनीस्वर, खूब मचाया जंग ।। ३ ।। जलनिधि ऊपर पत्थर तिरि गये, पाय रघुवर का संग ।। ४ ।। शिला अहिल्या पग परसत ही, चढ़ि गई स्वर्ग पतंग ।। ५ ।। अजामील गज व्याध गनिका, निरभय गये असंग ।। ६ ।। यज्ञ योग जप तप नहिं कीना, लाग्या सत् संग रंग ।। ७ ।। गुप्त ज्ञान सत् गुरु स पावे, त्यागे सभी कुसंग ।। ८ ।।

—०—

७० शब्द

जियाजी जग सत संगति है सार, करना करके प्यार ।टेक।। जो तिरिगये तिरेंगे सेवे, सब सत् संगति द्वार ।। १ ।। ऊँच नीच सत् संगति में आये सब ही हो गये पार ।। २ ।। जिन का जाति बरन कुछ नीचा तिर गये स्वपच चमार ।। ३ ।। नाम दत्त कमाऊ कबीरा, सम्मन सेउ भमियार ।। ४ ।। जाति बरन के जो अभि मानी, डूबि गय मझ धार ।। ५ ।। हलका काष्ठ तिरै जल ऊपर, डूबत है पत्थार ।। ६ ।। सत-संग-मारग अतुल पदारथ कहि न सके कोई द्वार ।। ७ ।। गुप्त रूप इस ही स पावे, समझि इस भव पार ।। ८ ।।

—०—

७१ शब्द

जिया जी तुम बैठो ब्रह्म की रेल ॥ तजि कर झूंठे खेल ॥टेक॥ भक्ति कर्म का तांगा करले, तन स्टेशन ठेल ॥ १ ॥ सत्त सगत से सार निकालो, मलो इतर तन तेल ॥ २ ॥ ज्ञान वैराग्य के पहिन कापडे जरा न लागे मैल ॥ ३ ॥ टिकट बादू सत्त गुरु सहाय से, करिले क्यों ना मेल ॥ ४ ॥ अमरापुरका टिकट लीजिये, साधन दमड़े मेल ॥ ५ ॥ फर्स्ट क्लास फारिग हो जग से, आतम सुख को भेळ ॥ ६ ॥ जीवन मुक्ती पोढ़ गलीचे, करते चालो खेल ॥ ७ ॥ गुप्त ज्ञान की बैठ स्पेशल, अमरापुर को पेल ॥ ८ ॥

—०—

७२ भजन

तुझको नहिं हानी लाभ है, कछु मरने और जीने में ॥टेक॥ पुरुष मिला प्रकृती धर्मा, मानन लाग्या अपने कर्मा । जानत नहीं वेद का मर्मा, यही तेरा अजाव है ॥ भूल्या है बैठि सीने में ॥१॥ इन्द्रिय धर्म आपने जाने, विषयों हेत बन उद्यम ठाने । रूप आपना कैसे जाने, मूरख बड़ा अभाग है, फँसि गया खाने पीने में ॥२॥ प्रकृती का यह सघात है सूक्ष्म, और स्थूल गात है, तुह तो इनसे रहे अजात है, न कोई राग वैराग है, तुह असग रहे तीनों में ॥ ३ ॥ तू इन माहीं गुप्त रहत है, टेरि टेरि के वेद कहत है, फिर

क्यों मन–अम्र माहिं बहत है, तुममें नाहिं भाग विभाग है, क्यों काया भरम पीने में

—०—

७३ भजन

तुमे भरम दीसे सो भ्रम आल, तू देखन सामन हारा ॥टेक॥ जीव ईश को तू ही जाने, रहि माया का रूप पिछाने । तू ही और ब्रह्म में वाने, तुम काहन पे काल है । सब शामिल सबसे न्यारा ॥ १ ॥ तुम चेतन है सबका द्रष्टा, तीन अवस्था माहिं साक्षी, तुमको नाहीं है कुछ कष्टा, करिके देख संभाल यह सब प्रकाश तुम्हारा ॥ २ ॥ सत्य रूप चेतन अविनाशी, कभी न पड़े काल की फांसी । काल करमी तुही प्रकाशी । सब कारन का कारण । नहिं एक स्वाद बल कारा ॥ ३ ॥ तूही गुप्त तूही परघट है । तूही चेतन तूही जड़ है फूल पात बहु तूही फल है तूही, मूल तुहि ज्ञान कर देखो ज्ञान विचारा ॥ ४ ॥

—०—

७४ भजन

तन पाया मनुष्य कंगाल को विषय माजी बहके खोवे ॥टेक॥ उसकी कीमत होत बजारा, इसका नहीं वार कछु पारा, समझत नाहीं मूढ़ गंवारा, नहिं जानत किस के हाथ धोवे । फिर सिर धुनि धुनि के रोवे ॥ १ ॥ नींद अविद्या माहिं सोवता बहुत दिनों से

आयु खोवता, अंत:करन को नहिं धोवता । नहिं जाने सन् सग ताल को, पड़ा किरोड जन्म का सोवे ॥ २ ॥ सुर आशा करते हैं जिसकी, तुझको कोमत लखो न इसकी, बांधि गठरिया चाल्या विषकी, पकड़ लिया है कान को, जब सुत दारा को जोवे ॥३॥ बार बार यह देखि तमाशा, तो भी तजै न तिन की आशा, गुप्त रूप नहिं डारे पासा । नहिं काटे काल के जाल को, निज ब्रह्म रूप मन पोवे ॥ ४॥

—०—

७५ भजन (चौताला खड़ी चाल)

क्या फल होवे कहने से, जमा कुछ पावे रहने से ॥ टेक ॥ चौपाई ॥ संतो के लक्षण सब गाये । वेद शास्त्र कहि समझाये ॥ अति कृपालु नहि चित द्रोहा । लोभ न क्षोभ राग अरु मोहा ॥

वे सम दम साधन साध्य हुये निष्कामा । जिन पहिरा पर उपकार शील का जामा ॥ कोमल हैं जिनके चित्त वित्त नहीं चहते । वे आतम चित्त के माहिं मगन नित रहते ॥ इच्छा नहिं जिनको कोई । जो होना हो सो होई ॥ सुचि रखते हैं वे दोई । कंचन के त्यागी सोई ॥ वही पुरुष हैं धीर बड़े गभीर । गगसम नीर बचे हैं जग में बहने से ॥ १ ॥ नहिं प्रमादअरु मत्सर जिनके । आतम मनन रहत है तिनके । यही तप विरती ब्रह्म कारा । दुष्ट विषयों से बुद्धि निवारा ॥ पट् गुण के जेह कर्म धर्म से धरते । पडित

क्यों भव-जल माहिं बहत है, तुममें नहिं भाग विभाग है, क्यों लग्या भरम पीन में

—०—

७३ भजन

तुने भरम कीसे सो भ्रम जाल, तू चेतन आनन्द धारा ।टेक। जीव ईश को तू ही माने, यदि माया का रूप पिछाने । तू ही और ब्रह्म में थाने, तुझ कारन को काल है । सब शामिल सबसे न्यारा ॥ १ ॥ तुह चेतन है सबका द्रष्टा, तीन अवस्था माहिं स्रष्टा, तुझको नाहीं है कुछ कष्टा, करिके देख संभाल यह सब प्रकाश तुम्हारा ॥ २ ॥ ब्रह्मरूप चेतन अविनाशी, कभी न पड़े काल की फांसी । काल कामी तुही प्रकाशी । सब कारन का कारन । नहिं एक स्वेत अरु कारा ॥ ३ ॥ तूही गुप्त तूही परगट है । तूही चेतन तूही जड़ है, फूल पात अरु तूही फल है तुही, मूल तुही डाल, कर देखो ज्ञान विचारा ॥ ४ ॥

—०—

७४ भजन

तन पाया उत्तम कंगाल ने, विषय मांगी बदले खोवे ।टेक। इसकी कीमत होत अपारा इसका नहीं वार कछु पारा, समझत नाहीं मूढ़ गंवारा नहिं जानत किस के हाथ लगे । फिर फिर धुनि धुनि के रोवे ॥ १ ॥ नींद अविद्या माहिं सोवता, बहुत दिनों से

आयु खोवता, अंत -करन को नहिं धोवता । नहि जाने सन सग ताल की, पड़ा किरोड़ जन्म का सोवे ॥ २ ॥ सुर आशा करते हैं जिसकी, तुझको कोमत लखी न इसकी, बांधि गठरिया चाल्या विषकी, पकड़ लिया है कान को, जब सुत दारा को जोवे ॥३॥ बार बार यह देखि तमाशा, तो भी तजै न तिन की आशा, गुप्त रूप नहिं डारे पासा । नहिं काटे काल के जाल को, निज ब्रह्म रूप मन पोवे ॥ ४॥

—०—

७५ भजन (चौताला खड़ी चाल)

क्या फल होवे कहने से, जमा कुछ पावे रहने से ॥ टेक ॥ चौपाई ॥ संतो के लक्षण सब गाये । वेद शास्त्र कहि समझाये ॥ अति कृपालु नहि चित द्रोहा । लोभ न क्षोभ राग अरु मोहा ॥

वे सम दम साधन साध्य हुये निष्कामा । जिन पहिरा पर उपकार शील का जामा ॥ कोमल हैं जिनके चित्त वित्त नहीं चहते । वे आतम चित्त के माहिं मगन नित रहते ॥ इच्छा नहिं जिनको कोई । जो होना हो सो होई ॥ सुचि रखते हैं वे दोई । कंचन के त्यागी सोई ॥ वही पुरुष हैं धीर बड़े गभीर । गगासम नीर बचे हैं जग में बहने से ॥ १ ॥ नहिं प्रमादअरु मत्सर जिनके । आतम मनन रहत है तिनके । यहो तप विरती ब्रह्मा कारा । दुष्ट विषयों से बुद्धि निवारा ॥ पट् गुण के जेह कर्म धर्म से धरते । पंडित

क्यों भव-भ्रम माहिं बहत है, तुझमें नहिं भाग विभागा है, क्या छम्पा मरम पीने में

—०—

७३ भजन

तुने भरम पीसे सो भ्रम आज, तू चेतन आनन्द प्यारा ।टेक। जीव ईश को तू ही माने, नहिं माया का रूप पिछाने । तू ही और ब्रह्म में ताने, तुम कारन को कारज है । सब शामिल सबसे न्यारा ॥ १ ॥ तुम चेतन है स्वयम् द्रष्टा, तीन अवस्था माहिं रमा, तुमको नाहीं है कुछ कष्टा, करिके देख सभाल यह सब मामला तुम्हारा ॥ २ ॥ अपरूप चेतन अविनाशी, कभी न पड़े काल की फाँसी । काल कामी तुही प्रकाशी । सब कारन का कारज । नहिं रस स्वेद मरत ध्यारा ॥ ३ ॥ तूही गुप्त तूही परगट है । तूही चेतन तूही जड़ है फूल पात अरु तूही फल है तूही, मूल तुहि डाल, कर देखो ज्ञान विचारा ॥ ४ ॥

—०—

७४ भजन

तन पाया लाख कंगाल को विषय माजी बाल खोवे ।टेक। इसकी कीमत होत अथाह, इसका नहीं पार कछु पाया, समझत नाहीं मूढ़ गँवारा, नहिं आनन्द जिस के हाथ को । फिर सिर धुनि धुनि के रोवे ॥ १ ॥ नींद अविद्या माहिं सोवता, बहुत दिनों से

८० शब्द

तुह कौन कहां से आया है ॥ टेक ॥ आया जब . कछु संग न लाया। देखा माल पराया अपनाया है ॥१॥ धन धाम ग्राम सुत वाम हमारे। यों कहि दखल जमाया है ॥ २ ॥ खान पान घरके सुख माहीं। बहुत घना मन लाया है ॥३॥ गुप्त रूप को भूल्या मूरख। काल आनि शिर छाया है ॥ ४ ॥

—०—

८१ शब्द

दम दम पै दिवाली यह जाय रही ॥ टेक ॥ काया दिवाली मे देव बसत हैं। तिनको पूजा करले सही ॥१॥ सब देवन का आतम राजा। तिसकी जोती जाग रही।२॥ यह भवसागर दुष्कर धारा। तिसमे यह दुनिया जाती बही ।३॥ गुप्त ज्ञान को पावत नाहीं। मानत ना गुरू वेद कही ॥४॥

॥ अथ जीव ईश्वर का झगडा लिख्यते ॥

—०—

८२ लावनी ख्याल

जीव ईश का झगड़ा कहूँ यक, इसको सुनना चितलाई। सूति लई शम शेर जिन्होने लड़ने लगे दोनों भाई ॥टेक॥ ईश कहे सुन जीव अज्ञानी, काहे पर बड़ि बात कहै। मैं तो सदा

अति महान मान से तिरते ॥ औरों को देसे मान प्रीति सत करते । सब हुई मनोती हान दया को परसे ॥ स्तुती निंदा प्रसुताई । मित्र सुख दुख नीचाई ॥ महा औईष्टया समाई । नहिं गरल सुधा विषमाई ॥ सम कञ्चन कंचन कांच है भाइ । सौंच तपै नहिं आंच गर्म की अगनी दहने से ॥ २ ॥ सम परशी शीतलता भाई । गय पढ़ेग उदारता आई ॥ सूक्षम चित मित्र अगसारा । चतन रूप जो है निराकारा ॥ सबसे है मित्र मात कल्पना त्यागी । रहें त्यागी अति संताप बही बड़ भागी ॥ पाया ऐश्वर्य विज्ञान अजब सं जिनको । सब आनि बंधमल मोक्ष समयदा तिनको ॥ मन की गति सूक्षम होई । आनन्द रूप रहे सोई ॥ तिरगुण मे रहे अचाला रहते निर्भेद अभोता ॥ अगाध हैं अनन्त नहीं कुछ अंत । विचारें संत सारले तिनके कहने से ॥ ३ ॥ विगत कलश भरत निर्द्वंदा । सूक्षम मती रहत स्वच्छंदा ॥ य मूपण संतन के साज । दति अनंत तिनो को समज ॥ कह लक्षण पर संबिद पर ने गावे । नहि स्वसंबिद को कहे कोई समझा के ॥ तिनकी संगति परताप पाप सब खोय । कोइ पर पट होवे पुण्य संग जब होवे ॥ ओसर करत सत संगा । दूबै संसिरती भय भगा ॥ जब चढ़े ज्ञान का रंगा । छुटे कदिक छोड़ नंगा ॥ खोज तिनकी शरन, मिटे भव मरन ॥ चरण संतन के चहने से ॥ ४ ॥

—०—

८० शब्द

तुह कौन कहां से आया है ॥ टेक ॥ आया जब .कछु सगन लाया। देखा माल पराया अपनाया है ॥१॥ धन धाम ग्राम सुत वाम हमारे। यों कहि दखल जमाया है ॥ २ ॥ खान पान घरके सुख माहीं। बहुत घना मन लाया है ॥३॥ गुप्त रूप को भूल्या मूरख। काल आनि शिर छाया है ॥ ४ ॥

---

८१ शब्द

दम दम पै दिवाली यह जाय रही ॥ टेक ॥ काया दिवाली में देव बसत हैं। तिनको पूजा करले सही ॥१॥ सब देवन का आतम राजा। तिसकी जोती जाग रही॥२॥ यह भवसागर दुस्कर धारा। तिसमें यह दुनिया आती बही॥३॥ गुप्त ज्ञान को पावत नाहीं। मानत ना गुरू वेद कही ॥४॥

॥ अथ जीव ईश्वर का झगड़ा लिख्यते ॥

---

८२ लावनी ख्याल

जीव ईश का झगड़ा कहूँ यक, इसको सुनना चितलाई। सूति लई ग्रम शेर जिन्होंने लड़ने लगे दोनों भाई ॥टेक॥ ईश कहै सुन जीव अज्ञानी, काहे पर बढ़ि बात कहै। मैं तो सदा

अति महान मान से तिरते ॥ औरों को देते मान प्रीति सब करते
सब हुई मनीषी ज्ञान दया को धरते ॥ सुखी निरा मधुताई
मित्र सुख दुख नीकाई ॥ समता ओईस्टा समाई । नहिं गरल सुधा
विषमाई ॥ सम उनके कंचन कांच है भाई । छाँव छपै नहिं आंच
गर्म की अग्नी दहन से ॥ २ ॥ सम दरसी शीतलता आई ।
गये कुटेग व्यापरता जाई ॥ सूक्षम चित्त मित्र मगन्मारा । चेतन
रूप जो है निराकारा ॥ सबसे है भिन्न भाव कल्पना त्यागो । यों
त्यागी अति संतोष वही बड़ भागी ॥ पाया ऐश्वर्य विज्ञान ज्ञान
स तिनको । सब मानि बंधभरु मोक्ष छमपमा तिनको ॥ मन की
गति सूक्षम होई । आनन्द रूप रहे सोई ॥ तिरगुण स रहे अकेला
रहते निर्मोह अभोता ॥ अक्षय है अनन्त नहीं कुछ अंत । तिनरे
संत सारसे तिनके कहने से ॥ ३ ॥ विगत कलश धरत निराशा ।
सूक्षम मती रहत स्वच्छंदा ॥ य भूषण संतन के साम । हरि
भसंत तिनो को भजे ॥ कछु अक्षय पर संदेह मन न लावे ।
नहिं स्वसंवेद को कहु कोई समझा के ॥ तिनकी संगति परताप
पाप सब खोवे । कोइ पर घट होवे पुण्य संग जब होवे ॥ जोलर
करते सत संगा । हवै संसिरती भय भगा ॥ अब चढ़ ज्ञान का
रंगा । तुम करिक कोइ नंगा ॥ ऐसे तिनकी सरन, मिटे भय
मरन ॥ चरण चेतन के कहन से ॥ ४ ॥

विधी निषेध कर्म को करता, जिनके फलों को चखता है ॥
जो परकाश करूँ नहीं तेरा, तो कैसे भोग कर सकता है ॥

शेर—

सर्व शक्ति सर्वज्ञ विभु ईश स्वतंत्र परोक्ष है ।
माया मेरे आधीन रहती, मुझमें बंध न मोक्ष है ॥
तेरे हैं सब धर्मउलटे, खाता भक्ष्या भक्ष है ।
अल्पशक्ति अल्पज्ञ हो के, कैसे त्वंपद लक्ष है ॥

वाच्य लक्ष्य की खबर नहीं है, कैसे करे एकताई ॥ ३ ॥
जीव कहे सुन ईश पियारे, एक बात सुनले मेरी । जहां तक है माया का जाल यह, वहाँ तक धूम धाम तेरी ॥ यह हम भेद वेद से पाया, गुरु की सैन जवी हेरी । मेरी तेरी पोल भगी सब, जरा नहीं लागी देरी ॥

शेर—

वृत्ती लक्षणा कर कहत है, महा वाक्य टेरिके ।
चेतन एक सरूप है तत् पद त्वंपद गेरि के ॥
असिपद् एक सरूप है, देख्या है हेरि अरु फेरि के ।
शेर को जब शेर देखै, कहा भय हो शेर के ॥

छोट मोट का खोट निकाल्या, जब से खबर हमें पाई ४ ॥
ईश कहे सुन जीव अनर्थी क्यों बातें करता खोटी काल अनादी की नीति चली है, मेरी तेरी हो जोटी ॥ सो तिन दोनों के माहीं मेरी तो ऊँची कोटी । वृथा ही बकवाद मारता, लाख बात तुझे

स्वतंत्र रहता, तुई हमरे आधीन रहै। नाना विधि के कर्म करत है, उनके फल की आस चहै। विषय भोग जबही करता है मरे से परकाश कहै॥

शेर—

कर्म के आधीन होके जन्मता मरता फिरे।
फंसि के अविद्या जाल में, भय कूप माहीं तुह परे॥
तेरी तो शक्ती कहा है, मो सो लड़ाई तुह करे।
जब तू मेरी भक्ति करता जगत जलधी से तिरे॥

मैं तो शुद्ध सरूप रहत हूं, सर तेरे लगी कर्म की काई॥१॥ जीव कहे सुन ईश पियारे, शुद्ध हमसा कैस ऊंचा। माया के धर्मों को मानि के हमको बतलावे नीचा॥ परके धर्म आपन मान मूरखता तुमको आई। मैं तो हूं कूटस्थ साक्षी, मुझमें मैल नहीं राई॥

शेर—

वास्तव में हम तुम में छोटा बड़ा कोई नहीं।
भर्म के वश्चि चकि रहा, माया तुझे कोई नहीं॥
वेद कोई परघट कहता, जिस की बात मानो सही॥
माया अविद्या भेद जिसका वास्तव में दोई नहीं॥

किस कारण स बड़ा कहत है, एक पिता एकहि माहीं ईश कहे सुन जीव बिचारे, क्यों वृथा ही बकत है। हम से बड़ा बना चाहता है कौन शक्ति को रखता है॥

विधी निषेध कर्म को करता, जिनके फलों को चखता है ॥
जो परकाश करूँ नहीं तेरा, तो कैसे भोग कर सकता है ॥

शेर—

सर्व शक्ति सर्वज्ञ विभु ईश स्वतंत्र परोक्ष है ।
माया मेरे आधीन रहती, मुझमें बंध न मोक्ष है ॥
तेरे हैं सब धर्मदन्डे, खाता भक्ष्या भक्ष है ।
अल्पशक्ति अल्पज्ञ हो के, कैसे त्वंपद लक्ष है ॥

वाच्य लक्ष्य की खबर नहीं है, कैसे करे एकताई ॥ ३ ॥
जीव कहे सुन ईश पियारे, एक बात सुनले मेरी । जहां तक है माया का जाल यह, वहाँ तक धूम धाम तेरी ॥ यह हम भेद वेद से पाया, गुरु की सैन जबी हेरी । मेरी तेरी पोल भगी सब, जरा नहीं लागी देरी ॥

शेर—

वृत्ती लक्षणा कर कहत है, महा वाक्य टेरिके ।
चेतन एक सरूप है तत् पद त्वंपद गेरि के ॥
असिपद एक सरूप है, देख्या है हेरि अरु फेरि के ।
शेर को जब शेर देखे, कहा भय हो शेर के ॥

छोट मोट का खोट निकाल्या, जब से खबर हमें पाई ४ ॥
ईश कहे सुन जीव अनर्थी क्यों बातें करता खोटी काल अनादी की नीति चली है, मेरी तेरी हो जोटी ॥ सो तिन दोनों के माहीं मेरी तो ऊँची कोटी । वृथा ही बकवाद मारता, लाख बात तुमे

क्यों पोटी । शेर—जिस भेद की तू बात करता, तिस का भेद आत्मा नाहीं । जिस भेद हो के बीच में, न्यक काटी एक मोटी कही ॥ कैसे हम स करे समता बात तेरी सब मही । समस माया भेद का तुह, मान के हमरी कही ॥ करमा नास बहापनकी, सब भूली तेरी प्रभुताइ ॥५॥ जीव कहे सुन ईश हमारी, ममता तुमको फैलाया । चार वेद का जाल बिछाके, सब को वामें उलझाया ॥ मूरख मूरखता में भूले, पंडित को अहंकार खाया ॥ सब जग माहीं गरा पुटाला ॥ मूरख पंडित सर माया ॥ शेर—तुमने यह बाजी रची, रक्खा अजब भरमाय के । मोटा मदारी हम कक्का, माया के रंग देखाय के । सब धाम में कोई धाम में, कोई भेद माहिं फसाय के । तुम आप कौतुक देखता है, यह जगत मरता धायके । हमें जानि छोई तेरी चतुराई तुह न क्यों ब्यापो फैलाई । ६॥ ईश्वर कहे सुन जीव गुमानी, वाच्य अर्थ में तुह भटका । लक्ष्य अर्थ को क्या जानत है, मलिन अविद्या में भटका ॥ लेन देन अरु खान पान के विषय भोग में तुह अटका ॥ हमरी लीला को क्या जाने, अपर नहीं अपन भटका ॥ शेर—माया तो मेरी शक्ति है करती हैरान ही काम की । हाजिर रहे हर वक्त पर देती है बहुत आराम को ॥ कर्म य तुरघट करे, मोह पुरुष अरु बाम को । परघट कर विलखती है, रूप अरु सब नाम को ॥ मैं तो सदा असंग रहत हौं काज करौं मिथ्या माई ॥७॥ जीव कहे सुन ईश्वर शाखी, माया मिरथ्या

बतलाता । मिथ्या का कारज सब मिथ्या नाम रूप सत् क्यों गाता ॥ नाम रूप तेरा भी मिथ्या, तुह कैसे है हमरा दाता ॥ पोल पाल सब जानी तुम्हारी, हमरा तुमरा क्या नाता ॥ शेर— तेरा क्या अहसान है, सब पाते हैं अपना किया । खाता तेरा तूफान का मूठा ही शोर मचा दिया । कर्म काया जीव के,इलजाम शिर लगा दिया ॥ गुरु वेद ने कृपा करी,जोगुप्त भेद लखा दिया । रूप हमारा अगम लखाया, ज्ञान अग्नि जीवहलाई ॥ ८ ॥

—०—

५६ भजन

यह मिथ्या सब संसारा । क्या पड्या भरम में सोवे ॥ टेक ॥ जैसे अही दाम में भासे, सीपो में रूपा परकासे ॥ रज्जु सीप ज्ञान ते नासे,तुह करके देख विचारा । क्यों वृथा आयु खोवे ॥१॥ तैसे तुझ चेतन के माहीं, नाना जगत भासता आई, तुझसे जुदा नहीं है राई ॥ अब पटक अविद्या भारा । जो होना होसो होवे ॥२॥ जिसको तैंने जान्या सच्चा, तिसको वेद कहत है कच्चा ॥ स्वपने के बच्ची अरु बच्चा, सब झूंठा यह परिवारा ॥ तिनके संग में क्यों रोवे ॥३॥ गुप्त गलीचे क्यों नहिं सोवता, बीज पाप के क्यावे बोवता, अंतः करण को नहीं धोवता, यही अजाब तेरा भारा, निज ब्रम्हरूप नहिं जोवे ॥ ४ ॥

—०—

क्यों पोटी । शेर—जिस वेद की तू बात करता, तिस का भेद जान्या नहीं । तिस वेद हो के बीच में, कछु छोटी एक मोटी कही ॥ कैसे हम से करे समझ बात तरी सब कहा । समझ भाषा वेद का तुव, मान के हमरी कही ॥ करता बात बड़ापनकी, सब झूठी तेरी मनुवाई ॥५॥ जीव कहे सुन ईश हमारा, मनाका तुमका फँसाया । चार वेद का जाल बिछाके, सब को यासें फँसाया ॥ मूरख मूरखता में भूले, पंडित को अहंकार खाया ॥ सब जग मांहीं गेरा फुटाला ॥ मूरख पंडित मर मामा ॥ शेर—तुमने यह बाजी रची रख्या जगत भरमाय के । मोह्या मवारी हम सभ्या, माया के रंग देखाय के । धन धाम में कोई काम में, कोई वेद मांहि फँसाय के । तुम आप कौतुक देखता है, यह जगत मरता धायके । हमें जानि कहे तेरी चतुराई तुम न क्यों ब्यापी कैताई । ६॥ ईश्वर कहे सुन जीव गुमानी, काम अर्थ में तुम अटका । काम अर्थ को क्या जानत है, मलिन अविद्या में भटका ॥ लेन देन अरु खान पान के विषय प्रेम में तुम छन्का ॥ हमरी लीला को क्या जाने, अपर नहीं मन मन्का ॥ शेर—माया तो मेरी शक्ति है करती ईश्वर ही काम को । हाजिर रहे हर वक्त पर देती है बहुत आराम को ॥ कार्य प्र प्रत्यक्ष करे, मोहे पुण्य अरु पाप को । परत्यक्ष कर दिखलावती है रूप अरु सब नाम को ॥ मैं तो सदा असंग रहत हूँ, व्यर्थ करे मिथ्या गाह ॥७॥ जीव कहे सुन ईश्वर मालिक, माया मिलना

बतलाता । मिथ्या का कारज सब मिथ्या नाम रूप सत् क्यों गाता ॥ नाम रूप तेरा भी मिथ्या, तुह कैसे है हमरा दाता ॥ पोल पाल सब जानी तुम्हारी, हमरा तुमरा क्या नाता ॥ शेर— तेरा क्या अहसान है, सब पाते हैं अपना किया । खाता तेरा तूफान का भूंठा ही शोर मचा दिया । कर्म काया जीव के,इलजाम शिर लगा दिया ॥ गुरु वेद ने कृपा करी,जोगुप्त भेद लखा दिया । रूप हमारा अगम लखाया, ज्ञान अग्नि जीवहलाई ॥ ८ ॥

—०—

५६ भजन

यह मिथ्या सब ससारा । क्या पड़्या भरम में सोवे ॥ टेक ॥ जैसे अही दाम में भासे, सीपो में रूपा परकासे ॥ रज्जु सीप ज्ञान ते नासे,तुंह करके देख विचारा । क्यों वृथा आयु खोवे ॥१॥ तैसे तुझ चेतन के माहीं, नाना जगत भासता आई, तुझसे जुदा नहीं है राई ॥ अब पटक अविद्या भारा । जो होना होसो होवे ॥२॥ जिसको तैंने जान्या सच्चा, तिसको वेद कहत है कच्चा ॥ स्वपने के बच्ची अरु बच्चा, सब झूंठा यह परिवारा ॥ तिनके संग में क्यों रोवे ॥३॥ गुप्त गलीचे क्यों नहिं सोवता, बीज पाप के क्यावे बोवता, अंत करण को नहीं धोवता, यही अजाब तेरा भारा, निज ब्रम्हरूप नहिं जोवे ॥ ४ ॥

—०—

५७ भजन

पड़या पड़या काल के गाल में तू क्या हस हस हंसता है ।।टेक।। तेरा तो तन मान कहा है, बड़े यत्नों का बेहाल किया है ॥ तन इसको पैमाल किया है, रखता है सभी संभाल में, क्यों भरमजाल फंसता है ॥१॥ मात पिता दारा सुत मेरे, ग्राम धाम अरु चाकर घेरे ॥ कोई शत्रु औ मित्र घनेरे ॥ यों फँसि गया, झूठि ख्याल में, यम मकड़ी जाल कसता है ॥ २ ॥ घड़ी घड़ी अरु पल पल छीजै, तू अपने मन मांही रीझै, निशि दिन पाप बीज को बीजै ॥ बड़ा खुसी हुआ धनमाल में, तू कम से क्यों बसता है ॥ ३ ॥ गुरु पद को अब स सूझा, नव शिव कोई अविद्या सूझा । कर्म भोग सब करती दूजा ॥ क्यों ना पैठे सत संग चाल में ॥ जग [illegible] क्यों धसता है ॥ ४ ॥

—०—

५८ भजन

करता है आप सब काम को, मन के सिर दोष लगावे ॥ टेक ॥ मन असत्य जड़ दुःख रूप है तू सत् चित् आनन्द स्वरूप है ॥ तू ही सब भूपन का भूप है, भूलि गया निज धाम को, अब से भिक्षि भिक्षि करि खावे ॥ १ ॥ बिना चलाये चीर नहिं चलता, जब तुंह बस अब मन से मिलता । तब यही शुभाशुभ काम को । जैसे स्वामी भृगि खावे ॥ ॥ जब तुमरे बल को मन मारे, तभी

शुभा शुभ पंथ सिधारे, कुसगति से ताहि निवारे। तजि लोभ मोह पर वाम को। क्यों खखज विषयों को खावे ॥ ३ ॥ जीव कर्म आपहि करता है, आपहि सुख दुख का धरता है। वेद यही साखी भरता है ॥ मन के क्यों लावे लिजाम को, नहिं गुप्त भेद को पावे ॥ ४ ॥

—०—

५६ भजन (मस्ती)

दोहा—

दोष लगाये और के, आप करे सब खोट ।
लग्या विषयों की चाट में, मन की लेवे ओट ॥

कोई भूप मस्त कोई रूप मस्त, कोई राज काज के कारे में ॥ कोइ राग-मस्त वैराग-मस्त कोइ मंदिर माल भंडारे में ॥ कोई नहर-मस्त कोइ डहर-मस्त, कोई गंगा जमुना किनारे में ॥ कोइ जंगल-मस्त कोइ दंगल-मस्त, कोइ रहवे शहर बजारे में ॥ कोइ भंग-मस्त कोइ सग-मस्त, कोइ सुल्फा गांजा तारे में ॥ सिकरेट-मस्त कोइ सेठ-मस्त कोइ अमल तमाखू गारे में ॥ कोइ जगन-मस्त कोइ मगन-मस्त, कोइ मौन-मस्त फलदारे में ॥ कोइ ग्यान-मस्त विग्यान-मस्त, कोइ कोठी बाग फुहारे में ॥ एक खुद मस्ती बिन और मस्त सब, पड़े अविद्या द्वारे में ॥

—०—

विषयों को विषवत् जानों, ईश्वर को सत् पिछानो ।।
यह सीख हमारी मानो, मृग नीर का यह गारा ।। २ ।।
संसार है यह स्वपना, इसमें नहीं कोइ अपना ।।
झूठी सबी यह रचना, सुत मात तात दारा ।। ३ ।।
बचता न राजा राना, सब काल का है खाना ।।
ऐसा क्या भया दिवाना, समझे नहीं गँवारा ।। ४ ।।
अब कीजे काम ऐसा कहता है वेद तैसा ।
तजि दीजे एसा वैसा, क्यों करता है मुंह कारा ।। ५ ।।
पावे गुप्त होवे मुक्ता, लिपता नहीं कहि छिपता ।
भू ध्यान में नहिं रुकता, व्यापक है रूप अपारा ।। ६ ।।

—o—

८५. क़व्वाली

रंग देखि कर दुनिया के, अपने को आप भूला ।
झूठी सभी यह माया, फिरता क्या फूला फूला ।। टेक ।।
यहां पर नहीं जब आया, तब किसकी थी यह माया ।
अब काहे मे मन लाया क्यों बोवता है शूला ।। १ ।।
मन विषयों में नहिं दीजे, ईश्वर का नाम लीजे ।
अब काज यही कर लीजे, छीजे अविद्या मूला ।। २ ।।
इसमें न गलती करनी, कर राम नाम की तरनी ।
भव जल से पार करनी, सब धाम का है मूला ।। ३ ।।

८३ क़व्वाली

नजरों से किसको देखे, तुझसे नहीं है न्यारा ॥
जो देखने में आता सब झूंठ है पसारा ॥ टेक ॥
करता है झूंठा धंधा फिरता है अंधा बंदा ॥
पड़ि गया करम का फंदा, वैसा बहुत है न्यारा ॥ १ ॥
जब आपने को भूल्या, दुख में पड़ा है पूरा ।
बहता फिरे बहु शूला, समझे नहीं इशारा ॥ २ ॥
माया का काल बाधा मैंट है मन मठ बाबा ॥
तुम्ही आप इन में सांचा, कछु कीजिये विचारा ॥ ३ ॥
तन को बनाके सुथरा, बांचत है पोथी पथरा ।
करता फिरे बहु मथा ठगि ठगि खाया जग सारा ॥४॥
करता है काम्य करनी, करता खबर नहिं अपनी ॥
भूल्या है देखि करनी मन्दिर को खूब संभारा ॥ ५ ॥
खोजो गुपत इस तन में, फिरता है क्या बन बन में ॥
यू निश्चय कीजे मन में, ऐसा है रूप तुम्हारा ॥६॥

—०—

८४ क़व्वाली

गफ़लत में फैस खाय शिर काल का नगारा ॥
विषयों के सुख में भूल्या करता नहिं विचारा ॥ टेक ॥
जिस दिन दुनी में आया संग में कछु नहीं लाया ।
यहां रख्या माल पराया, करता है म्हारा २ ॥ १ ॥

विषयों को विषवन जानों, ईश्वर को सत् पिछानों ॥
यह सीख हमारी मानो, मृग नीर का यह गारा ॥ २ ॥
संसार है यह स्वपना, इसमें नहीं कोइ अपना ॥
झूठी सबी यह रचना, सुत मात तात दारा ॥ ३ ॥
थवता न राजा राना, सब काल का है खाना ॥
ऐसा क्या भया दिवाना, समझे नहीं गँवारा ॥ ४ ॥
अब कीजे काम ऐसा कहना है वेद जैसा ।
तजि दीजे एसा वैसा, क्यों करता है मुंह कारा ॥ ५ ॥
पावे गुप्त होवे मुक्ता, लिपता नहीं कहि छिपता ।
ध्रू ध्यान में नहिं रुकता, व्यापक है रूप अपारा ॥ ६ ॥

—०—

८५ क़व्वाली

रंग देखि कर दुनिया के, अपने को आप भूला ।
झूठी सभी यह माया, फिरता क्या फूला फूला ॥ टेक ॥
यहा पर नहीं जब आया, तब किसकी थी यह माया ।
अब काहे में मन लाया क्यों बोवता है शूला ॥ १ ॥
मन विषयो में नहिं दीजे, ईश्वर का नाम लीजे ।
अब काज यही कर लीजे, छोजे अविद्या मूला ॥ २ ॥
इसमें न गलती करनी, कर राम नाम की तरनी ।
भव जल से पार करनी सुख धाम का है मूला ॥ ३ ॥

जब गुप्त गोविन्द जाने, सब ही करम को माने।
जो लावे चोट निशाने, पावे मुक्ति द्वार खुला ॥ ४ ॥

—o—

८६ क़व्वाली

क्या सोवे रैनि अंधेरी, यह जगत सारा सपना।
देखो न खोलि अंखियाँ, इसमें नहिं कोइ अपना ॥ टेक ॥
धन माल घोड़ा हाथी, संग में बहुत हैं साथी।
माता पिता सुत नाती, झूठी सभी है रचना ॥ १ ॥
जेता कछु माल खजाना, संग में चले नहिं आना।
फिर होयगा पछताना, जब स्वांस का होय खिंचना ॥२॥
राजा धनी अरु कंगला, करि चाले खाली बंगला।
आखिर मिला है जंगला, इस काल से नहिं बचना॥ ३ ॥
पहिरो सत संगति चोला, गुप्त ज्ञान का ले गोला।
पाया वक्त अनमोला, प्रभु ध्यान में नित्य अचना ॥ ४ ॥

—o—

८७ क़व्वाली

लाखों किरोड़ों देखे, हम नंगे पैरों जाते।
धन जोड़ि जोड़ि रखते, कौड़ी नहीं ले जाते ॥ टेक ॥
अब की तो सब की जानी, हम कहते बात पुरानी।
नौ शेर बादशाह जानी, असी गज समावे खाते ॥ १ ॥

पैसा न खैरात दिया, तव कोप खुदा ने किया ।
अग्नी को सँभाल लिया, जल बल भसम होजाते ॥ २ ॥
इस देश मालव माहीं, यक भिक्षु बिरहमन आहो ।
कौड़ी न धर्म में लाई, सब लुटि गये माल अंघाते ॥ ३ ॥
तन धन का गर्व न करना, सब ही के सिर पर मरना ।
अब गुप्त ध्यान को धरना, जाते सभी अरु आते ॥ ४ ॥

—०—

८८ क़व्वाली

सुनिले मुसाफ़िर प्यारे, दो दिन का है यह डेरा ॥
करनी करो कोई ऐसी, पावे स्वरूप तेरा ॥ टेक ॥
योनी छुटे चौरासी, यम को कटे सब फांसी ।
पावे तुझे अविनाशी, होवे नहीं फिर फेरा ॥ १ ॥
निष्काम कर्म को कीजे, भक्ती के रस को पीजे ।
फिर ज्ञान तिलक को लीजे, कहना करो अब मेरा ॥ २ ॥
पाकर के अपना रूप, होजा भूपन का भूपा ।
सो सबसे अजब अनूपा, कछु दूरि नाहि नेरा ॥ ३ ॥
यह ज्ञान लखो गुप्ताई, सुन लीजो बाबू भाई ।
हम कहते हैं समझाई, छुटि जाय पोप का घेरा ॥ ४ ॥

—०—

८९ क़व्वाली

काया नगर में बसि के, क्या हो रहा दिवाना ।
लाखों करो चतुराई, आखिर को तुमको जाना टेक ॥

भूल्या है धाम धन में, फिरता भटिया बन में ॥
कुछ सोचता नहिं मन में, खाता विषय रस खाना ॥ १ ॥
क्या सोता रैनि अंधेरी, ठगती नहीं कछु देरी ।
करता है मेरी मेरी, छिन में होय माल बिराना ॥ २ ॥
इस मानुष तन को पाया, ध्यान नहिं धनी से लाया ॥
फिर अंत में पछताया, मियाँ कर चले पयाना ॥ ३ ॥
कहता है शुभ पुकारी, समझो न मूढ़ अनारी ।
करि राम भजन की त्यारी, झूंठा है सभी समाना ॥ ४ ॥

—•—

६० शब्द पद, (भजन, हितकारी)

कहता हूँ तुझे समझाय के अब सुन स्याती का रीती ॥ टेक ॥
अंतःकरण से निकसी वृत्ती, इन्द्रिय द्वार विषय में वरती ॥
भंग आवरण जिसका करती, फल देता तिसे जनाय के ॥
यह अद्वैत भाव की नीती ॥ १ ॥
जिस स्थल में भर्म जो होवे । वृत्ति जाय विषय को जोवे ।
नहीं आवरण भंग जो होवे । दोष तिमिर में जाय के ॥
फिर होय फन्दा की भीती ॥ २ ॥
सोई निमित्त है जिसके ज्ञान में । दोनों कल्पित अधिष्ठान में ।
अनिर्वचनीय यह सुनो ध्यान में । चित अपने को लायके ।
मन में होवे मजबूती ॥ ३ ॥

अधिष्ठान दोनों का चेतन। रज्जु वृती जड़ अचेतन ॥
पर रज्जु ज्ञान से होवे विलेपन। उपजे अज्ञान से आयके।
चौठी आचरज चौती ॥ ४ ॥
माया के परिणाम हैं जोई। चेतन के विवर्त हैं सोई ॥
सम स्वभाव विपरीति जो होई। रूप अन्यथा जाहि के ॥
यह लिखा भजन अवधूती ॥ ५ ॥

—०—

६१ भजन

जिनों के उड़े भरम के कोट, यह समज समज में आई ॥ टेक ॥
जैसे सर्प ज्ञान है मिथ्या, तैसे जानों जग की सत्ता ॥
आतम में नहिं हिलता पत्ता, नहीं शुद्ध में खोट।
यह बात वेदने गाई ॥ १ ॥
सो विचरत है होय निशंका, काल बली का कर गये फंका ॥
फिर क्या उनि को राजा रंका नहीं खाते यम की चोट ॥
सब शंका धोय बहाई ॥ २ ॥
जाप ताप अरु कठी माला, टूटा सभी भरम का ताला ॥
कर में लिया ज्ञान का भाला, मुख हालत नहिं होंठ ॥
फिर क्यों करते कठिनाई ॥ ३ ॥
फिकिर नहीं जाने आने का, शोच नहीं पीने खाने का।
माल नहीं रखते आने का, गिनी रखैं न नोट ॥
खाते हैं दूध मलाई ॥ ४ ॥

गुप्त ज्ञान हिरदे में रखले, जो मन मानै जोड़ी बकले ।
कोड़ा धनी बराबर समझे, नहीं बड़ाई छोड़ ॥
जिन वस्तु अमोलक पाई ॥ ५ ॥

—o—

६२ भजन

भूल्या निज अपने आपको, होगया माया का चेरा ॥ टेक ॥
माया कारण अहर्निशि डोले झूठ तूफान बहुत से बोले ॥
हिरदे की अंखी नहिं खोले, करले अपना पापको ॥
घट अन्दर हुवा अँधेरा ॥ १ ॥
गृहस्थी छोड़ी मूंड मुँडवाया, तौभी तृष्णा अन्त न पाया ।
जप तप संयम बहुत सा ध्याया, तब बिना हरी के आप को ॥
चेतन चेती न परा ॥ २ ॥
औषध गोली करन लागे, गाँठि लगाय बाँधने लागे ॥
मूरख लोग पूजने लागा बड़ा सिद्ध मिला है साधुको ॥
चोफेर वे रहे फेरा ॥ ३ ॥
कोठी बंगला खूब बनावे, खाना वस्तर अच्छा भावे ॥
कई औरतें और कमाल, खाये हैं तानों ताप को ॥
करते हैं मेरा मेरा ॥ ४ ॥
चाने निकले गुप्त रूप को, जब जाम पड़े मन के कूप को ।
को समझावे बेवकूफ को जाने लगे रिझाव को ॥
अपना मानत नहिं मेरा ॥ ५ ॥

—o—

६३ भजन

समझत नाहिं गुरु सैन को, लग गया ठगनी के चारे ॥ टेक ॥
दोय रूप धरि जग को ठगती, कनक कामनी होकर लगती ॥
स्पर्श किये शेर ज्यों जगती, सब दूरि करै सुख चैन को ॥
तोहिं पटकि पटकि कर मारे ॥ १ ॥
बड़े तपस्वी मारे बन में, काम रूप होय तिन के मन में ॥
चतुर बचे नहिं लाखो जन में, भरमावत बाँके नैन को ॥
फिर गर्भ वास मे जारे ॥ २ ॥
कनक भलों का करता नासा, गल में गेरि लोभ की फासा ॥
त्यागी को उपजावे आसा, लगि गये कौड़ी लेन को ॥
क्या भवसागर तें तारे ॥ ३ ॥
ग्राम धाम सबही तजि दीने, बन मे जाय बसेरे कीने ॥
लोभ बली नें बंधि में दीने भूलि गये ज्ञान अध्ययन को ॥
फिरता है धनी के लारे ॥ ४ ॥
खोजत नाहीं गुप्त ज्ञान को, धन हित खोजत सब जहान को ।
देखो तमाशा बेईमान को, दिन कहने लाग्या रैन को ॥
बनि रहे महत बड़े भारे ॥ ५ ॥

—०—

६४ भजन

अब देखो ध्यान लगाय के, घट भीतर जंग तमाशा ॥ टेक ॥
नेत्र रूप देखने जावे, श्रवण शब्द सुनने को धावे ॥

खुले कोट के नौ दरवाजे, जिनके माहीं देव विराजे ।।
अपने साज सभी उन साजे लडने लगे गोलक ओट मे ।।
सजि चाले पंच सिपाई ।। २ ।।
असुर सेन का बजा नगारा, देवन का गढ़ घेरा सारा ।।
होती आवे मारो मारा, दे लिये विषयो की लोट में ।।
चाले हैं देव पराई ।। ३ ।।
मनीराम अफसर जब बोला, सुनों शील तुम कैसे डोला ।।
उलटि शीलने शस्तर का झोला, अब शत्रु आगया फेंट में ।।
गुरु विष्णु करै सहाई ।। ४ ।।
उलटि शीलने सस्तर मारा, पकड़ि काम धरनी पर डारा ।
देव लिये निज निज हथियारा, चूकत नाहीं चोट में ।।
जब देवन को जय पाई ।। ५ ।।
सुर असुरों की हुई लड़ाई, मनीराम अफसर है भाई ।।
जियाराम की हुई सहाई, इस गुप्त जग के कोट में ।।
ध्रुव देखो ध्यान लगाई ।। ३ ।।

दोहा—

काया गढ़ के नगर में, राजा आतम राम ।
मन दीवान जिसका रहै, करे शुभाशुभ काम ।।
जिस राजा का मंत्री, नीति निपुण जो होय ।
दुष्ट चोर तिस राज में, रहन न पावे कोय ।।

गंध नासिका नित उठि चाहे, त्वक्‌कुश होय स्पर्श आय के ॥
रसना करे रस की आसा ॥ १ ॥
मन संकल्प और को जाता, चित चिंतवन में तत्पर पाता ॥
अहंकार अहं में रात्या बुद्धि निश्चय में आयके ॥
उठ उदान प्राण चहें स्वासा ॥ २ ॥
वायक कहे बैखरी बानी, वस्तु ग्रहण करत हैं पाणी ॥
रती भोग अरु मल त्यागानी, गुदा शिश्न हरषाय के ॥
चलते हैं चरण खुलासा ॥ ३ ॥
काम क्रोध आशा और तृष्णा, सबही रच रहे अपनी रचना ॥
सुषोपति अरु जाग्रत स्वपना, गुण बरतें सारा आयके ॥
पड़ि गया माया का फाँसा ॥ ४ ॥
गुप्त संग होता दिन रातो, देव असुर तिनकी भ्रम जाती ॥
राजा मंत्री से ले साथी, फौज लई सजवाय के ॥
दोनों का रुपि गया रासा ॥ ५ ॥

—o—

६५ भजन

संग माच्या काया कोट में लड़ते हैं शूर लड़ाई ॥ टेक ॥
जिया नाम है जिसका राजा, मनीराम को अवसर साजा ॥
दिया हुक्म अब कीजै काजा, मत रहो मन की ओट में ॥
अब जल्दी करो चढ़ाई ॥ १ ॥

खुले कोट के नौ दरवाजे, जिनके माहीं देव विराजे ॥
अपने साज सभी उन साजे लड़ने लगे गोलक ओट में ॥
सजि चाले पंच सिपाई ॥ २ ॥
असुर सेन का बजा नगारा, देवन का गढ़ घेरा सारा ॥
होती आवे मारो मारा, दे लिये विषयो की लोट में ॥
चाले हैं देव पराई ॥ ३ ॥
मनीराम अपसर जब बोला, सुनों शील तुम कैसे डोला ॥
उलटि शीलने शसतर का झोला, अब शत्रु आगया फेंट में ॥
गुरु विष्णु करैं सहाई ॥ ४ ॥
उलटि शीलने ससतर मारा, पकड़ि काम धरनी पर डारा ।
देव लिये निज निज हथियारा, चूकत नाहीं चोट में ॥
जब देवन को जय पाई ॥ ५ ॥
सुर असुरों की हुई लडाई, मनीराम अपसर है भाई ॥
जियाराम की हुई सहाई, इस गुप्त जग के फोट में ॥
ध्रुव देखो ध्यान लगाई ॥ ३ ॥

दोहा—

काया गढ़ के नगर में, राजा आतम राम ।
मन दीवान जिसका रहै, करे शुभाशुभ काम ॥
जिस राजा का मंत्री, नीति निपुण जो होय ।
दुष्ट चोर तिस राज में, रहन न पावे कोय ॥

कामादिक जे असुर हैं, शीलादिक हैं देव ।
दंड देत तिनको सदा, तब करै राव की सेव ॥
असुर सभा के बीच में, तीन बड़े सरदार ।
काम क्रोध अरु लोभ जो, तीनों मर्द गुमार ॥

—०—

६६ भजन

मत फँसे कर्म के बीच में, तू चेतन सदा अकरता ॥ टेक ॥
करम विकरम का लेश नहीं है, अकरम का कोई दश नहीं है ।
सम्बन्ध कोई लेप नहीं है, यों कहा वेद के बीच में ॥
तू जन्मे नाहीं मरता ॥ १ ॥
जिसके पड़ा कर्म का फंदा, सो नर हुआ जगत में अंधा ॥
छिप गया आतम पूर्ण चन्दा, पड़ि गया अंधेरे बीच में ॥
दुख चौरासी के भरता ॥ २ ॥
विधी निषेध का जो फांसा, समझत नहीं वेद का आसा ॥
कैसे छूटे यम की त्रासा, फँसि गया जीवन बीच में ॥
फिर जन्म जन्मि के मरता ॥ ३ ॥
पढ़ि पढ़ि वेद हुये अभिमानी गुप्त मते को बात न जानी ॥
करता दुखी वचना बानी नहीं बहता चपक मरीचि में ॥
सो भव सागर से तरता ॥ ४ ॥

—०—

६७ भजन

जिन जान्या अपने आप को, सो निर्भय होके सोवे ॥ टेक॥
हिरदे की ग्रंथी जिन तोड़ी, संसों की सब मटुकी फोड़ी ॥
विधि निषेध की उठि गई जोड़ी, फिर जपै कौन के जापको ॥
करमन में कैसे रोवे ॥ १ ॥
मूल अविद्या गई मूल से, आतम में भासी थी भूल ते ।
कर्म भोग सब होत तूल से, फिर तपे कौन के ताप को ॥
जो होना होय सोइ होवे ॥ २ ॥
संसै विपर्यय मिट गया साँसा, आतम ब्रह्म रूप करि भासा ॥
हर वक्त देखते वहो तमाशा, चेतन शुद्ध प्रकाश को ॥
फिर मैल कौन का धोवे ॥ ३ ॥
गुप्त होय जब गुप्ताहि पावे, मिलते ही ध्रुव अचल हो जावे ॥
जो कोई इस सागर न्हावे, सो खोवे तीनों ताप को ॥
जब एक ब्रह्म को जोवे ॥ ४ ॥

—०—

६८ शब्द (चौसर)

तू कई वेर चौसर हारा, जरा खेऊ समझ कर बाजी ॥ टेक ॥
माया चौपड़ जीव खेलारी, लोक ब्रह्माण्ड चने सब क्यारी ॥
देव मनुष जहं फिरती सारी, जब तिरगुण पासा डारा ॥
फिर ऐसी रचना साजी ॥ १ ॥

छमा लेक में आपन भूला, स्वयं सरूप से भयो प्रतिकूला ॥
नख सिख छाई अविद्या मूला, अब भूल्यो रूप अपारा ॥
बनि बैठा पंडित कामी ॥ ॥
ब्रह्म भूल कर जीव कहायो, आप मान मन में मन समो ॥
ईश्वर को जब जीव बनायो, जब जान्यो आपको न्यारा ॥
फिर बना ईस का पाजी ॥ ३ ॥
हरी नरव को फेर पियारा जब आवेगा दाव तुम्हारा ॥
पकि घर आवे सोलों सारा, नहिं गर्भ वास मई मारा ॥
छुटे जन्म मरन मई राजी ॥ ४ ॥
गुप्त गुरु अरु गुप्तहि चेला, गुप्त भया है जिन का मेला ॥
गुप्त ज्ञान से जगत् अकेला, भयो मूल पद अधिकारा ॥
यह तत्व रचा है ताजी ॥ ५ ॥

—०—

६६ भजन

तू सदा स्वयं परकाश है, फिर किसका ध्यान धरे है ॥ टेक ॥
क्या है ब्रह्म, कहाँ है माया, कैसे तिसको जगत उपाया ॥
ईश्वर जीव कहाँ से आया, तू जपै कौन का जाप है ॥
जन्मे मरे कौन मरे है ॥ १ ॥
ब्रह्म नपुंसक कह है माया, कहाँ जगत स्थान बनाया ॥
जीव ईश मय तरी छाया, तू परकाशन का परकाश है ॥
कभी जन्म नहीं मरे है ॥ २ ॥

गुरु वेदका पटको पकड़ा, कहा से लाया झूठा झगड़ा ॥
बिना पंथ की वाट है दगड़ा, जहां नहीं धरती आकाश है ॥
डूबे अरु कौन तरे है ॥ ३ ॥
तीन शरीर कहाँ से आया, कैसे पाचों कोष बनाया ॥
कहाँ से पच कलेश लगाया, जहा नहीं बुद्धिचिदाभास है ॥
चित मन से सदा परे है ॥ ४ ॥
गुप्त मते का पथ निराला, जहा नहीं कोई कंठी माला ॥
बंध मोक्ष का तोड़ो ताला, तू सब स्वासन का स्वास है ॥
कछु मूल से नहीं परे है ॥ ५ ॥

—०—

१०० भजन

तू आप सच्चिदानन्द है, फिर किस को फेरे माला टेक ॥
सत्त पद तुम जानो सोई, तीन काल मे बाध न होई ॥
चेतन ते न्यारा नहिं सो ई, सो परकाशक निस्पंद है ॥
टुक तार चश्म का जाला ॥ १ ॥
मुख्य प्रीति का विषय है जोई, आनन्द रूप पिछानो सोई ॥
चेतन तासे जुदा न होई, सो सदा सुख का सिंघ है ॥
टुक छोड़ जगत का नाला ॥ २ ॥
माला का मतलब सुन प्यारे, जैसे मणिके न्यारे न्यारे ॥
तैसे देव मनुष्य हैं सारे, चेतन सदा सुछंद है ॥
तू सब कालन का काला ॥ ३ ॥

तीन शरीर अरु तीन अवस्था, तीन काल अरु सभी व्यवस्था ॥
तुम चेतन की सब में सत्ता जहां कोई नहीं दुख द्वंद है ।
फिर क्यों करता मुंह काला ॥ ४ ॥
गुप्त मते की बात बताई सो तुम सांची जानो भाई ॥
यामें झूठ नहीं है राई, तू सब सिषन का सिष है ॥
कर देखो खूब तमाशा ॥ ५ ॥

—०—

१०१ भजन (मोटर)

इस तन के अंदर बाग में, एक मोटर अजब चली है ॥ टेक ॥
पांचों भूत रजोगुण मिलकर, हुई तयार जब मोटर बनकर ।
मनुआ ड्राइवर बैठा संभलकर, फिर खूब चलाया बाग में ।
फिरने लगी गली गली है ॥ १ ॥
नाभी कंठ सड़क बनवाई, जिस पर मोटर आनि चलाई ।
शब्द का भोंपू दिया बजाई, लगी बीजली जठरा आग में ॥
जिसकी अब नसें नली है ॥ २ ॥
जिसमें चेतन आनि बिराजा, सो कहिये राजन् पति राजा ।
दिया हुक्म जब मोटर साजा, जाय बिछाया है बाग में ॥
जहँ खिलि रही कली कली है ॥ ३ ॥
ऐसी मोटर अजब चलाई, सीख पक्की की जिनकी आई ।
इक्कीस सहस छः सौ भाई, इस मोटर के अभ्यास में ॥
फिर चलने लगी फूली है ॥ ४ ॥

तू नहिं मोटर बैठन वाला, फिर क्यों करता है मुंह काला ।
बन्ध मोक्ष का तोड़ो ताला, उलझा क्यों करम विभाग में ॥
क्या कूवे भांग घुली है ॥ ५ ॥
इस मोटर का खेल निराला, समुद्र नदी गिने ना नाला ।
पीछे लगया वैरी काला, फूंक देत है आग में ॥
बचवा कोइ गुप्त बली है ॥ ६ ॥

—०—

१०२ पद

फल गुप्त प्रगट सत संग में, फिर क्या करना बाक़ी है ॥टेक॥
भोग अदृष्ट दृष्टि में आवे, बिना राग सब में बरतावे ॥
बालक वत् सब खेल बनावे, नित चेतन सदा असंग में ॥
वह सब चेतन झांकी है ॥ १ ॥
शब्द स्पर्श रूप रस गन्धा, इन्द्रिन का इनसे सम्बन्धा ।
नित न्यारा आतम निरबंधा, क्यों अनुभव शब्द प्रसंग में ॥
यह ख़ुद अपना साखी है ॥ २ ॥
बिन करता करता कहलावे, सो करता नहिं चले चलावे ॥
जैसे पति पुत्र कहलावे, सब रंग उसी के रंग में ॥
नहिं स्वेत रक्त खाकी है ॥ ३ ॥
गुप्त मुक्त की यही निशानी, सूरत में सूरत लासानी ॥
'अहं ब्रह्म' यह बोलो बानी, ज्यों व्यापक अंगो अंग में ॥
धू मूल जगत नाखी है ॥ ४ ॥

१०३ भजन

जिसको पाया अमोलक लाल, वह किसकी आस करेगा ॥ टेक ॥
सुखमय सोवे तख्त वसंत पर, ज्ञान गलीचा स्वच्छ बिछाय पर ॥
फिर क्यों ममता करे जगत् पर, खुश रहे तीनों काल ॥
क्यों पच पच जगत मरेगा ॥ १ ॥
जिनको नहीं कुछ लेना देना, हुवा नहीं कुछ आगे होना ॥
वर्तमान में बर्ते क्यों ना, तोड़ भरम का जाल ॥
यों कारज सभा सरैगा ॥ २ ॥
परारब्ध से जो कुछ बरते, तिसमें हर्ष शोक नहिं करते ।
वे कबहू जन्मे नहिं मरते, नहीं रखते मन माल ॥
भव जल से पार तिरेगा ॥ ३ ॥
गुरुरूप में हैं मस्ताने, टूट सभी कुफर के थाने ।
मानन योग्य सभी जिन जाने, नहीं फंसे वेद के जाल ॥
क्यों मूंडी खाक मरेगा ॥ ४ ॥

—०—

१०४ भजन

जिसका स्तुत करे ईश्वरा, वह पानी के सा पात्र । टेक ॥
पंचभूत करके गफ्ली है कर्मयोग से भाट भरी है ।
रज-वीरज की गांठ पड़ी है, करके देख विचार ॥
नित बहै मैल का नाला ॥ १ ॥

जिसके मांहि वड़ापन मान्या, औरन को नीचा करि जान्या ।।
हरि तजि खाय विषय रख खाना भक्तिविन चारों वर्ण चमार ।।
लख तुलशीदास हवाला ।। २ ।।
जिसके माँहि बहुत मन लाया, धन यौवन स्वपने को माया ।।
थिर नहिं रहे किसी की काया, झूंठा सब परिवार ।
अब तोड़ भरम का ताला ।। ३ ।।
अपने मन बुद्धि को लावो गुप्त गली से जल्दी आवो ।।
जब कुछ आगम भेद को पावो, छूटे सब विस्तार ।।
कर पकड़ ज्ञान का भाला ।। ४ ।।

—o—

१०५ भजन

खेलत हैं खेल खिलारी, जग में लिपते नहीं विकार । टेक ।
नाना विधि करत हैं किरिया, जिनको पद पाया है तुरिया ।
उनके सब ही कारज सरिया, आशा तृष्णा दई मार ।
चढि गये ज्ञान असवारी ।। १ ।। ध्यान योग नहिं करे समाधी,
पार ब्रह्म है अनत अनादी । वाद करै तो आतम–वादी,
सब जाना जगत् असार ।। चढ़ि गई है ज्ञान–खुमारी ।। २ ।।
सब कुछ करते कुछ नहिं करते, ना कभि जन्मे ना कभि मरते ।।
काल अगिनि मे वह नहिं जलते, व्यापक रूप अपार ।।
कुछ नहि हलके नहिं भारी, । ३ ।। गुप्त गली में फाग खेलते ।

रंग पिचकारी मांहि मेलदे, जो कोइ मिले तिसी पे मेल्दे,
नर हो चाहे नार। करले अपने अनुसारी ॥ ४ ।

—०—

१०६ भजन

रचा है बाजीगर का खेल, मूल है दृष्टि तमाशा टेक ॥
क्षिति जल पावक और समीरा, गगन रचा है अति गंभीरा।
जिनके बीच में रतन हीरा, जिनवासी मिलखेल।
दसहु दिशि हुया उजासा ॥ १ । जासे चन्दसूर परकास ॥
अनल बिजुल तारागन भासे, अंधकार परकाश न नासे
दोनों का मिला दिया मेल, ॥ कोई करे न किसी का नाशा ॥२॥
पहिला सूक्ष्म सृष्टि रचाई, मेल मिला स्थूल बनाई।
पंचतत्व दिये जिसमें समाई, करने लगे खेल।
फिर पाप-पुन्य होय भागा ॥ ३ ॥ गुप्त रूप हु एक बिराजे,
शुद्धि भेद कर मात्रा साजे ॥ बाजा बोल ज्ञान का बाजे,
बिगड़ जाय सब खेल, जब समझै भेद का आसा ॥४॥

—०—

१०७ भजन

इस राजा आतम-राम को मन मरवा खोट दिखावे ॥टेक॥
मन मन्वे ने खेल बनाया, बिना हुमा सब कर दिखलाया।
राजा को जिसने भरमाया, करता अचरज के काम को
बिन हाथ पैर मग जावे ॥ १ ॥

जाग्रत में स्थूल तमासा, विषय देह इंद्रिय परकासा ।
देव त्रिपुटी करे उजासा ॥ रचे पंच–भूत के गाम को,
विषयों के बंध लगावे ॥ २ ॥
देह इंद्रिय को छिटकावे, स्वपने माहीं और बनावे
कंठ–देश नाड़ी में जावे, तज कर नेतर–धाम को
फेर कई कई खेल खिलावे ॥ ३ ॥
सुषोपति में गुप्त जो होवे, जाग्रत और सुपन को खोवे
कारण माहीं सुख से सोवे, तज गया रूप और नाम को,
टुक अपने रूप समावे ॥ ४ ॥

१०८ भजन

जिनों के उड़ि गये नाम निशान, राजा थे चक्रवर्ती ॥टेक॥
बल पौरुष जिनके विख्याता, लिखी पुरानन में सब गाथा
जिनकी समता कोई न पाता, बहुत करे थे अभिमान ॥
हाथों से तौलते धरता ॥ १ ॥
जिनके तुंग अगार बने हैं, कोट किला अरु बहुत तने हैं ॥
सेनापति अरु कोष घने है । जिनों के बंदीजन करे गान ॥
महलों में चन्द्रमुखी चरती ॥ २
तिनका खोज रहा नहिं राई । और किसी की कहा चलाई ॥
जिनने सुर्त हरी से लाई । सोई उभरे संत सुजान ॥
पाये आप रूप में थिरती ॥ ३ ॥

जो नर गुप्त–ज्ञान पाता है। उसको काल नहीं खाता है॥
सो कहिं आवे नहिं जाता है। यों कहते वेद पुरान।
सब मूल अविद्या मरती॥ ४॥

१०९ भजन

एक दिन जंगल होय मुकाम, छुटि जायगी महल अटारी। टेक॥
भूलि गया विषयों के सुख में, हरदम हंस काल के मुख में॥
हा हा कार करत है दुख में, नहीं जपे हरी का नाम॥
चढ़ि आई काल सवारी॥ १॥
मूरख नींद भरम की सोवे। सिर पर काल खड़ा नहिं जोवे॥
अंतःकरण को क्यों नहिं धोवे। सब सिध होवें काम॥
होय नास अविद्या सारी॥ २॥
ज्ञान रवी घट में परकास। जगत् भास सपना सा भासे॥
अंधकार अज्ञान को नासे। जब होय ब्रह्म में वास॥
चढ़ि जावे ज्ञान खुमारी॥ ३॥
शुभ्रस्वरूप जो कुछ भास। आप रूप से सब परकास॥
कल्पित अधिष्ठान में नासे। है तिसके दरमियान॥
नहिं रजत सीप से न्यारी॥ ४॥

११० भजन

क्या वह सब गुरु न जाने, सुधि गये बजार के ताने॥ टेक॥
रस्ता साफ नहिं कोई आता, काल कर्म के जाल गये कांटा॥

सौदा हुवा सीस के साटा, ज्ञान की अग्नी को जाली ॥
जलि गये अविद्या जाले ॥ १ ॥
अंतर की वस्तु परकासी । मैं चेतन यह दृष्य बिनासी ॥
मैं ही हूँ सब का परकासी । खिली सब मोंसे हरियाली ॥
धोये दाग दिलों के काले ॥ २ ॥
कान माहिं ऐसा दिया मंतर । तुह चेतन रहता है स्वतंतर ॥
दृष्य सभी कल्पित तुझ अंतर । देव क्या भैंरो और काली ॥
तुही करै सब को उजियाले ॥ ३ ॥
गुप्त रूप से एकहि रहता । ना कछु करता ना कछु चहता ॥
काल अगिनि को तूही दहता । उमँर तेरी वृद्ध नहीं बाली ॥
छुटि रहे ज्ञान के नाले ॥ ४ ॥

१११ राग-विलावल

निज आतम आनंद में जो जन नित राते ।
आठ पहर तिस अमल में रहते हैं माते ॥ १ ॥
मोह जाल फास कटी हुई बंध खुलासा ।
निरभय होकर देखते सब खलक तमाशा ॥ २ ॥
फूटा घट अज्ञान का लाया ज्ञान का डंडा ।
काम कर्म आभास का हो गया सत खंडा ॥ ३ ॥
ईश्वर माया जगत की सब मिटी उपाधी ।
पारब्रह्म से परसिया सो सुद्ध अनादी ॥ ४ ॥

काल जाल यमराज का दफ्तर सब फाड़ा ।
ब्रह्म रूप मैदान में डंका जिन गाड़ा ॥ ५ ॥
ब्रह्मानन्द आनन्द में आनन्दित रहवे ।
ब्रह्मलोक बैकुण्ठ को नाहीं कछु चहवे ॥ ६ ॥
सर्व मित्र निष्कामना त्यागा संतोषा ।
बिना अपने आपके और नहीं भरोसा ॥ ७ ॥
गुप्त गलीचे सोवते लाय ज्ञान का तकिया ।
जब गुप्त वाणी जगि रही भागी जागी अंखियां ॥ ८ ॥

११२ राग विलावल

सब देवन के बीच में यक आतम ज्योती ।
सदा दिवाली संत की दिन माहीं होती ॥ १ ॥
किताबा पढ़ना चातुरी अरु पत्रा पोथी ।
बिन आतम जाने बिना, सब ही है थोथी ॥ २ ॥
गोबर की पूजा करे, पकवान मिठाई ।
पूजे नहीं आतम देव को, सब उमर गमाई ॥ ३ ॥
देवी दुरगा पूजते, और भैरों काली ।
देही मन्दर देहरा, जहं देव दिवाली ॥ ४ ॥
शून्य सिंहासन लग रहा, परदा नहीं पहेरा ।
बस्ती डोंगर देहरा, नहीं जंगल सहेरा ॥ ५ ॥
व्यापक है सब ठौर में कर देख बिचारा ।
भूले भरम अपार में नर मूढ़ गंवारा ॥ ६ ॥

सब के शामिल मिलि रहा, अरु सब से न्यारा ।
रूप रेख जाके नहीं, पीला अरु काला ॥ ७ ॥
गुप्त रु परघट एक है, जहं नाहीं दूजा ।
पूजा पूजक पूज्य का, तोड़ो भ्रम कूजा ॥ ८ ॥

११३ शिष्य की शंका (विलावल)

भगवान् आतम एक है, यह आप सुनाया। पूजा पूजक भाव को, सब भरम बताया ॥ १ ॥ नाना विधि जग भासता कहो कहाँ से आया ॥ आतम मे किरया नहीं, यह किसने बनाया ॥२॥ तीन काड हैं वेद में, यह कहि समझाया। कर्म उपासन ज्ञान का साधन बतलाया ॥ ३ ॥ कौन सत्य को झूठ है, दोई कहता वेदा। कहीं तो उत्पत्ति कहे, कहिं कहे निषेधा ॥ ४ ॥ कथन किया है कर्म का, मरने पर्यंता। कहीं त्याग सबका कहा, भजिये भगवन्ता ५॥ ईश्वर करता वेद का, सब कहें पुकारी। द्विविधि वचन समझो नहीं, यह शंका म्हारी । ६ ॥ समर्थ आप दयालु हो, मैं बुद्धि खोया। भरमि रहा ससार में, जन्मातर रोया ॥ ७ ॥ गुप्त भेद समझाय के, कहि दीजे सारा ॥ आप विना या जगत में कोई नहीं उद्धारा । ८ ॥

११४ पूर्व प्रश्नों का उत्तर (विलावल)

अधिकारी के भेद से, सब वेद कहानो । गूढ वचन हैं वेद के, समझता नहीं प्रानी । ॥ अज्ञानी स–काम को, करने को

कहावा । जो जिज्ञासू ज्ञान का, तिसको नहीं भावा ॥ २ ॥ कर्म शमन के वास्ते, सब कर्म करावे ॥ काम्य कर्म छुटवाके निष्काम बतावे ॥३॥ कर्म उपासना सो करे, जा के मल विक्षेप । आवर की छूटी नाहीं, फिर करे न पक्ष ॥४॥ परवृत्ति में भेद का, सब समझो भासा । सदा निवृत्ति अद्वैत है, दृढ़ मन पासा ॥ ५ ॥ विविधि भांति जग भासता, तिसकी सुनि लीजे ॥ यह सब माया आरु है, नहिं भूलि पतीजे ॥ ६ ॥ जैसे सोया नींद में, भासत है सपना । कोई अपना कोई और का, मिथ्या सब रचना ॥७॥ गुप्त आतम अज्ञान से, सब ही कुछ भासे । ज्ञान होय निज रूप का, फिर सबही नासे ॥८॥

११५ विलावल

मंद अंध के बीच में, रज्जू सर्प में भासे । अरु सीपी के अज्ञान से, रूपा परकासे ॥१॥ जैसे मरुस्थल भूमि में, होय जल परतीति ॥ वैसे तस्कर ठूंठ में, यों जग की रीति ॥ २ ॥ जैसे नभ में देखिये पट मठ बहु नामा ॥ गगन एक का एक है नाहीं कुछ नाना ॥३ ज्यों जल माहीं ऊपजे, बुद बुदे तरंगा ॥ जल से कुछ न्यारे नहीं जल ही सब अंगा ॥ ४ ॥ अग्नी माहीं ज्यों है, बहु दीप मसाला ॥ लालटेन अरु चिमनी बिन युक्ति उजाला ॥ ५ ॥ लोह में तलवार बने सब बने औजारा । ज्यों का त्यों लोहा ही कल्पित हथियारा ॥ ६ ॥ सोन में भूषण बहुत, सब बने

सोनारा। सोना सोना ही रहे, नहीं धरे विकारा ॥ ७ ॥ परजा पति ने घट घड़े, माटी विन काही। गुप्त आतम में जगत को, ऐसे लख भाई ॥ ८ ॥

दोहा—

सिपी रूपा रज्जू सर्प, मरुथल जल का भास।
वह काटे नहिं वह बिके, वह नहीं खोवे प्यास ॥

११६ चाल–बनजारा

समझे नहि मूढ़ गंवारा, तन सुखा सुखा के मारा ॥ टेक ॥ रखते उपास अरु रोजा,अन्तर से नहीं खोज्या जी ॥ ऊपर के करै अचारा ॥ १ ॥ पंच तीरथ में अशनाना ॥ खाता है सूक्ष्म खन्ना जी, करने लागे संथारा ॥ २ ॥ कुछ समझता नहीं मनने, क्या कसूर किया तन ने जी। करने काम विसारा ॥ ३ ॥ सुनि कर गुप्त ज्ञान की बाता। कर्मों में कूटवे माथा जी। होगया आतम हत्यारा ॥ ४ ॥

११७ चाल–बनजारा

मन मरे नहीं तन मारे, करि यतन बहुत से हारे ॥टेक॥ बाँबी को कूटै कोई, नहीं दुःख सर्प को होई जी। वह रहता बंबी मंझारे ॥१॥ पग बाँधि वृक्ष में लटके, मन के चलने को अटकेजी ॥ करते हैं यतन बड़े भारे ॥ २ ॥ मन कारन तन को मारे, उपवास वृत बहु धारेजी ॥ सब अंग अग्नि में जारे ॥३॥ मन गुप्त रूप हो रहता॥ नहीं बात किसी से कहता जी। सब मन को जालपसारे ॥४॥

दोहा—

ममरे मिर्ची पीसि के, ऊपर डारे आग ।
तो भी धधक ना मिटे, उठ उठ जावे भाग ॥

११८ चाल-बनजारा

समझे क्यों ना मन मेरा, मत करे विषयों का फेरा ॥ टेक ॥ यह अहर्निशि मोहि कराये, फिर अन्तसमय उठि जावे जी, तब होवे दुःख घनेरा ॥ १ ॥ झूठा धन बहुत कमाया, विरथा ईश्वर बिसराया जी, फिर अन्त काल ने घेरा ॥ २ ॥ जैसा सा पकड़ा जाय, क्या बनाय बहाने सुनायगो, कुछ चले नहीं सठ तेरा ॥ ३ ॥ जो किये कर्म गुप्ताई, लेखा होय राई राई जी, सुन कहा कीजे तेरा ॥४॥

दोहा—

चले नहीं चालाकरी, नहिं रिश्वत कानून ॥
यह सच्चा दरबार है, करे अन्यथा कबून ॥

११९ चाल-बनजारा

आतम चेतन अविनाशी, नहीं पड़े काल की फाँसी ॥ टेक ॥ ऐसा है रूप तुम्हारा, जिसमें कल्पित संसाराजी, करके देखो तलाशी ॥ १ ॥ निराकार नहीं आकाश जिसमें कुछ नहीं पसारा जी, कहिं आवे ना कहिं जासी ॥ २ ॥ ऐसे निजरूप को पावे, यम की फरसी को फारेजी, घट २ में आप निवासी ॥ ३ ॥ सुनि गुरु सबै की वाणी भेदगे साधि बनालीमी आतम चेतन सुखरासी ॥ ४ ॥

१२० चाल-बनजारा

देखो निज रूप तमासा, निज अंतर कीजै वासा ॥ टेक ॥ इंद्रिय अरु तिनके देवा, कुछ जानत नाहीं भेवाजी, तुह करे सबका उजियासा ॥ १ ॥ तूही सब देवन को जाने, तुझको कोइ नाहिं पिछानेजी, तुही आप स्वयं परकासा ॥ २ ॥ कोई जीव ईश नहीं माया, तुहि आप निरंजन रायाजी, कोइ नाही सेवक दासा ॥ ३ ॥ है गुप्त रूप अविनासी, अब तोड़ि देव को फाँसी जी, फिर होय अविद्या नासा ॥ ४ ॥

दोहा--

जो समझै इस सैन को, लखै आप निरवान ।
कर्म कीच छूटै सभी, दिल में होय आराम ॥
सब वेदान्त का सार यह, लखै ब्रह्म निज आप ॥
माया ईश्वर जीव जग, छाड़ि भर्म सन्ताप ॥

१२१ असावरी

यक चतुर नाटकी आई, जिन दिया अखाड़ा लाई ॥ लिये देव मनुष भरमाई, तिर्यक् की किन्ने चलाई ॥ टेक ॥ झोले से सूत निकाला, सो तीन तार करडाला ॥ बट अहंकार का घाला, डोरी मजबूत बनाई ॥ १ ॥ तिस डोरी मे सब बन्धे, किये देव मनुष सब अन्धे ॥ सबही गल डारे फन्दे, मानन लगे छोटे बड़ाई ॥ २ ॥ तीनन को देव बनाया, जब अपना हुकुम सुनाया ॥

काहू पर करनी न छाया, जैसा करै तैसा भुगताई ॥३॥ अब हुक्म किया है भारी, तीनों न बात बिचारा ॥ रचि दीनी चौदह धामा, त्रिलोकी भवन बनाई ॥ ४ ॥ क्षिति पावक जल अरु पवना, आकाश माहिं सब भवना ॥ जिनमें होय आवा गवना, यह दीन्ह पंथ चलाई ॥ ५ ॥ विषयों को छोड़कर बाजी, सुन सुन के सुख सब राजी ॥ मन मोहन रचना साजी, देखन लगे लोग लुगाई ॥ ६ ॥ कर्मों का टिकट जैसा लिया, उसने वैसा परचा दिया ॥ सब पावे अपना किया, कछु चले नहीं चतुराई ॥ ७ ॥ जिसे नाटक में मन आया तिसे गुप्त भेद नहीं पाया ॥ वेदों में सभी समझाया, ठगनी की युक्ति बताई ॥ ८ ॥

१२२ आसावरी

हमें नगर ढूंढि लिया सारा पाया नहिं मीत हमारा ॥ चहुँ दिश घटा अन्धारा, सब अंग विरह ने जारा ॥ टेक ॥ मैं तो पहिर गले बिच सेली, बन परवत फिरी अकेली ॥ सब देखा हाट हवेली, ढूंढे हैं शहर बजारा ॥ १ ॥ तीरथ बरतादिक करती, नित ध्यान मीत को धरती ॥ बड़े दुर्गम देशों फिरती, सब अंग भस्मि में डारा ॥२॥ सब त्यागि दिया घर का धंधा, नित पढ़ी गायत्री संध्या ॥ उलटा गले पड़ि गया फन्दा कर्मों का गहन बन भारा ॥३॥ हम दोनों कान फड़ाये सिर लम्बे केश बढ़ाये ॥ सींगी अरु नाद बजाय सही कठिन छुरी की धारा ॥ ४ ॥ हम बन यती सन्यासी, घर छोड़ि हुए बनवासी ॥ नहीं कटी मोह की फांसी, काहू को

किया मुख कारा ॥ ५ ॥ यम नियम प्राणायामा, करते हैं आठो यामा ॥ पाया नाहींनिज धामा, फिरी चौरासी की धारा ॥ ६ ॥ करि देखो नाना किरिया, पद पाया नहीं हम तुरिया ॥ वृथा ही पच पच मरिया, खोया है जमाना सारा ॥ ७ ॥ जब गुप्त गली में आया, सत्गुरु ने भेद बताया ॥ सब ही चेतन की छाया, व्यापक है रूप तुम्हारा ॥ ८ ॥

१२३ असावरी

जब गुरु मिले ब्रह्मज्ञानी, तब बोले अमृत–बानी ॥ बतलाई नर निशानी, सब झूंठी द्वैत कहानी ॥ टेक ॥ जब सुने यथारथ वचना, सब मिटी कर्म की रचना, निज बोध रूप मे जचना, यह बात सुनी रस सानी ॥ १ ॥ जिस कारन भटकत डोले, वह घट घट माहीं बोले ॥ जब धरि काँटे पर तोले,तब पावे पद निरबानी ॥ २ ॥ जिमि व्याल दाम में भासे । ऐसा ही जगत प्रकासे । अधिष्टान ज्ञान तें नासे । जो शेष रहे सो जानो ॥ ३ ॥ जैसे नभ में घट मठ नामा । यों जीव ब्रह्म में जाना ॥ सब भेद भरम को भाना । जह मन पहुंचे नहिं बानी ॥ ४ ॥ जब तीर लक्ष में ठाना । माया के मर्म को भाना ॥ तब भेद अगम का जाना । सब मिटि गई खेंचातानी ॥ ५ ॥ दनी गुरु ज्ञान–सिरोही । सब मूल अविद्या खोई ॥ जो होना होय सो होई । कछु लाभ रहा नहि हानी ॥ ६ ॥ किये जप तप नेम उपासा । छूटी नहिं मन की आसा ।

देखा निज रूप तमासा ॥ सब माई सुख की खानी ॥ ७ ॥ यह गुप्त ज्ञान का गोला । सब रहा भर्म का ढोला । होगया मेहर का ओला, नहिं पड़त चारो खानी ॥ ८ ॥

१२४ असावरी

कहते हैं बेद सिमरिती । यह जीव कब्म नहिं मरती ॥ नहिं जन्मादिक को धरती । क्यों भूलि भर्म में फिरती ॥ टेक ॥ जैसे मद पी होवे मतवारा । कछु तनको रहे न सँभारा । गिरि जावत मैली गारा । तब लोटन लागे धरता ॥ १ ॥ जब विषयन में मन दीना । कर्ता अहंकार जो कीना । तब जीव आपको चीन्हा । भूल्या निज अपनी सुरती ॥ २ ॥ सपने में बहुत धन पाया । पुत्तर पोते अरु माया ॥ कछु खर्च किया नहिं खाया । झूठी सबही परखिरती ॥३॥ कर्ता कर्म अरु किरिया । तजि तिनको पावो तुरिया ॥ सब कर्म इसी से जरिया । जब पावे आप निखरती ॥४॥ निज आतम रूप अपारा । जिसमें मिथ्या संसारा ॥ सो माहीं नहिं कछु न्यारा । करो महाकार अब विरती ॥ ५ ॥ यह सुन सतगुरु की बानी । सो अतिशय सुख की खानी ॥ पाले थिर होवे प्रानी । पुनी नहिं बाहर धरती ॥ ६ ॥ जब होय दृढ़ अभ्यासा । पावे निज रूप हुलासा ॥ फिर यम को रहे न त्रासा । सब मूल अविद्या जरती ॥ ७ ॥ गुरु गुप्त भेद बतलाया । सब मूँड़ा ज्ञान उड़ाया । शिष्य-सेवक भाव मिटाया । जब जीव-ब्रह्म पाव धिरती ॥ ८ ॥

१२५ असावरी

यह देख्या ब्रह्म तमासा । सब कटा भरम का फाँसा ॥ पाया निज रूप खुलासा । दस हू दिशि हुया उजासा ॥ टेक ॥ ऐसा है रूप हमारा । नहिं भौतिक भूत पसारा । सब शामिल सब से न्यारा । नहिं आगम निगम का रासा ॥ १ ॥ कोई आतम देह बतावे । मन इन्द्रिय प्राण सुनावे ॥ कोई बुद्धि को समझावे । यों पायो बहुत तिरासा ॥ २ ॥ कभी तीन देह में अटक्या । कभी पंच कोष में भटक्या । पाया नहिं निरगुण लटक्या । सब किया उमर का नासा ॥ ३ ॥ कोई पूजा तिलक बतावे । कोई गायत्री जपवावे ॥ कोई माला को हलवावे । कोई कहते सेवक दासा ॥४॥ हमें मिले बहुत अलफेड़ो । गल गेरे मजब की बेड़ी ॥ करते हैं आँख बड़ी टेढ़ी । बतलाते हैं परकासा ॥ ५ ॥ कोई मिले अगम के भेदी । जिन मूल अविद्या छेदी ॥ रचिदई ब्रह्म की वेदी । घट अन्दर हुआ हुलासा ॥६॥ जब सुने यथारथ बचना । तब रूप पिछाना अपना । मिटि गई कुतर्क की रचना । जब धारा निर्गुण पासा ॥ ७ ॥ अब सोये गुप्त गलीचे । नहिं जाना ऊपर नीचे ॥ आनन्द में उमरिया बीते । सब दूर हुवा है साँसा ॥ ८ ॥

दोहा—

ब्रह्मानन्द आनन्द में, आनन्द रहे हमेश ।
जा आनन्द का जगत में, आनन्द है लवलेश ॥

देखा निज रूप तमासा ॥ सब माहूं सुख की खानी ॥ ७ ॥ यह गुप्त ज्ञान का गोखा । सब उड़ा भर्म का टोखा । होगया मेहर का धोखा, नहिं पहुंसे चारों खानी ॥ ८ ॥

१२४ असावरी

कहते हैं बेद सिमरिती । यह जीव ब्रह्म नहिं मरती ॥ नहिं अभ्यासिक को परती । क्यों भूलि भर्म में फिरती ॥ टेक ॥ जैसे मद पी होवे मतवारा । कछु तनकी रहे न संभारा । गिरि जावत मैली गारा । तब लोटन लगी भरता ॥ १ ॥ जब विषयन में मन दीना । कर्ता अहंकार जो कीना । तब जीव आपको चीन्हा । भूल्या निज अपनी सुरती ॥ २ ॥ सपने में बहुत धन पाया । पुत्तर पोते अरु माया ॥ कछु कर्म किया नहिं आया । झूंठी सबही परबिरती ॥३॥ कर्ता कर्म अरु किरिया । सक्षि तिनको माशो पुरिया ॥ सब कर्म इसी से जरिया । जब पावे आप निबरती ॥४॥ निज आतम रूप अपारा । जिसमें मिथ्या संसारा ॥ सो मायाँ नहिं कछु न्यारा । करो ब्रह्माकार अब बिरती ॥ ५ ॥ यह सुन सतगुरु की बानी । सो अतिशय सुख की खानी ॥ याते थिर होवे प्रानी । बुद्धि नहिं बाहर चरती ॥ ६ ॥ जब होय दृढ़ अभ्यास । पावे निज रूप अवासा ॥ फिर यम की रहे न त्रासा । सब भूल अविद्या जरती ॥ ७ ॥ गुरु गुप्त भेद बतलाया । सब मूंठा जाल उड़ाया । शिष्य-सेवक भाव मिटाया । जब जीव-ब्रह्म पावे मिरती ॥ ८ ॥

१२५ असावरी

यह देख्या ब्रह्म तमासा । सब कटा भरम का फाँसा ॥ पाया निज रूप खुलासा । दस हूं दिशि हुया उजासा ॥ टेक ॥ ऐसा है रूप हमारा । नहिं भौतिक भूत पसारा । सब शामिल सब से न्यारा । नहिं आगम निगम का रासा ॥ १ ॥ कोई आतम देह बतावे । मन इन्द्रिय प्राण सुनावे ॥ कोई बुद्धि को समझावे । यों पायो बहुत तिरासा ॥ २ ॥ कभी तीन देह में अटक्या । कभी पंच कोष में भटक्या । पाया नहिं निरगुण लटक्या । सब किया उमर का नासा ॥ ३ ॥ कोई पूजा तिलक बतावे । कोई गायत्री जपवावे ॥ कोई माला को हलवावे । कोई कहते सेवक दासा ॥४॥ हमें मिले बहुत अलमोड़ी । गळ गेरे मजब की बेडी ॥ करते हैं आँख बड़ी टेढ़ी । बतलाते हैं परकासा ॥ ५ ॥ कोई मिले अगम के भेदी । जिन मूल अबिद्या छेदी ॥ रचिदई ब्रह्म की वेदी । घट अन्दर हुआ हुलासा ॥६॥ जब सुने यथारथ बचना । तब रूप पिछाना अपना । मिटि गई कुतर्क की रचना । जब डारा निर्गुण पासा ॥ ७ ॥ अब सोये गुप्त गलीचे । नहिं जाना ऊपर नीचे ॥ आनन्द में उमरिया बीते । सब दूर हुवा है साँसा ॥ ८ ॥

दोहा—

ब्रह्मानन्द आनन्द में, आनन्द रहे हमेश ।
जा आनन्द का जगत में, आनन्द है लवलेश ॥

१२५ असावरी

यह देख्या ब्रह्म तमासा । सब कटा भरम का फाँसा ।। पाया निज रूप खुलासा । दस हू दिशि हुया उजासा ।। टेक ।। ऐसा है रूप हमारा । नहिं भौतिक भूत पसारा । सब शामिल सब से न्यारा । नहिं आगम निगम का रासा ।। १ ।। कोई आतम देह बतावे । मन इन्द्रिय प्राण सुनावे ।। कोई बुद्धि को समझावे । यों पायो बहुत निरासा ।। २ ।। कभी तीन देह में अटक्या । कभी पंच कोष में भटक्या । पाया नहिं निरगुण लटक्या । सब किया उमर का नासा ।। ३ ।। कोई पूजा तिलक बतावे । कोई गायत्री जपवावे ।। कोई माला को हलवावे । कोई कहते सेवक दासा ।।४।। हमें मिले बहुत अलमेड़ी । गल गेरे मजब की बेड़ी ।। करते हैं आँख बडी टेडी । बतलाते हैं परकासा ।। ५ ।। कोई मिले अगम के भेदी । जिन मूल अविद्या छेदी ।। रचिदई ब्रह्म की वेदी । घट अन्दर हुआ हुलासा ।।६।। जब सुने यथारथ बचना । तब रूप पिछाना अपना । मिटि गई कुतर्क की रचना । अब हारा निर्गुण पासा ।। ७ ।। अब सोये गुप्त गलीचे । नहिं जाना ऊपर नीचे ।। आनन्द में उमरिया बीते । सब दूर हुवा है साँसा ।। ८ ।।

दोहा—

ब्रह्मानन्द आनन्द में, आनन्द रहे हमेश ।
जा आनन्द का जगत में, आनन्द है लवलेश ।।

पावे निज रूप समासा ॥ तब मार्ग सुख की खानी ॥ ७ ॥ यह गुप्त ज्ञान का गोला । सब खुला मर्म का टोला । होगया पार भव ओला, नहिं पकड़े चारों खानी ॥ ८ ॥

१२४ आसावरी

करते हैं सब सिमरिती । यह जीव कभी नहिं मरती ॥ फिर जन्मादिक को धरती । क्यों भूलि मर्म में फिरती ॥ टेक ॥ जैसे मद पी होवे मतवारा । कछु तनको रहे न संभारा । गिरि कर मैली गारा । सब लोटन लगी धरती ॥ १ ॥ जब सिपपन में मन भीना । कर्तो अहंकार जो कीना । तब जीव आपको चीन्हा । भूल्या निज अपनी सुरती ॥ २ ॥ सपने में बहुत धन पाया । पुत्तर पोते अरु माया ॥ कछु सर्व किया नहिं जाया । झूंठी सब परमिरती ॥३॥ कर्तो कर्म अरु किरिया । तजि तिनको पावो तुरिया । सब कर्म इसी से जरिया । अब पावे आप निवरती ॥४॥ निज आतम रूप अपारा । जिसमें मिथ्या संसारा ॥ सो माहीं नहिं कछु न्यारा । करो महाकार अब निरती ॥ ५ ॥ यह सुन सतगुरु की बानी । सो अतिशय सुख की खानी ॥ यामें थिर होवे प्रानी । फिर नहिं बाहर चरती ॥ ६ ॥ जब होय दृढ़ अभ्यास । पावे निज रूप सुआसा ॥ फिर यम को रहे न त्रासा । सब भूख [illegible] जरती ॥ ७ ॥ गुरु गुप्त भेद बतलाया । सब मूंडा जाल उड़ाया । [illegible] भाव मिटाया । अब जीव-दशा पार [illegible] ॥ ८ ॥

१२५ असावरी

यह देख्या ब्रह्म तमासा । सब कटा भरम का फाँसा ।। पाया निज रूप खुलासा । दस हू दिशि हुया उजासा ।। टेक ।। ऐसा है रूप हमारा । नहिं भौतिक भूल पसारा । सब शामिल सब से न्यारा । नहिं आगम निगम का रासा ।। १ ।। कोई आतम देह बतावे । मन इन्द्रिय प्राण सुनावे ।। कोई बुद्धि को समझावे । यों पायो बहुत तिरासा ।। २ ।। कभी तीन देह में अटक्या । कभी पच कोष में भटक्या । पाया नहिं निरगुण लटक्या । सब किया उमर का नासा ।। ३ ।। कोई पूजा तिलक बतावे । कोई गायत्री जपवावे ।। कोई माला को हलवावे । कोई कहते सेवक दासा ।।४।। हमें मिले बहुत अलफेड़ी । गळ गेरे मजब की बेडी ।। करते हैं आँख बडी टेढ़ी । बतलाते हैं परकासा ।। ५ ।। कोई मिले अगम के भेदी । जिन मूल अविद्या छेदी ।। रचिदई ब्रह्म की वेदी । घट अन्दर हुआ हुलासा ।।६।। जब सुने यथारथ बचना । तब रूप पिछाना अपना । मिटि गई कुतर्क की रचना । जब हारा निर्गुण पासा ।। ७ ।। अब सोये गुप्त गलीचे । नहिं जाना ऊपर नीचे ।। आनन्द में उमरिया बीते । सब दूर हुवा है साँसा ।। ८ ।।

दोहा—

ब्रह्मानन्द आनन्द में, आनन्द रहे हमेश ।
जा आनन्द का जगत में, आनन्द है लवलेश ।।

देखा निज रूप तमाशा ॥ तब भाई सुख को पाती ॥ ७ ॥ गुरु गुप्त ज्ञान का भेदा । सब उल्टा मर्म का टेढ़ा । होगया खार व मोक्ष, नहिं फक्ते चारों खानों ॥ ८ ॥

१२४ असावरी

कहते हैं भेद सिमरिती । यह जीव कभी नहिं मरती ॥ जो जन्मादिक को धरती । क्यों मूठि भर्म में फिरती ॥ टेक ॥ जो मद पी होवे मतवारा । कछु तनकी रहे न संभारा । गिरि आप पड़ी गारा । तब कोटन करो भरती ॥ १ ॥ जब स्वप्न में मन दीना । क्यों अहंकार जो कीना । तब जीव आपको चीन्हा । भूल्या निज अपनी सुरती ॥ २ ॥ स्वप्ने में बहुत धन पाया । पुकार पोते घर माया ॥ कछु कर्म किया नहिं काया । झूठी सभी परविरती ॥३॥ कर्ता कर्म अरु किरिया । त्रिपुटि जिनसे पायो दरिया ॥ सब कर्म इसी से जरिया । जब पावे आप निवरती ॥४॥ निज आतम रूप अपारा । जिसमें मिथ्या संसारा ॥ सो मायी नहिं प्रभु न्यारा । क्यों भवसागर आय फिरती ॥ ५ ॥ यह सुन सतगुरु की बानी । सो अतिशय सुख की खानी ॥ जाते थिर होवे प्रानी । नहिं बाहर चरती ॥ ६ ॥ जब होय दृढ़ अभ्यास । पावे निज रूप प्रकासा ॥ फिर पास न रहे न आसा । सब मूढ़ मलीन चरती ॥ ७ ॥ गुरु गुप्त भेद बतलाया । जब झूठा आस भाय । शिष्य-सेवक भाव मिटाया । जब [illegible] मिरती ॥ ८ ॥

१२५ असावरी

यह देख्या ब्रह्म तमासा । सब कटा भरम का फाँसा ॥ पाया निज रूप खुलासा । दस हू दिशि हुया उजासा ॥ टेक ॥ ऐसा है रूप हमारा । नहिं भौतिक भूत पसारा । सब शामिल सब से न्यारा । नहिं आगम निगम का रासा ॥ १ ॥ कोई आतम देह बतावे । मन इन्द्रिय प्राण सुनावे ॥ कोई बुद्धि को समझावे । यों पायो बहुत तिरासा ॥ २ ॥ कभी तीन देह में अटक्या । कभी पंच कोष में भटक्या । पाया नहिं निरगुण लटक्या । सब किया उमर का नासा ॥ ३ ॥ कोई पूजा तिलक बतावे । कोई गायत्री जपवावे ॥ कोई माला को हलवावे । कोई कहते सेवक दासा ॥४॥ हमें मिले बहुत अलमेड़ी । गल गेरे मजब की बेड़ी ॥ करते हैं आँख बड़ी टेढ़ी । बतलाते हैं परकासा ॥ ५ ॥ कोई मिले अगम के भेदी । जिन मूल अविद्या छेदी ॥ रचिदई ब्रह्म की वेदी । घट अन्दर हुआ हुलासा ॥६॥ जब सुने यथारथ बचना । तब रूप पिछाना अपना । मिटि गई कुतर्क की रचना । जब डारा निर्गुण पासा ॥ ७ ॥ अब सोये गुप्त गलीचे । नहिं जाना ऊपर नीचे ॥ आनन्द में उमरिया बीते । सब दूर हुवा है साँसा ॥ ८ ॥

दोहा—

ब्रह्मानन्द आनन्द में, आनन्द रहे हमेश ।
जा आनन्द का जगत में, आनन्द है लवलेश ॥

देख्या निज रूप तमासा ॥ तब मोह दुःख को हाने ॥ ७ ॥ यह गुप्त ज्ञान कह गयेला । सब सका भर्म का टोला । होयगा मेरा प बोला, नहिं फिरते चारों खानी ॥ ८ ॥

१२४ आसावरी

कहते हैं वेद सिमरती । यह जीव कबहु नहिं मरती ॥ जीवें अभ्यासिक को धरती । क्यों मुक्ति भर्म में फिरती ॥ टेक ॥ जबे मन ही होवे मझारा । कछु उनको रहे न संभारा । फिरि आप मैं ही गारा । सब छोटन कहो मरता ॥ १ ॥ जब विषयन में मन दीना । क्यों अहंकार को कीना । तब जीव आपको चीन्हा । भूल्या निज अपनी सुरती ॥ २ ॥ सपने में बहुत धन पावे पुत्र पोते अरु माया ॥ कछु सार्थ किया नहिं आया । झूठी सब परमिरती ॥ ३ ॥ कर्ता कर्म अरु किरिया । ताजि तिनको पावे तुरिया । सब कर्म इसी से जरिया । जब पावे आप निवरती ॥ ४ ॥ निज आतम रूप अपारा । जिसमें मिथ्या संसारा ॥ सो माहीं नहिं न्यारा । करो अभ्यास अब विरती ॥ ५ ॥ यह सुन सतगुरु बानी । सो अतिशय सुख की खानी ॥ जाते थिर होवे प्रानी । दुनी नहिं बाहर चरती ॥ ६ ॥ जब होय दृढ़ अभ्यासा । पावे निज रूप तमासा ॥ फिर मन को रहे न आसा । सब भूल मलिन भरती ॥ ७ ॥ गुरु गुप्त भेद बतलाया । सब मूँठा जाल उड़ाया । शिष्य-सेवक भाव मिटाया । सब जीव-ब्रह्म पाप फिरती ॥ ८ ॥

१२५ असावरी

यह देख्या ब्रह्म तमासा । सब कटा भरम का फाँसा ।। पाया निज रूप खुलासा । दस हूं दिशि हुया उजासा ।। टेक ।। ऐसा है रूप हमारा । नहिं भौतिक भूत पसारा । सब शामिल सब से न्यारा । नहिं आगम निगम का रासा ।। १ ।। कोई आतम देह बतावे । मन इन्द्रिय प्राण सुनावे ।। कोई बुद्धि को समझावे । यों पायो बहुत तिरासा ।। २ ।। कभी तीन देह में अटक्या । कभी पंच कोष में भटक्या । पाया नहिं निरगुण लटक्या । सब किया उमर का नासा ।। ३ ।। कोई पूजा तिलक बतावे । कोई गायत्री जपवावे ।। कोई माला को हलवावे । कोई कहते सेवक दासा ।।४।। हमें मिले बहुत अलमेड़ी । गल गेरे मजब की बेड़ी ।। करते हैं आँख बड़ी टेढ़ी । बतलाते हैं परकासा ।। ५ ।। कोई मिले अगम के भेदी । जिन मूल अविद्या छेदी ।। रचिदई ब्रह्म की वेदी । घट अन्दर हुआ हुलासा ।।६।। जब सुने यथारथ बचना । तब रूप पिछाना अपना । मिटि गई कुतर्क की रचना । जब हारा निर्गुण पासा ।। ७ ।। अब सोये गुप्त गलीचे । नहिं जाना ऊपर नीचे ।। आनन्द में उमरिया बीते । सब दूर हुवा है साँसा ।। ८ ।।

दोहा—

ब्रह्मानन्द आनन्द में, आनन्द रहे हमेश ।
जा आनन्द का जगत में, आनन्द है लवलेश ।।

१२५ असावरी

यह देख्या ब्रह्म तमासा । सब कटा भरम का फाँसा ॥ पाया निज रूप खुलासा । दस हू दिशि हुया उजासा ॥ टेक ॥ ऐसा है रूप हमारा । नहिं भौतिक भूत पसारा । सब शामिल सब से न्यारा । नहिं आगम निगम का रासा ॥ १ ॥ कोई आतम देह बतावे । मन इन्द्रिय प्राण सुनावे ॥ कोई बुद्धि को समझावे । यों पायो बहुल निरासा ॥ २ ॥ कभी तीन देह में अटक्या । कभी पच कोष से भटक्या । पाया नहिं निरगुण लटक्या । सब किया उमर का नासा ॥ ३ ॥ कोई पूजा तिलक बतावे । कोई गायत्री जपवावे ॥ कोई माला को हलवावे । कोई कहले सेवक दासा ॥४॥ हमें मिले बहुत अलमेड़ी । गळ गेरे मजब की बेड़ी ॥ करते हैं आँख बडी टेढ़ी । बतलाते हैं परकासा ॥ ५ ॥ कोई मिले अगम के भेदी । जिन मूल अविद्या छेदी ॥ रचिदई ब्रह्म की वेदी । घट अन्दर हुआ हुलासा ॥६॥ जब सुने यथारथ बचना । तब रूप पिछाना अपना । मिटि गई कुतर्क की रचना । जब डारा निर्गुण पासा ॥ ७ ॥ अब सोये गुप्त गलीचे । नहिं जाना ऊपर नीचे ॥ आनन्द मे उमरिया बीते । सब दूर हुवा है साँसा ॥ ८ ॥

दोहा—

ब्रह्मानन्द आनन्द में, आनन्द रहे हमेश ।
जा आनन्द का जगत में, आनन्द है लवलेश ॥

देखा निज रूप तमासा ॥ तब भाई सुख की खानो ॥ ७ ॥ गु
गुप्त ज्ञान का गोला । सब रखा मर्म का खोला । होगया सार भ
भोला, नहिं पड़ते धारा खानो ॥ ८ ॥

१२४ असावरी

१२५ असावरी

यह देख्या ब्रह्म तमासा । सब कटा भरम का फाँसा ।। पाया निज रूप खुलासा । दस हूं दिशि हुया उजासा ।। टेक ।। ऐसा है रूप हमारा । नहि भौतिक भूत पसारा । सब शामिल सब से न्यारा । नहिं आगम निगम का रासा ।। १ ।। कोई आतम देह बतावे । मन इन्द्रिय प्राण सुनावे ।। कोई बुद्धि को समझावे । यों पायो बहुत तिरासा ।। २ ।। कभी तीन देह में अटक्या । कभी पच कोष में भटक्या । पाया नहिं निरगुण लटक्या । सब किया उमर का नासा ।। ३ ।। कोई पूजा तिलक बतावे । कोई गायत्री जपवावे ।। कोई माला को हलवावे । कोई कहते सेवक दासा ।।४।। हमें मिले बहुत अलमेड़ी । गल गेरे मजब की वेडी ।। करते हैं आँख बड़ी टेड़ी । बतलाते हैं परकासा ।। ५ ।। कोई मिले अगम के भेदी । जिन मूल अविद्या छेदी ।। रचिदई ब्रह्म की वेदी । घट अन्दर हुआ हुलासा ।।६।। जब सुने यथारथ वचना । तब रूप पिछाना अपना । मिटि गई कुतर्क की रचना । जब हारा निर्गुण पासा ।। ७ ।। अब सोये गुप्त गलीचे । नहिं जाना ऊपर नीचे ।। आनन्द मे उमरिया बीते । सब दूर हुवा है साँसा ।। ८ ।।

दोहा—

ब्रह्मानन्द आनन्द में, आनन्द रहे हमेश ।
जा आनन्द का जगत में, आनन्द है लवलेश ।।

मझधार ॥ तब तक न्हीं आराम है, पकड़े नहीं किनार ॥ १ ॥ देही मिली है मनुष्य की, कछु कीजिये विचार ॥ डारो अविद्या जालका, सिर आअने से भार ॥ २ ॥ करना जो काज आज है, कल की नहीं उधार ॥ नाहीं खबर छिन एक की, कब आनि पकड़े कार ॥ ३ ॥ गुप्त गोविन्द को जपो, अब राग दोष जार ॥ छाड़ो अखाड़ा लोभ का, इस मारही को मार ॥४॥

१२६ दादरा

मेंहदी के जैसे पात में, लाली रही समाय ॥ काया में तैसे ब्रह्म है, खोजन को कहाँ जाय ॥ टेक ॥ वृथा ही बाहर भटकता, खोजे नहीं सतभाव ॥ बाहर से उलटी मोड़ि के, अंतर को विरती लाय ॥१॥ ढूँढन वाले को ढूँढिले, इस ढुढाही के माय । अतर व बाहर एक रस, क्यों मरता धाय धाय ॥ २ ॥ यद्यपि अपना आप है, सतगुरु बिना नहीं पाय ॥ गहेना गले के बीच में, कोई देत है बतलाय ॥ ३ ॥ गुप्त अपना आप है, दृष्टि न मुष्टि आय ॥ जब तक न जाने आपको, बन बन में भटके खाय ॥ ४ ॥

१३० दादरा

दिल दीजे न संसार, यार छोड़ जाते हैं ॥ लाखो करो उपाय फिर, ढूंढे न पाते हैं ॥ टेक ॥ प्रीति में जो सुख हुये, हमको जलाते हैं । खान पान धाम ये, नाहीं सुहाते हैं ॥ १ ॥ जिन बिन घड़ी नहिं बीतती, अब दिवस जाते हैं ॥ कोई चन्द

१२६ असावरी

यह तन मैंना मैंना । सब छोको फोकट कैना ॥ टेक ॥ म गोचर मन जहं न जावे । सो यह कुछ भी हैना ॥ माया कल्पित विश्व बन्यो है । मृग जल जानि बहेना ॥ १ ॥ सोवत रंक स्वप्न होय राजा । राज करत संग सना ॥ जागत भीख मरो घर मांगे । कबहूं पेट भरैना ॥ २ ॥ तन तिरिया सुत स्वपन यास ये सब काम ख्याला । इन संगतज संग हरि का करिये । हरि हरि मुख से कहना ॥ ३ ॥ सो हरि गुप्त प्रकट सदा संग । उनका सुमिर कहना ॥ प्रभु बड़ कृपा करत बिन कारण । मुख के कहि कहि बैना ॥ ४ ॥

१२७ दादरा

आना मुझे जरूर है, कर्मों के धाम को ॥ सौदा करो मधी का, भजिके राम नाम को ॥ टेक ॥ क्यों मूढ़ता है देखिके, धमक धामको ॥ चलना पड़ेगा यार तजिके, धाम धाम को ॥ १ ॥ बाजे नगारा कूंच का । सुबह व शाम को । संग न पावे संग में, कौड़ी छदाम को ॥ २ ॥ समझा है सत्य तैंने, इस मूर्ति सियाम को ॥ धरीमा पड़ेगा जायगा, यम के मुकाम को ॥ ३ ॥ कहता है गुप्त पुकारिके, मन बईमान को ॥ झगड़ा मचावे काम का, करता न राम को ॥ ४ ॥

१२८ दादरा

काम में काया बसिके होता फिरै सुवार ॥ पड़िके भरिशारत्य में क्यों मूढ़ता है यार ॥ टेक ॥ जैसे नदी में गिर गया, बहन लगा

मझधार ॥ तब तक न्हीं आराम है, पकड़े नहीं किनार ॥ १ ॥ देही मिली है मनुष्य की, कछु कीजिये विचार ॥ डारो अविद्या जालका, सिर आअने से भार ॥ २ ॥ करना जो काज आज है, कल की नहीं उधार ॥ नाहीं खबर छिन एक को, कब आनि पकडे कार ॥ ३ ॥ गुप्त गोविन्द को जपो, अब राग दोष जार ॥ छोड़ो अखाड़ा लोभ का, इस मारही को मार ॥४॥

१२६ दादरा

मेंहदी के जैसे पात मे, लाली रही समाय ॥ काया में तैसे ब्रह्म है, खोजन को कहाँ जाय ॥ टेक ॥ वृथा ही बाहर भटकता, खोजे नहीं सतभाव ॥ बाहर से उलटी मोड़ि के, अंतर को विरती लाय ॥१॥ ढूँढन वाले को ढूँढिले, इस ढुढाही के माय । अतर व बाहर एक रस, क्यों मरता धाय धाय ॥ २ ॥ यद्यपि अपना आप है, सतगुरु विना नहीं पाय ॥ गहेना गले के बीच में, कोई देत है बतलाय ॥ ३ ॥ गुप्त अपना आप है, दृष्टि न मुष्टि आय ॥ जब तक न जाने आपको, बन बन में भटके खाय ॥ ४ ॥

१३० दादरा

दिल दीजे न संसार, यार छोड़ जाते हैं ॥ लाखों करो उपाय फिर, ढूंढे न पाते हैं ॥ टेक ॥ प्रीति में जो सुख हुये, हमको जलाते हैं । खान पान धाम ये, नाहीं सुहाते हैं ॥ १ ॥ जिन विन घड़ी नहिं बीतती, अब दिवस जाते हैं ॥ कोई चन्द

रोज योग में, हम मां समाते हैं ॥ २ ॥ दिल मार्मी दिल को वेय के, मुदय्यत लगाते हैं ॥ एक दिन वियोग को, अवश्य पाते हैं ॥ ३ ॥ जाने विना निज गुप्त के, यों दुख पाते हैं ॥ वार मित्र दोस्ती, सब झूठे नाते हैं ॥ ४ ॥

१३१ दादरा

गाना सुनाना चाहिये जो गैबी ख्याल है ॥ गंधर्व हुवा तो क्या हुवा वाकिफ न हाल है ॥ टेक ॥ तानारीरी में फंस मरया, करता कमाल है । उदात्तमो अनुदात्त, नहिं स्वर की सँभाल है ॥१॥ नहीं तार काठ चाम छोड़ा, उसमा न चाल है ॥ अनहद के बाजे बजि रहे, तबला न ताल है ॥२॥ मुरसद की ठोकर खायके, होता निहाल है ॥ कथनी कथी तो क्या हुवा, कोरा कंगाल है ॥ ३ ॥ उस गान को जान्या नहीं, जो गुप्त माल है ॥ घम काज आतु को मरया पर नहीं अमल है ॥ ४ ॥

१३२ दादरा

मंथन किया है वेद का, कवि कवि के कहते हैं ॥ ज्ञान बिना निज रूप के, भव जाल में बहते हैं ॥ टेक ॥ छोम की अगनी लगी, जिस माहिं दहते हैं । तजि त्याग को अकाम कर, कामी को कहते हैं ॥ १ ॥ बिन निवृत्ति नहिं होय सुख, क्यों दुःख सहते हैं । प्रस्थान की विद्या के कहते हैं ॥ २ ॥ घम बास काज राज में मुक्ति को सहते हैं । कथनी कर वेदांत

की, हम असंग रहते हैं ॥ ३ ॥ जान्या है गुप्त-ज्ञान सो, अमान रहते हैं । तजि के वस्तु सार नहीं, असार गहते हैं ॥ ४ ॥

१३३ दादरा

हरहाल में कर ख्याल को, तुह कौन तेरा है । यह जगत् माया जाल, यहां तेरा न मेरा है ।। टेक ॥ भूल्या फिरे क्या भर्म में, स्वप्ने का डेरा है । धन धाम वाम अरु तनय, झूंठा बखेरा है ॥ १ ॥ सब फीके रंग जहान के, जहाँ मन को गेरा है । कुछ समझिके कर काज, नहीं चौरासी फेरा है ॥ २ ॥ गुरु वेद में विश्वास करि, जो भेद हेरा है । कहते अखंडित आत्मा, नहीं दूर नेरा है ॥ ३ ॥ समझो न गुप्तज्ञान क्यों, हैरान होरहा है । जिसको तू समझे दूर में, तेरा ही चेहरा है ॥ ४ ॥

१३४ दादरा

जैसे केले थभ में, पाता नहीं है सार ॥ तैसे ही देखो खोजि के मिथ्या सभी संसार ॥ टेक ॥ पकड़्या है तैंने आय के, यह माया का विकार ॥ पचि पचि के मरता रात दिन, करता नहीं विचार ॥१॥ छोड़े बिना छूटै नहीं, झूठा भी यह असार ॥ अब जानो अपने रूप को, पटको न सिर ते भार ॥ २ ॥ छोड़ो सभी परमाद को, लावो धनी से तार । शिर ऊपर काल गाजता, करता नहीं उधार ॥ ३ ॥ देखै हैं अपनो आख से, लगती नहीं कछु वार लाखों किरोड़ों चलि गये, कहता है गुप्त पुकार ॥ ४ ॥

रोज बीच में, हम भी समाते हैं ॥ २ ॥ दिल मर्मी दिल के देख के, मुहब्बत लगाते हैं ॥ एक दिन वियोग को, अवश्य पाते हैं ॥ ३ ॥ जाने बिना निज गुप्त के, यों दुख पाते हैं ॥ यार मित्र दोस्ती, सब झूठे नाते हैं ॥ ४ ॥

१३१ दादरा

गाना सुनाना चाहिये, जो गैबी खयाल है ॥ गंधर्व हुआ तो क्या हुआ वाकिफ न हाल है ॥ टेक ॥ तानारीरी में फंस मरता, करता कमाल है । वक्तावक्ती अनुराग, नहिं स्वर की संभाल है ॥१॥ नहीं तार काठ चाम छोड़ा, बसा न ख्याल है ॥ मनहर के बने पचि रहे, समझा न हाल है ॥२॥ मुरसद की ठोकर खायके, होता निहाल है ॥ कथनी करनी तो क्या हुआ, कोरा कंगाल है ॥ ३ ॥ उस गाने को जाना नहीं, जो गुप्त ताल है ॥ धन जन आयु को भरता पर मारी काल है ॥ ४ ॥

१३२ दादरा

मंथन किया है वेद का, कवि कवि के कहते हैं ॥ ज्ञान बिना निज रूप के, भव जाल में बहते हैं ॥ टेक ॥ जोग की अगनी लगी, तिस माहिं दहते हैं । तजि ख्याल को अकाम कर, समदी को चाहते हैं ॥ १ ॥ बिन निश्चय नहिं होय सुख, क्यों दुःख सहते हैं । अष्टापद प्रस्थान को विद्या के कहते हैं ॥ २ ॥ धन धाम काज राज में कुमति को साहते हैं । कथनी कर बेहोश

की, हम असंग रहते हैं ॥ ३ ॥ जान्या है गुप्त-ज्ञान सो, अमान रहते हैं। तजि के वस्तु सार नहीं, असार गहते हैं ॥ ४ ॥

१३३ दादरा

हरहाल में कर ख्याल को, तुह कौन तेरा है। यह जगत् माया जाल, यहां तेरा न मेरा है।। टेक ॥ भूल्या फिरे क्या भर्म में, स्वप्ने का डेरा है। धन धाम वाम अरु तनय, झूंठा बखेरा है ॥ १ ॥ सब फीके रंग जहान के, जहाँ मन को गेरा है। कुछ समझिके कर काज, नहीं चौरासी फेरा है ॥ २ ॥ गुरु वेद में विश्वास करि, जो भेद हेरा है। कहते अखडित आतमा, नहीं दूर नेरा है ॥ ३ ॥ समझो न गुमज्ञान क्यों, हैरान होरहा है। जिसको तू समझे दूर मे, तेरा ही चेहरा है ॥ ४ ॥

१३४ दादरा

जैसे केले थभ में, पाता नहीं है सार ॥ तैसे ही देखो खोजि के मिथ्या सभी संसार ॥ टेक ॥ पकड़्या है तैंने आय के, यह माया का विकार ॥ पचि पचि के मरता रात दिन, करता नहीं विचार ॥१॥ छोड़े बिना छूटै नहीं, मूंठा भी यह असार ॥ अब जानो अपने रूप को, पटको न सिर ते भार ॥ २ ॥ छोड़ो सभी परमाद को, लावो धनी से तार। शिर ऊपर काल गाजता, करता नहीं उधार ॥ ३ ॥ देखै हैं अपनी आख से, लगती नहीं कछु वार लाखों किरोड़ों चलि गये, कहता है गुप्त पुकार ॥ ४ ॥

रोम रोम में, हम भी समाते हैं ॥ २ ॥ दिल माहीं दिल के रूप के, मुहब्बत लगाते हैं ॥ एक दिन वियोग को, अवश्य पाते हैं ॥ ३ ॥ जाने बिना निज गुप्त के, यों दुख पाते हैं ॥ चार मित्र दोस्ती, सब झूठे नाते हैं ॥ ४ ॥

१३१ दादरा

गाना सुनाना चाहिये जो गैबी ख्याल है ॥ गंधर्व हुआ तो क्या हुआ, वाकिफ न हाल है ॥ टेक ॥ तानारीरी में फंस मरना, करना कमाल है । पदारथ भी अनुप्रास, नहिं स्वर की सँभाल है ॥१॥ माहीं तार काठ चाम लोहा, रसना न बाल है ॥ अनहद के बाजे बजि रहे, तबला न ताल है ॥२॥ सुरसत की ठोकर खायके, होता निहाल है ॥ कथनी कथी तो क्या हुआ, कोरा कंगाल है ॥ ३ ॥ उस गान को समझा नहीं, जो गुप्त माल है ॥ धन धाम भगु को मरना, घर माहीं काल है ॥ ४ ॥

१३२ दादरा

मंथन किया है वेद का, कथि कथि के कहते हैं ॥ जाने बिना निज रूप के, भव जाल में बहते हैं ॥ टेक ॥ प्रेम की अग्नी लगी, तिस माहिं दहते हैं । तजि लाज को अकाज कर, वमनी को चाहते हैं ॥ १ ॥ बिन निरुपि नाहिं होत सुख, क्यों दुःख सहते हैं । ब्रह्मरस प्रस्थान जो, बिना के कहते हैं ॥ २ ॥ धन धाम काम राज में कुमति को चाहते हैं । कथनी करे बहोत

उसकी पिछान है ॥ २ ॥ अनेक एक है नहीं, क्या कहे बखान है। आयने दिल में हमेश, होता भान है ॥ ३ ॥ गुप्त सेन जान तू, करदे मुकाम है। ध्रुवस्वयं सरुप मे, नहिं होतो हानि है ॥ ४ ॥

१३७ दादरा

चाम के इस गाँम मे, रहना किसी का नाय। धन धाम बाम नाशवंत, क्यों रहा लुभाय ॥ टेक ॥ नाम रूप से रहित, आप सबही माय। स्व स्वरूप जानने से, जगत जाल जाय ॥ १ ॥ दूध में घृत देखले, खाने से स्वाद आय। विश्व माहीं विश्वनाथ, सब में रह्यो छाय ॥२॥ अपनी आँख मंदता से, चंद दो दिखाय। हाय हाय हाय कष्ट, इसकी भूल खाय ॥३॥ गुप्त रूप है अनूप, उसको लेवे पाय। ध्रुव उसी आनन्द में चित, दीजिये ठहराय ॥ ॥

१३८ दादरा

जाने बिना स्वरूप के, नाहीं आराम है, पाया है जन्म मनुष्य तो, कर येही काम है ॥ टेक ॥ समझा है सत्य तेने, झूठा मुकाम है। आखिर फना ये होयगा, खलकत तमाम है ॥ १ ॥ कर विचार देखिये, जो मोक्ष धाम है। दिन व्यतीत होगये, अब कुछ कयाम है॥२॥ ख्याल जाळ का बना, यह चमक चाम है। फंस के अविद्या फन्द में, बनता गुलाम है ॥ ३ ॥ आनन्द गुप्त हो रहा, अनाम नाम है। ध्रुवस्वयं स्वरूप में न लगता दाम है ॥ ४ ॥

१३९ दादरा

मेहमान सुबह शाम का, किस ख्याल खेले में। मान कही मान कुछ, सामान तो ले ले ॥ टेक ॥ खाने को तुझे चाहिये, क्या

१३५ दादरा

काया तो अपनी है नहीं माया कहां ते होय । समझो व अपने रूप को, इन दोनोंऊ को खोय ॥ टेक ॥ बीती को मृत काल में, विसको न मन में खोय । भावी का सोच मत करो जो होनी होय सो होय ॥ बरते जो वर्तमान में, देखो न आप खोय ॥ पूछे क्या पंडित ज्योतिषी, नहिं टारि सकता कोय ॥ १ ॥ निश्चिंत होकर कीजिये, करने के योग सोय ॥ तजि दे करता हंकार को, करना रहे न कोय ॥ २ ॥ इस गुप्त भेद को समझो, दूजो एक न होय ॥ साधुन सभा के ज्ञान का, करता मति को मोय ॥ ४ ॥

दोहा—

वैद औषधी देत है, पथ को देय बताय ॥
कुपथ छोड़ि सेवन करैं, तबही व्याधी जाय ॥
जीव आतमा के लग्यो, बड़ो रोग अज्ञान ॥
गुरू वैद बतलावते, औषध तिसकी ज्ञान ॥
ज्ञान दवाई जब लगे, कुपथ तजे विषै भोग ॥
पथ विवेक सेवन करे, तब आतम होय निरोग ॥

१३६ दादरा

पैदा न कम तू, देख अजब, तेरी शान है । अपने को आप मुश्किल होता हैरान है ॥ टेक ॥ साक्षी है जब सर्व का, जो घट में बस रहा । वेद भेद बिन सदा, करता जो गान है ॥ १ ॥ तेरी चमक पाय के, चमकता जहान है नाम रूप से जुदा,

उसकी पिछान है ॥ २ ॥ अनेक एक है नहीं, क्या कहे बखान है । आयने दिल में हमेंश, होता भान है ॥ ३ ॥ गुप्त सेन जान तू, करदे मुकाम है । ध्रुवस्वय सरूप में, नहिं होतो हानि है ॥ ४ ॥

१३७ दादरा

चाम के इस गाँम में, रहना किसी का नाय । धन धाम वाम नाशवंत, क्यों रहा लुभाय ॥ टेक ॥ नाम रूप से रहित, आप सबही माय । स्व स्वरूप जानने से, जगत जाल जाय ॥ २ ॥ दूध में घृत देखले, खाने से स्वाद आय । विश्व माहीं विश्वनाथ, सब में रह्यो छाय ॥२॥ अपनी ऑख मंदता से, चंद दो दिखाय । हाय हाय हाय कष्ट, इसकी भूल खाय ॥३॥ गुप्त रूप है अनूप, उसको लेवे पाय । ध्रुव उसी आनन्द में चित, दीजिये ठहराय ॥ ॥

१३८ दादरा

जाने बिना स्वरूप के, नाहीं आराम है, पाया है जन्म मनुष्य तो, कर येहो काम है ॥ टेक ॥ समझा है सत्य तेने, झूठा मुकाम है । आखिर फना ये होयगा, खलकत तमाम है ॥ १ ॥ कर विचार देखिये, जो मोक्ष धाम है । दिन व्यतीत होगये, अब कुछ कयाम है॥२॥ ख्याल जादु का बना, यह चमक चाम है । फंस के अविद्या फद में, बनता गुलाम है ॥ ३ ॥ आनन्द गुप्त हो रहा, अनाम नाम है । ध्रुवस्वयं स्वरूप में न लगता दाम है ॥ ४ ॥

१३९ दादरा

मेहमान सुबह शाम का, किस ख्याल खेले मे । मान कही मान कुछ, सामान तो ले ले ॥ टेक ॥ खाने को तुझे चाहिये, क्या

१३५ दादरा

काया तो अपनी है नहीं, माया कहां ते होय । समझो न अपने रूप को, इन दोनाऊ को खोय ॥ टेक ॥ बीती को भूल जाव मैं, तिसको न मन में जोय । भावी का सोच मत करो जो होवै होय सो होय ॥ बरतै जो वर्तमान में, वको न आप सोच ॥ पूछे क्या पंडित जोशियों, नहिं टारि सकता कोय ॥ १ ॥ निश्चिंत होकर काजिये, करने के योग सोय ॥ छभि वे करता ईकार का, करता रहे न कोय ॥ ३ ॥ इस गुप्त भेद को समझो, वको पक्ष न होय ॥ साबुन लगा के ज्ञान का, करता मति को धोय ॥ ४ ॥

दोहा—

वैद औषधी देत है, पथ को देय बताय ॥
कुपथ छोड़ि सेवन करैं, तबही व्याधी जाय ॥
जीव आतमा के लग्यो, बड़ो रोग अज्ञान ॥
गुरू वैद बतलावते, औषध तिसकी ज्ञान ॥
ज्ञान दवाई जब लगे, कुपथ तजे विषै भोग ॥
पथ विवेक सेवन करे,तब आतम होय निरोग ॥

१३६ दादरा

देखा न बन तू, बस अरूप, तेरी शान है । अपन को आप भूलकर होता हैरान है ॥ टेक ॥ साक्षी है यह सर्व का, जो सब में बस रहा । वेद भेद बिन सदा, करता जा गान है ॥ १ ॥ तेरी चमक पाय के, चमकता जहान है नाम रूप स बुरा,

रहीम का ध्यान धरे। नहीं तसवी माला से जाप करे, मम रूप अक्रिय में क्रिया नहीं ॥ २ ॥ सब द्वैत अद्वैत मिटा झगडा, अपने मे बना न कछु बिगडा। भ्रम भेद का डार दिया पगडा, सब वेद किताब की बात वही ॥३॥ नहीं सूक्ष्म स्थूल अरु मूल नहीं, उस गुप्त गली मे तो भूल नहीं। वहाँ पुन्य अरु पाप की शूल नहीं, तहां एक अरु दो का गम्य नहीं ॥ ४ ॥

१४२ कव्वाली

मुझे निद्रा लगी जब सूता परा, उस स्वपने मे कोस हजारों फिरा। जब जागि उठा तब देखन लगा, कहिं आया गया न वहां ही परा ॥टेक। जैसे चलते दिशा का भर्म होजाय, जानो पूरब तजकर पश्चिम जाय। जब जानि परी तब क्या विस्माय, जहाँ जाना वहाँ में न भूलजरा ॥१॥ कोई वार कहे कोइ पार कहे, कोइ नदी कहे कोइ धार कहे। कोइ बीच कहे कोइ किनार कहे, थकि थकि कर वृथा हो मूढ़ मरा ॥२॥ कोइ देश कहे परदेश कहे, कोई कोइ शेष कहे, कोई शिवजी कहे कोई महेश कहे, नामों का भेद कोई जीव बाकी कहे है वस्तु खरा ॥३॥ तैसे आतम एक ही नाम घने, कहैं कोइ ब्रह्म भने। सब भेद उपाधि कृत ही बने, सो न आता न जाता न जन्मा मरा ॥ ४ ॥

१४३ कव्वाली

जैसे अन्धकार में रज्जू परी, तिसे देख अहो का भरम हुआ। जब दीपक लेकर देख लई, तब रज्जु की रज्जु ही सर्प गया ॥ टेक ॥

आके खायगा ॥ बस पड़े सो हाथ मे, कुछ दान को देले ॥ १ ॥ अपना जिसे तू मानता, स्वप्ना सा भ्रम सा । संत वेद सबै कहे, उनकी तो मानले ॥२॥ कर्म के वस फंसता है, दुसता सुसी सदा ॥ पलटे समय में सामने, सब कर से कर मले ॥ ३ ॥ ध्यान धर उस राम का, तेरी खबर जो ले । प्रभु गुप्त और ना बने तो, राम तो ले ले ॥ ४ ॥

१४० दादरा

घट घट संभल के देख, क्या बाकी हिसाब है । लेखा सभी जो लेवे, क्या देवे जवाब है ॥ टेक ॥ मृग का मद पूछ, मृग स मना हुआ । अपना इसे तू मानता, ये हां अजाब है ॥ १ ॥ चमक दमक चांदनी, बिजली सी है बाग । मुरदा हुआ समझे नहीं, करता खिजाब है ॥२॥ अकड़ मकड़ छोडो, जोडो नेह राम से । यह प्रपंच एसा है जैसा को ख्वाब है ॥३॥ मनको ले तन से बचो, सतगुरु शरण मेवा । प्रभु गुप्त मिले सुख हां, वही सवाब है ॥४॥

१४१ कव्वाली और प्रकार की

जब अपने आपको जाना साही, सब तीन दुभी पल नहीं नहीं । जब आपहि आप विराज रहा, तब और किसी का तो कौन नहीं ॥ टेक ॥ जब माया अविद्या का पाप कटा, तब ईस्वर जीव का भेद मिटा । सब करता क्रिया कर्म हुआ, कहीं करना तो हुआ सफर ही नहीं ॥ १ ॥ अष्टांग न योग समाधि करें, नहीं राम

रहीम का ध्यान धरे। नहीं तसवी माला से जाप करे, मम रूप अक्रिय में क्रिया नहीं ॥ २ ॥ सब द्वैत अद्वैत मिटा झगड़ा, अपने में बना न कछु बिगड़ा। भ्रम भेद का डार दिया पगडा, सब वेद किताब की बात वही ॥३॥ नहीं सूक्ष्म स्थूल अरु मूल नहीं, उस गुप्त गली में तो भूल नहीं। वहाँ पुन्य अरु पाप की शूल नहीं, तहा एक अरु दो का गम्य नहीं ॥ ४ ॥

१४२ कव्वाली

मुझे निद्रा लगी जब सूता परा, उस स्वपने में कोस हजारों फिरा। जब जागि उठा तब देखन लगा, कहिं आया गया न वहां ही परा ॥टेक। जैसे चलते दिशा का भर्म होजाय, जानो पूरब तजकर पश्चिम जाय। जब जानि परी तब क्या विस्माय, जहाँ जाना वहाँ में न भूलजरा ॥१॥ कोई वार कहे कोइ पार कहे, कोइ नदी कहे कोइ धार कहे। कोइ बीच कहे कोइ किनार कहे, बकि बकि कर वृथा हो मूढ़ मरा ॥२॥कोइ देश कहे परदेश कहे, कोई कोइ शेष कहे, कोई शिवजी कहे कोई महेश कहे, नामों का भेद कोई जीव बाकी कहे है वस्तु खरा ॥३॥ तैसे आतम एक ही नाम घने, कहै कोइ ब्रह्म भने। सब भेद उपाधि कृत ही बने, सो न आता न जाता न जन्मा मरा ॥ ४ ॥

१४३ कव्वाली

जैसे अन्धकार में रज्जू परी, तिसे देख अहो का भरम हुआ। जब दीपक लेकर देख लई, तब रज्जु की रज्जु ही सर्प गया ॥ टेक ॥

तैसे आतम अकरता शुद्ध सदा, अज्ञान से मानत करता हुआ, दुई भेद से कर्मादि भेद दिखा, तब एक अद्वैत न जन्मा मुआ ॥१॥ जैसे सीपी में रूपा प्रकाशत है, तैसे आतम में जग भासत है। अधिष्ठान ज्ञान से नाशत है, सो तीनों ही काल में झूठ कहा ॥२॥ जैसे नाभि कमल कस्तूरी अहे यह मूरख मिरग दूर चहे। तैसे आपही चेतन शुद्ध यहे जाने खोजि रहा सोवे नाहिं सुधा ॥ ३ ॥ जिस आनन्द की सुधि पाइ हुई, सच शुभानंद गुरु आप सही, अद्वैत बिना कमलेश नहीं, मन कर विचारे न टेरि कहा ॥ ४ ॥

१४४ कव्वाली

हम जाहिर पुकारि पुकारी कहें, जिस पर भी समझत ना हुआ। जुग जुग मन्वन्तर कल्प कल्प, कहते आये हम एक सदा ॥ टेक ॥ नहीं त्यागे करम सदा करता। जिनके वसि हो जनम मरता ॥ जिस बोझे को सिर पर धरता। फिरता कर्मों को साथ लगा ॥ १ ॥ हमने बहुतहि समझाय दिया। गुरु पारग वैरागी किया ॥ इन सामाजिक को त्याग किया। समझे नहिं मस्त वैरागी गया ॥ २ ॥ हम तत्त्वमसि स नाहिं कहे। जाने खोजि जिस ताके पास रहे ॥ सो भवसागर में नाहिं बहे। ज्ञान आन नर्त्त दोनों पड़ा ॥ ३ ॥ जिन माया अविद्या को दूरि किया। सब धर्म तिनोंका पूर किया। इस वाक्य अरथ का पूर किया। पाया शुभ स्वरूप सब दुख मुआ ॥ ४ ॥

१४५ क़व्वाली

जिन आतम तत्त्व विचार लियो । तिन और विचार कियो न कियो ॥ जो जीवन मुक्त भये जग में वोह बहुते काल जियो न जियो ॥ टेक ॥ झूंठे धन हेत उपाय किया । चलती बर पैसा न एक लिया, जिन आतम धन को त्याग दिया । तो लियाकि लियाकि लिया के लिया ॥ १ ॥ धन दान किया बड़ा मान लिया । ईश्वर का नाम कभी न लिया ॥ जो कर्म किया सह काम किया । तो किया कि किया कि किया के किया ॥ २ ॥ पिवे गांजा चरस और भांग कहीं । कहीं पीवे शराबरु दूध दही ॥ जब प्याला अमीरस नाहीं पिया । तो पिया के पिया के पिया के पिया ॥३॥ कभी स्याल हुया कभी शेर हुया । यज्ञादिक करकर देव हुआ ॥ मानुष तन पाकर फेरि मुया । तो हुया कि हुया कि हुया के हुया ॥ ४ ॥ कभी नीच कर्म करि गधा हुया । योगादिक करकर सिद्ध हुया ॥ नर का तन पाकर फेर मुया । तो मुया के मुया के मुया के मुया ॥ ५ ॥ तन तेल फुलेल लगाय लिया । कपड़े तन धोकर पाक हुया ॥ नहिं अन्त करन को साफ किया । तो धोया के धोया के धोया के धोया ॥ ६ ॥ जब धाम तजा धन माल खोया । दर डारि सभी वन में सोया ॥ वह मूल अज्ञान नहीं खोया । तो खोया के खोया के खोया के खोया ॥ ७ ॥ जब पलंग नेवाड़ पै शयन किया तकियारु विछौना खूब दिया ॥ वह गुम्र गलीचा नाहिं किया । तो सोया के सोया के सोया के सोया ॥८।

जैसे आतम अकरता शुद्ध सदा, अज्ञान से मानत करता हुआ, गुरु भेद से कर्ता भेद खिदाया, सब एक अद्वैत में अन्या हुआ ॥१॥ जैस सीपी में रूपा प्रकाशत है, तैस आतम में जग भासत है। अभिमान भाव से नाशत है, सो तीनों ही काल में झूठा भया ॥२॥ जैसे नाभि कमल कस्तूरी भरे पर मूरख मिरगा ए रहे। तैस आपही चेतन शुद्ध रहे जाने खोजि रहा सोवे माहिं हुआ ॥ ३ ॥ जिस आनन्द की हुवि पाय हूं, म गुमानंद शुद्ध आप सही, बेरत बिना समलेरा नहीं, पर म मिचारे ने टेरि कहा ॥ ४ ॥

१४४ क़व्वाली

हम चारिह पुकारि पुकारी कहें, जिस पर भी समझत मूः हुआ। युग युग मन्वन्तर कल्प कल्प, कहते आवें हम एक सदा ॥ टेक ॥ नहीं त्याग करम सदा करता। तिनके बंधि में जनमे मरता ॥ तिस बोझे को सिर पर धरता। फिरता कर्मों की ज्वार लदा ॥ १ ॥ हमने बहुतहि समझाय लिया। गुरु पाकर वैराही किया ॥ इन कामादिक को साम किया। समझे नहीं मस्त वैरागी गधा ॥ २ ॥ हम तत्वमसि स आदि कहे। आन खोजि जिम ताके पाप दहे ॥ सो भवसागर में नाहिं बहे। जान जाने तत्त्व दोनों पदा ॥ ३ ॥ जिन माया अविद्या को दूरि किया। सब धर्म तिनोंका पूर किया। इस साध्य अरथ को पूर किया। पाया गुप्त स्वरूप तब हुप हुआ ॥ ४ ॥

१४५ कव्वाली

जिन आतम तत्त्व विचार लियो । तिन और विचार कियो न कियो ॥ जो जीवन मुक्त भये जग में वोह वहुते काल जियो न जियो ॥ टेक ॥ मूंठे धन हेत उपाय किया । चलती वर पैसा न एक लिया, जिन आतम धन को त्याग दिया । तो लियाकि लियाकि लिया के लिया ॥ १ ॥ धन दान किया बड़ा मान लिया । ईश्वर का नाम कभी न लिया ॥ जो कर्म किया सह काम किया । तो किया कि किया कि किया के किया ॥ २ ॥ पिवे गांजा चरस और भांग कहीं । कहीं पीवे शरावरु दूध दही ॥ जब प्याला अमीरस नाहीं पिया । तो पिया के पिया के पिया के पिया ॥३॥ कभी स्याल हुया कभी शेर हुया । यज्ञादिक करकर देव हुआ ॥ मानुष तन पाकर फेरि मुया । तो हुया कि हुया कि हुया के हुया ॥ ४ ॥ कभी नीच कर्म करि गधा हुया । योगादिक करकर सिद्ध हुया ॥ नर का तन पाकर फेर मुया । तो मुया के मुया के मुया के मुया ॥ ५ ॥ तन तेल फुलेल लगाय लिया । कपड़े तन धोकर पाक हुया ॥ नहिं अन्त करन को साफ किया । तो धोया के धोया के धोया के धोया ॥ ६ ॥ जब धाम तजा धन माल खोया । डर डारि सभी वन में सोया ॥ वह मूल अज्ञान नहीं खोया । तो खोया के खोया के खोया के खोया ॥ ७ ॥ जब पलंग नेवाड़ पै शयन किया तकियारु बिछौना खूब दिया ॥ वह शुभ गलीचा नाहिं किया । तो सोया के सोया के सोया के सोया ॥८।

दोहा—

करम पराये आप मे, मानत सोइ अज्ञान ।
जिसके हैं तिसके करैं, सोई ज्ञानी जान ॥
ज्ञान उसी को कहत हैं, सुनियो करके कान ।
जैसी होवे वस्तु को, तैसी लेव जान ॥
जिन पकड़या है मूल को, शाखा तजी अनेक ।
काम बहुत थोड़ा सरम, करिके देख विवेक ॥
त्याग किया जिन एक का, वस्तु गही अपार ।
ताको एक अनेक नहिं, चाहे जीवो बरस हजार ॥

१४६ क़व्वाली (और प्रकार की)

मजा जग लेवें हैं वोही यार जो हरि नाम कमाने वाले ॥टेक॥
दया करि देवें द्रव्य लुटाय, संग दुरजन का मन से हटाय ।
संग हरिजन के वो अभिलाय, शुभ गुण ठाठ जमाने वाले ॥१॥
करते कर्म करें निष्काम, धरम से जाते सन्त के धाम, रहते सबघट आतमराम, रंग हरिरंग रमाने वाले ॥ २ ॥ विश्व को देखैं स्वप्न समान, तन का त्याग किया अभिमान, न करते किसी जीव की हान, मान मद मोह नसाने वाले ॥ ३ ॥ विषय स चिन्ता तानी टार, आप सुख रहते हैं हरबार, गुप्त गोविंद जपें बारम्बार, ध्रुव निज रूप समाने वाले ॥ ४ ॥

१४७ क़व्वाली

शिव शिव हर हर को हरबार हर भवपार कमाने वाले ॥टेक॥
शिव चिता भस्म है अंग, वाम कर है गौरा अरधंग । माथवे चंद

शीश पर गंग, भूषण व्याल हैं काले काले ॥ १ ॥ डमरू निरशूल लिये झोला, पहिने वांगवर सोला ॥ मुंड रुद्राक्ष सोहे भोला, कि भोला ध्यान लगानेवाले ॥ २ ॥ आपके फुरने का विस्तार, उत्पत्ति पालन और संहार ॥ करता विनु करता करतार, पीभंग भर्म भगाने वाले ॥ ३ ॥ गुप्त गिरिजापति गिरिजा साथ, वैठे ईश विश्व के नाथ ॥ जिनके सुमिरन से अघजात, ध्रू दे दर्श नंदीगन वाले ॥ ४ ॥

१४८ क़व्वाली

काशी विश्वेश्वर दातार, दाता ज्ञान के देने वाले ॥ टेक ॥ शिव अविनाशी तन में, परकाशत सब के मन में ॥ वही चींटी वही जन में, संग शक्ती के रहने वाले ॥ १ ॥ शिव सर्व रूप होके, अतर वाहर सब देखे ॥ दर्शन भक्तों को देके, पाती विल्व के लेने वाले ॥ २ ॥ सत् चित आनन्द मायापार, माया कल्पित यह संसार ॥ योगियों का जो तत्व विचार, नौका भक्त की खेने वाले ॥ ३ ॥ अंतर गुप्त ध्यान धारे, शिव संकल्प सभी जारे ॥ केवल मोक्ष मूर्तिवारे । ध्रूमुख आपहि कहने वाले ॥ ४ ॥

१४६ क़व्वाली

वैठे शिव सरूप हो आप, मुक्ती मोज के लेने वाले ॥टेक। संग में शान्ति मुदिता नार, चेतन बोध रहे हर वार ॥ संसृति मूल दिया जिन डार, वानी सत्य कि कहने वाले ॥ १ ॥ जिनने द्वैत किया सब दूर, व्यापक ब्रह्म लखा भरपूर ॥ कीना करता

मवि का पूर। वानी ज्ञान के वन वाले ॥ २ ॥ पंच-सूत तीन-गुन मार्हि, किसी से राग द्वेष कुछ नार्हि ॥ सम दृष्टि सब मार्हि, दोनों ताप मिटाने वाले ॥ ३ ॥ ऐसे आप फिरे अरे, स मिले रहें न्यारे ॥ आपही गुप्त प्रगट सारे, प्रू निज प्र छपाने वाले ॥ ४ ॥

१५० क़व्वाली

क्या कहें कही ना जाय, रचना अजब रचाने वाले ॥ टेक
कीमा सृष्टि का विस्तार, जिसका नहीं वार नहीं पार, जिसमें रहे नर नार, तेरे सब से ढंग निराले ॥ १ ॥ तैने ऐसा बन क्यास, जिसके परदे भारी कमाल ॥ जसमें कुछ मा रहे संभा भूले चतुर कहाने वाले ॥ २ ॥ कुछ है नाहीं वकजाय, बिन रूप दिखलाय ॥ सबमान सभी भरमाय, बिन बीच छगा वाले ॥ ३ ॥ कोई माया गहने जाय वो हाथ कभी ना आय प्रू खुद ही समझ रहजाय यों गुप्त मगद भ्रम बाळे ॥ ४ ॥

१५१ क़व्वाली

पाय के नर तन ज्ञानू बसंत, फाग खेलत हैं रोस वाले ॥ टेक ॥ उदय हुये पूरन पिछले भाग आस उपजा वैराग ॥ किया है सभा जगत का त्याग, राग अरु द्वेष नश वाले ॥ १ ॥ उपजा स्वयं स्वरूप का ज्ञान, यातें दूरि हुया अज्ञान छुटे हैं सभी मोह मद मान छुये अज्ञान भय के दान ॥ २ रहते ब्रह्मानन्द आनन्द, कटे हैं सभी कर्म के फंद ॥ गिय

पूनम जैसे चंद, दाग सब धोये काले काले ॥ ३ ॥ गुप्त मे रहते हैं गर गाप, जिसमें नहीं जगत का पाप ॥ सदा पूरन हैं आपहि आप, आप मद पी होगये मतवाले ॥ ४ ॥

१५२ क़व्वाली

शुभ कर्म करो निष्काम, राम भजि उतरो भव पारा ॥टेक॥ जिनों को सुमिरा हरि का नाम, उनों के सब सिध होगये काम ॥ लग्या नहिं कौड़ी एक छदाम, छूटि गया सभी कर्म का गारा ॥ १ । जगत में पापी तिरे अनेक, लेकर राम नाम की टेक ॥ जिनों को नहिं धारा कोई भेख, नाम नौका चढ़ि उतरे धारा ॥२॥ ररा सब माहीं रमता, ममाकर सब मे ममता ॥ जब भाव उदय हो समता, अपने चित्त में करो विचारा ॥ ३ ॥ गुप्त प्रगट में एकहि जान, सीखले गुप्त गुरु से ज्ञान ॥ अबतो मत ना रहे अजान, मान मद तजिदो सभी विकारा ॥ ४ ॥

१५३ क़व्वाली

भूलि के सत् चित्त आनन्द रूप, पड़ा है जन्म मरण के कूप ॥ टेक ॥ कहत हों तोसों सबही हाल, भर्म का टूटि छाय सब जाल । जरा टुक सुनिये करके ख्याल, तुहीं इस काया माहीं भूप ॥ १ ॥ स्थूल सूक्ष्म जेता विस्तार, सभी रहता तेरे आधार ॥ इनों का आपस में व्यभिचार, तुही तो व्यापि रहा अनुसूत ॥ २ । जन्मता मरता है स्थूल, आप में मानत है यही भूल ॥ इसी से

भवि का पूर। ज्ञानी ज्ञान के देने वाले ॥ २ ॥ पंच-भूत तीन-गुन नाहिं, किसी से राग द्वेष कुछ नाहिं ॥ सम दृष्टि सब के माहिं, तीनों ताप मिटाने वाले ॥ ३ ॥ एक आप फिरे धार, सब से मिले रहें न्यारे ॥ आपही गुप्त प्रगट सारे, मू निज भाव छुपाने वाले ॥ ४ ॥

१५० क़व्वाली

क्या कहूँ कही ना जाय, रचना अजब रचाने वाले ॥ टेक ॥ कीना सृष्टि का विस्तार, जिसका नहीं वार नहीं पार, जिसमें हुए रहे नर नार, तेरे सब से ढंग निराले ॥ १ ॥ तैने ऐसा बनाया ख्याल, जिसके परदे भरी कमाल ॥ उसमें कुछ ना रहे संभाल भूले चातुर ध्यान वाले ॥ २ ॥ कुछ है नहीं मलमय, बिन रूप रूप दिखामय ॥ सब मान सभी भरमाय, बिन बैन भ्रम दिये वाले ॥ ३ ॥ कोई ज्ञाया पकड़ने जाय वो हाथ कभी ना आय ॥ मू कुछ ही समझ रहजाय, यों गुप्त प्रगट भ्रम वाले ॥ ४ ॥

१५१ क़व्वाली

पाय के नर तन ज्ञात् वसंत, फाग खेलत हैं खेलन वाले ॥ टेक ॥ उदय हुये पूरन पिछले भाग जागे उपजा है वैराग ॥ किया है सभी जगत् का त्याग, राग अरु द्वेष भगाने वाले ॥ १ ॥ उपजा स्वयं स्वरूप का ज्ञान, भागें दूरि हुवा अज्ञान ॥ छूटे हैं सभी मोह मद मान, खुले अज्ञान बज्र के ताले ॥ २ ॥ रहते ब्रह्मानन्द आनन्द, कटे हैं सभी कर्म के फंद ॥ किया रहे

पूनम जैसे चंद, दाग सब धोये काले काले ॥ ३ ॥ गुप्त में रहते हैं गर गाप, जिसमें नहीं जगत का पाप ॥ सदा पूरन हैं आपहि आप, आप मद पी होगये मतवाले ॥ ४ ॥

१५२ क़व्वाली

शुभ कर्म करो निष्काम, राम भजि उतरो भव पारा ॥टेक॥ जिनों को सुमिरा हरि का नाम, उनो के सब सिध होगये काम ॥ लग्या नहिं कौड़ी एक छदाम, छूटि गया सभी कर्म का गारा ॥ १ ॥ जगत में पापी तिरे अनेक, लेकर राम नाम की टेक ॥ जिनों को नहि धारा कोई भेख, नाम नौका चढ़ि उतरे धारा ॥२॥ ररा सब माहीं रमता, ममाकर सब में ममता ॥ जब भाव उदय हो समता, अपने चित्त में करो विचारा ॥ ३ ॥ गुप्त प्रगट में एकहि जान, सीखले गुप्त गुरु से ज्ञान ॥ अबतो मत ना रहे अजान, मान मद तजिदो सभी विकारा ॥ ४ ॥

१५३ क़व्वाली

भूलि के सत् चित्त आनन्द रूप, पड़ा है जन्म मरण के कूप ॥ टेक ॥ कहत हों तोसों सबही हाल, भर्म का टूटि छाय सब जाल । जरा टुक सुनिये करके ख्याल, तुहीं इस काया माहीं भूप ॥ १ ॥ स्थूल सूक्ष्म जेता विस्तार, सभी रहता तेरे आधार ॥ इनों का आपस में व्यभिचार, तुही तो व्यापि रहा अनुरूप ॥ २ ॥ जन्मता मरता है स्थूल, आप में मानत है यही भूल ॥ इसी से

सहता है यह शूल, नहीं सुख में है आया भूप ॥ ३ ॥ तुरी है गुप्त रूप निज सार, वेद तीनों को जानि विकार ॥ पटक अब इनको सिरसे भार, सोत अब क्यों हारत है भूप ॥ ४ ॥

१५४ तरज तान

निरभै हो कर को जारि के, हंस खेल खेल खेल ॥टेक॥ अब गुरु संग को तजना, यक नाम हरि का भजना ॥ कोई मिले मगन सजना, तिस मेली से कर मेल मेल मेल ॥१॥ इस अगम् आप को जारो, निज अपना जन्म सुधारो ॥ अब मूल अविद्या टारो । कर मनको ज्ञान का खेल खेल खेल ॥२॥ तन मन से हठिरुठयो । निज एक भाव में समवो ॥ सब रूप आपना पावो । अभ्यासिक दुख को पेल पेल पेल ॥ ३ ॥ यह गुप्तज्ञान गहि राखो ॥ अब सार इसी का चाखो ॥ वायक से बानी भाखो । निज आश्रम सुख को मल्ल मेल मेल ॥ ४ ॥

१५५ तरज तान

इस नर तन को पाय के । कर काज काज काज ॥ टेक ॥ अब काज यही कर लीज । ईश्वर में चित्त को दीजे ॥ कछ परलों पर नहिं छीज । शुभ कारज को कर आज आज आज ॥ १ ॥ बहु योनी में फिरि आया । यह नर तन दुरलभ पाया ॥ झूठी है सब ही माया । अब साज भजन का साज साज साज ॥ २ ॥ जिसको मानत है अपना । यह जगत रैनि का सपना ॥ झूठी है सब ही रचना । इस झूठे जग से भाज भाज भाज ॥ ३ ॥ निज गुप्तरूप

है सच्चा । और सब ही जानो कच्चा ॥ स्वपने के बच्चो बच्चा । इस मोह जाल को त्याज त्याज त्याज ॥ ४ ॥

१५६ तरज तान

दिल मे वैराग जँचाय । भजिले राम राम राम ॥ टेक ॥ तन की ममता तजि दीजे । निष्काम कर्म को कीजे ॥ तूं भक्ति सुधारस पीजे । टुक चित अपने को थाम थाम थाम ॥१॥ करता हंकार न करिये । निज शुद्धरूप उर धरिये ॥ सब पाप इसी से जरिये । तूं पावेगा सुख धाम धाम धाम ॥२॥ निश्चय में राम ठहरावो । मन हर्ष शोक मत लावो ॥ सब द्वैत भाव छिटकावो । ना लागे इस मे दाम दाम दाम ॥३॥ यों निज जन्म सुधारो । अपने को भव से तारो ॥ लख गुप्त गर्भ को जारो । ध्रू कर लीजे यह काम काम काम ॥४॥

१५७ तरज तान

क्यों फंसै विषय की जाल । कहना मान मान मान ॥ टेक ॥ ये विषय सदा दुख रूपा । तिनके संग से भव कूपा ॥ यो सतमार कह रूका । मत विषय खाक को छान छान छान ॥ १ ॥ यह जगत जाल है स्वपना । इस मे नहिं कोई अपना ॥ जैसा करना वैसा भरना । सुन कथा लगा कर कान कान कान ॥ २ ॥ तन से सत सगति करना । मुख से हरि नाम सुमरना ॥ मन निजानद में धरना । ब्रभू रूप जान जान जान ॥ ३ ॥ जब गुप्त रूप को पावे । तब माया मल मिटि जावे ॥ नहिं गर्भ वास में आवे । ध्रुव तीर लक्ष में तान तान तान ॥ ४ ॥

साहता है बहु शूल, नहीं तुम में है छाया धूप ॥ ३ ॥ तुरी है गुरु रूप निज सार, देह तीनों को जानि विकार ॥ पटक अब इनका सिर से भार, जीव अब क्यों हारत है भूप ॥ ४ ॥

१५४ तरज तान

निरभै हो डर को डारि के, हंस खल खेल खेल ॥टेक॥ सत गुरु संग को लगना, यक नाम हरि का भजना॥ कोई मिले मारग सजना, तिस मेली से कर मेल मेल मेल ॥१॥ इस जग जाल के जारा, निज अपना जन्म सुधारो ॥ अब मूढ़ अविद्या टारो । कर भज्ञे ज्ञान का खेल खेल खेल ॥२॥ तन मन से इन्द्रि हटावो । निज यक मन में लावो ॥ तब रूप आपना पावो । जन्मादिक दुख को पेल पेल पेल ॥ ३ ॥ यह गुरुज्ञान गहि राखो ॥ अब सार इसे का चाखो ।। बालक से बानी भाखो । निज आतम सुख के महल मेल मेल ॥ ४ ॥

१५५ तरज तान

इस नर तन को पाय के । कर काज काज काज ॥ टेक ॥ अब काज यही कर लीजे । ईश्वर में चित्त को दीजे ॥ कछु परखों पर नहिं कीजे । शुभ करम को कर आज आज आज ॥ १ ॥ बहु योनी में फिरि आया । यह नर तन दुरलभ पाया ॥ झूठी है सब ही माया । भव साज भजन का साज साज साज ॥ २ ॥ जिसको मानत है अपना । यह जगत रैनि का सपना ॥ झूठी है सब ही रचना । इस झूठे जग से भाग भाज भाज ॥ ३ ॥ निज गुरुरूप

१६० तरज तान

सत गुरु के शरन जायके ॥ लखि सैन सैन सैन ॥ टेक ॥ बचनो में श्रद्धा कीजे । सरवन के रस को पीजे ॥ फिर मनन उसी का कीजे । तब पावेगा सुख चैन चैन चैन ॥ १ ॥ गुरु करैं ब्रह्म परकासा । जब होय अविद्या नासा ॥ तब मिटै जीव का सांसा रस प्याया अमृत बैन बैन बैन ॥ २ ॥ घट अंदर हुआ उजाला । खुलि गया भरम का ताला ॥ दरियाव मिल्या जिमि नाला । जैसे जल माहीं फेन फेन फेन ॥ ३ ॥ जब गुप्त रूप को जान्या । सब भेद भर्म को भाना ॥ तब लाग्या लक्ष निशाना । ध्रुव विषय करै नहि नैन नैन नैन ॥ ४ ॥

१६१ कका बतीसी बैत सेहरफी, कर्म नाशक

(क) काल अरु कर्म नहिं आतमा में । टुक जागि के देख पड़ा क्या सोवे ॥ देश अरु काल लेश नाहिं । सदा एक अखण्ड क्यों खड जीवे ॥ एक शुद्ध परकाश सरूप तेरा । फिर कर्म से कौन का मैल धोवे ॥ गुप्त निरवन्ध सम्बन्ध नाहिं । इस कर्म के जाल क्यों फंसा रोवे ॥१॥

दोहा—

कका जारो कर्म को, ज्ञान अग्नि के संग ॥
आतम में किरिया नहीं, पूरण शुद्धअसंग ॥

(ख) खोजि कर देख निज आतमा को । जासे कर्म अरु भर्म का लेश नाहीं ॥ नहीं पंच क्लेश की गंध जामें । सुख रूप पर–

१५८ तरज तान

सत गुरु ने मारा बान । सिष्य के तान तान तान ॥ टेक ॥ मैंभी अब ज्ञान कमाना । फिर भया शब्द निशाना ॥ सब मीचैं मरम सयाना । भया आप रूप का ज्ञान ज्ञान ज्ञान ॥ १ ॥ सिख घायल करके डारा फिर क्या करे वैद बिचारा ॥ कोई मांस धर्म नहिं पाखी । कोई घायल लेवे जान जान जान ॥ २ ॥ घायल को घायल जान । दूजा कोई नाहिं पिछाने ॥ जिस तन में लगी कटारी । टुक घरि के इसको ध्यान ध्यान ध्यान ॥ ३ ॥ अब गुप्त रूप को पावे । सब भाव भरम मिटि जावे ॥ सिष्य अपने गुरु से बोला । छुटिगई चौरासी खान खान खान ॥ ४ ॥

१५९ तरज तान

गुरु में ना मैल पाप । गुरु तो साफ साफ साफ ॥ टेक ॥ सब भाव मिटावो दूजा । किसकी करे देवा पूजा ॥ जब मन नहिं रूप समझ फिर किसका करता जाप आप आप ॥१॥ सपने में इसी जैसा । इसको भी जानों तैसा ॥ कोई कौड़ी लगे न पैसा । कल तीनों काल में आप आप आप ॥ २ ॥ मन रचना मूठी रचना । कहं को मानत अपना ॥ पर धर्म आप क्यों रचना । इससे नहिं आगे पाप पाप पाप ॥ ३ ॥ जब गुप्त गली में आवे ॥ तब गुप्त भेद को पावे । सब भर्म कर्म अड़ि जावे । भुव करे कौन का ताप ताप ताप ॥ ४ ॥

१६० तरज तान

सत गुरु के शरन जायके ॥ लखि सैन सैन सैन ॥ टेक ॥ बचनों में श्रद्धा कीजे। सरवन के रस को पीजे ॥ फिर मनन उसी का कीजे। तब पावेगा सुख चैन चैन चैन ॥ १ ॥ गुरु करै ब्रह्म परकासा। जब होय अविद्या नासा ॥ तब मिटै जीव का सांसा रस प्याया अमृत बैन बैन बैन ॥ २ ॥ घट अंदर हुआ उजाला। खुलि गया भरम का ताला ॥ दरियाव मिल्या जिमि नाला। जैसे जल माहीं फेन फेन फेन ॥ ३ ॥ जब गुप्त रूप को जान्या। सब भेद भर्म को भाना ॥ तब लाग्या लक्ष निशाना। ध्रुव विषय करै नहिं नैन नैन नैन ॥ ४ ॥

१६१ कका बतीसी बैत सेहरफी, कर्म नाशक

(क) काल अरु कर्म नहिं आतमा में। टुक जागि के देख पड़ा क्या सोवे ॥ देश अरु काल लेश नाहिं। सदा एक अखंड क्यों खंड जोवे ॥ एक शुद्ध परकाश सरूप तेरा। फिर कर्म से कौन का मैल धोवे ॥ गुप्त निरबन्ध सम्बन्ध नाहिं। इस कर्म के जाल क्यों फंसा रोवे ॥१॥

दोहा—

कका जारो कर्म को, ज्ञान अग्नि के संग ॥
आतम में किरिया नहीं, पूरण शुद्धअसंग ॥

(ख) खोजि कर देख निज आतमा को। जामें कर्म अरु भर्म का लेश नाहीं ॥ नहीं पंच क्लेश की गंध जामें। सुख रूप पर-

१५८ तरज तान

सत गुरु ने मारा बान । शिष्य के लाग लाग लाग ॥ टेक ॥ सैंधी जब ज्ञान कमाना । फिर छाया भरम निसाना ॥ सब वेरि भरम रयाना । भया आप रूप का ज्ञान ज्ञान ज्ञान ॥ १ ॥ जिन पाखंड करके डारा फिर क्या कर वेद विचारा ॥ कोई मांस बकर नहिं पाखो । कोई पाखंड सब जान जान जान ॥ २ ॥ पाखंड को पायउ जान । दूजा कोई नाहिं पिछान ॥ जिस तन में लागी ध्यावे । इक घरि के धरो ध्यान ध्यान ध्यान ॥ ३ ॥ अब गुप्त रूप को पाव । सब पाप दूरर मिटि जावे ॥ शिष्य अपने मुख से बोले । छुटिगई चौरासी खान खान खान ॥ ४ ॥

१५९ तरज तान

तुम में ना मैल पाप । शुद्ध हो साफ साफ साफ ॥ टेक ॥ जब भाव मिटावो दूजा । किसकी करे दया पूजा ॥ जब एक नहिं रूप सूक्ष्म फिर किसका करता जाप आप आप ॥१॥ स्वप्ने में देखै जैसा । इसको भी जानों वैसा ॥ कोई कोई जग न पैसा । सब तीनों काल में आप आप आप ॥ २ ॥ मन रचना झूठी रचना । काहे को मानत अपना ॥ पर धर्म आप क्यों रचता । इससे नहिं लगे पाप पाप पाप ॥ ३ ॥ जब गुप्त गद्दी में आवे ॥ तब गुप्त मेरा को पावे । सब मर्म कर्म नहिं आवे । भूल करे कौन का वाप ताप ताप ॥ ४ ॥

(ङ) गंध अरु रस नहीं रूप जामें । स्पर्श अरु शब्द क्यों पाइयेजी ॥ सोतो शुद्ध सरूप नहीं गंध माया । महत्तत्त्व हंकार क्यों गाइयेजी ॥ जामें जीव अरु ईश की ठौर नाहीं । सोइ आप में आप समाइये जी ॥ गुप्त ज्ञान से देखि जब भेद जाने । ध्रुव अचलहै अचल को पाइयेजी ॥५॥

दोहा—

ङगालिब में गैब है, दीखे सुने अपार ॥
भीतर बाहर एक रस, लिपता नहीं विकार ॥

(च) चमक तेरी का पाय के जी, यह चमकता पिंड ब्रह्माड सारा ॥ जेसे सूर परकाश तें किरन बहु भासती, तिस सूरते नहीं कछु किरन न्यारा ॥ सब जोतिका जोति है आतमा तुहू । तुहीं जानता चाँदना अंधियारा ॥ नहीं गैब है गुप्त परकास सब का करे, ध्रुवदेखिये आप मिल्या नहीं न्यारा ॥६॥

दोहा—

चचा चामरु हाड़ को, करता है परकास ॥
दमक पड़ी कूटस्थ की, जिसे कहे जीव आभास ॥

(छ) छार में लाल मिलि रहा प्यारे, तिस छानि के लाल को काढ़ि,लीजे । अब गुरु वेद की करो छांणि, धी छानने वाली को लाय दीजे ॥ पंच कोष वपु तीन ये छार सब ही लख, शुद्ध रूप निज आतमा लाल लीजे ॥ सोइ गुप्त अतोल नहीं मोल जाका, ध्रुव कौन बजार मोल कीजे ॥ ७ ॥

काय एक आप ताहीं ॥ कोइ जाग्रत स्वप्न नहिं नींद तामें । नीं विरव तैजस प्राज्ञ भाहीं । गुप्तानन्द आनन्द धू अचल है छु । जामें चौथि अरु पंचमी नाहिं कहीं ॥२॥

दोहा—

खखा खोउया आपको, तीन देह के माहिं ॥
कर्ता किरिया कर्म सब, कुछ भी पाया नाहिं ॥

(ग) खम परताप पाये आप ताहि । नहिं और प्रकार का ९प छूटे ॥ गहे कम उपासना खम कीजै । खहाँ जायगा यां अज्ञान छूटे ॥ यही ज्ञान स्वरूप पिछानियामी जब द्वैत अद्वैत का मर्म टूटे ॥ गुप्त रूप है आप अनूप प्यारे । ध्रुव पाय के बन्ध यह मौज लूटे ॥ ३ ॥

दोहा—

गगा गुरु भव तरन में, और न कोई उपाय ॥
छांडो किरिया कीचको, यक चढ़ा ज्ञान की नाव ॥

(घ) खोजि घर माहिं क्यों बाहर जाय, गुरु देव से बार पहचान कीजे । सोधन कीजिये आप के आरिफों की । मन पवन अरु देह से भीति कीजे ॥ नैन से बैन से सैन से परखि कर । अपने चित्त में जानि लीजै । है गुप्त प्रगट तुही एक व्यापक सदा । भूगानि के रूपअज्ञान छीज ॥ ४ ॥

दोहा—

घघा घर घर में रमा, सत चित आनद रूप ॥
एक बन्ध्या भरमत फिरे, तुहि भूपन का भूप ॥

जी ।। चहे रंग राग सुन बाग माहीं, चहे राग वैराग को त्यागिये जी ॥ जब जानिया गुप्त तब मुक्त जीवन हुये, ध्रू खेल या खेलिना लीजियेजी ॥ १० ॥

दोहा—

जगा याके बीच में, तुँह तो रहे असंग ॥
जैसे काली कामली, चढ़े न दूजा रंग ॥

(ट) टारिके मूल अज्ञान सोये, फेरि तू ल से कौनसा काज बिगड़े ।। जैसे स्वप्न मँझार भये शत्रु अरु यार, खुलै आंख तब मित्र कहाँ शत्रु झगड़े ॥ जैसे भीति के शेर से भीति नहिं होत है, नहीं चित्र की आगि से तिमिर निबड़े ।। गुप्त में जगत अरु जगत में गुप्त है, ध्रू जगत के माहिं फेरि कौन रवडे ॥ ११ ।

दोहा—

टटा टाटी भरम की, सतगुरु दई उड़ाय ॥
दरसाया निज आतमा, पूरण अचल सुभाय ॥

(ठ) ठीक ठिकाने को पाय के जी, फेरि उलटि अरु पलटि के नहीं आना ।। उस धाम के गाम में हाड़ अरु चाम नाहीं, पैर से गमन कर नहीं जाना ।। घट फूटि के घट आकास जैसे, महा-काश में आगवन गवन भाना ॥ एक गुप्त सरूप अनूप वह धाम लखि ध्रुव वाच्य को त्यागि के लक्ष जाना ।। १२ ।।

दोहा—

ठठा ठाकुर जगत में, जा ठाठे निज रूप ॥
लच्च राखि निज आपको, वाच्य फटकि दियासूप ॥

जी ।। चढ़े रंग राग सुन वाग माहीं, चढ़े राग वेराग को त्यागिये जी ।। जब जानिया गुप्त तब मुक्त जीवन हुये, ध्रू खेल या खेलिना लीजियेजी ।। १० ।।

दोहा—

अशा याके बीच में, तुँह तो रहे असंग ॥
जैसे काली कामली, चढ़े न दूजा रंग ॥

(ट) टारिके मूल अज्ञान सोये, फेरि तू ल से कौनसा काज विगड़े ।। जैसे स्वप्न मँझार भये शत्रु अरु यार, खुलै आंख तब मित्र कहाँ शत्रु झगड़े ।। जैसे भीति के शेर से भीति नहिं होत है, नहीं चित्र की आगि से तिमिर निवड़े ।। गुप्त में जगत अरु जगत में गुप्त है, ध्रूजगत के माहिं फेरि कौन खड़े ।। ११ ।

दोहा—

टटा टाटी भरम की, सतगुरु दई उड़ाय ॥
दरसाया निज आतमा, पूरण अचल सुभाय ॥

(ठ) ठीक ठिकाने को पाय के जी, फेरि उलटि अरु पलटि के नहीं आना ।। उस धाम के गाम में हाड़ अरु चाम नाहीं, पैर से गमन कर नहीं जाना ।। घट फूटि के घट आकास जैसे, महा-काश में आगवन गवन भाना ।। एक गुप्त सरूप अनूप वह धाम लखि ध्रुव वाच्य को त्यागि के लक्ष जाना ।। १२ ।।

दोहा—

ठठा ठाकुर जगत में, जा ठाठे निज रूप ॥
लक्ष राखि निज आपको, वाच्य फटकिदियासूप ॥

(ड) डारि के मूल अज्ञान को री, जिस मूल को जानि छीजै ॥ जिस मूल में डार अरु फूल सब ही रहैं, सो सदा अमर है नाहिं कीजै ॥ सोवो आपना आप है आप किसका करै, सोवि कुफर अज्ञान यह राह लीजै ॥ इस गुप्त गम्भियार में जगत नाहीं, गुप्त जानिके मूल धरि कहा कीजै ॥ १३ ॥

दोहा—

कहा सब हर डारिके, निरभय होकर सोय ॥
मूल तूल का मूल निज, छिपा आपको जोय ॥

(ढ) डारि के पास जग चौपडे पे, गुण तीन से आपको जुदा करना ॥ सब जन्म अरु मरन गुण तीन में हैं, तीनों कर्म अरु बन्ध नहीं मोक्ष फुरना ॥ गुण तीन के पास को डार दीजै, अब गेरि चौवार नहीं जन्म मरना ॥ है गुप्त सब ठौर कहाँ जावे दौरि के, अज्ञान अरु ध्यान को कहा करना ॥१४॥

दोहा—

कहा होय पछाय के, कहे भेद दिन रात ॥
गुप्त क्रिया सम्बन्ध से, आतम सदा अजात ॥

(ण) अणु अरु महान् नहीं आतमा में तिस अणु महान् यह भेद गावे ॥ तिस भेद के भेद को समझि प्यारे, तिसे जानि सूक्षम यह सैन लावे ॥ फेरि एक अरु दोय नहीं भया दोरा, नहीं आप अआप को बतलावे ॥ है गुप्त गुलजार कछु पार नाहीं भूलकि कहि आपही नित गावे ॥ १५ ॥

दोहा—

णणां लेन देन न जाममें, खान पान नहिं कोय ॥
फेन तरंग अरु वुदवुदा, भिन्न नहीं कछु तोय ॥

(त) त्यागि के राग को जागि देखो, जामें दोप अरु रोप को लेश नाहीं ॥ सो तुहु आप निरवाण नहीं वाण माया, टुक समझि के देखिये आप ताहीं ॥ और लाख उपाव नहीं पाक होवे, तोमें शुद्ध अशुद्ध नहीं मैल काही ॥ तुही गुप्त परकाश फेरि आस किसकी करै, ध्रुवज्ञान अरु ध्यान नहीं परे छांहीं ॥ १६ ॥

दोहा—

तता तोड़ी जगत से, नाता सभी वहाय ॥
तुही एक भरपूर है, दूजा भाव उठाय ॥

(थ) थाप अथप नहीं आतमा में, कोई जाप अरु ताप का नहीं रासा ॥ पुन्य अरु पाप नहीं साफ असाफ नहीं, नही राग अरु दोप का पड़ा फासा ॥ उल्लू लाख और हजार वेकार कल्पै, नहीं सूर में अन्ध अरु उजियासा ॥ गुप्त निरवयव में अवयव का लेश ना, ध्रू खोजि के देख होवे हुलासा ॥ १७ ॥

दोहा—

थथा थाके उरे में, मन वुद्धि चित हंकार ॥
पैंड़ी पंथ न पग टिके, निराकार आकार ॥

(द) दूरि तें दूरि कह आतमा को, सो तो आपना नूर नहीं दूर नेरा ॥ जैसे उल्लू की आखी के दोष वल से, परकाशता सूर

कहै से अधेरा ॥ जैसे मल विक्षेप अंतर क्या जीव के, सोभास अरु कर्म स्वभाव घेरा ॥ है आप अपार नहीं पार वार जिसे, प्रगुम न विक्ष मर्योद हेरा ॥ १८ ॥

दोहा—

वदा दिक्ष के बीच में, सर्वांगि रहा दरियाव ॥
मन मयाह चक्षावता, चलती बुद्धि नाव ॥

(ध) धारना ध्यान को दूरि कीजै, तुही एक अखंड विराजत है । यम नियम आसन क्यों प्राण खेंचे, करे नेती अरु धोती नहीं लाजता है । आतम नित प्राप्त सम रहित क्रिया निरवयव में कर्म क्यों साजता है । निज शुध में योग का रोग क्या, प्रभु आप असंग क्यों भाजता है ॥ १९ ॥

दोहा—

घधा मन घर में घमा, समझन नाहीं मूढ़ ॥
योग कर्म में ढूंढता, आतम रहे अगूढ़ ॥

(न नाम अरु रूप नहीं आतमा में, फेरि अस्ती अरु भाती को क्या कहिये ॥ इस रमज को समझि समझावते हैं, नाम अंत वह नाम कोई नहीं पाइये ॥ कोई वाच्य अरु लक्ष नहीं पाइ जावें सो तुही लक्ष का लक्ष फेरि क्या चहिये ॥ है गुप्त सरूप सब ठौर व्यापक प्रभु इसके वास्ते कहां जाइये ॥ २० ॥

दोहा—

नना न्यारा नाहिं नहीं, व्यापक ब्रह्म सरूप ॥
जो समझै इस रमज को, नेम परै भव कूप ॥

(प) पायके आपने आपको जी, और पावने योग्य कोई नहीं दूजा ॥ ज्ञान अरु ध्यान फेर कौन का कीजिये, धूप अरु दीप करे कौन पूजा ॥ वह एक अखंड नहीं खंड जामें, जब पिंड ब्रह्मंड मे एक सूझा ॥ गुप्त ज्ञान को पाय मस्तान हुवे, ध्रूजानि यह मर्म सब कर्म छोजा ॥ २१ ॥

दोहा—

पपा पाप न पुन्य है, निज आतम के माहिं ॥
लाभ हानि जामें नहीं, अगम अगोचर ठाहिं ॥

(फ) फेर है आपको भूल माहीं, तिस भूल के मूल का खोज करना ॥ भूल निज आपको शूल बहुते सहे, याते लोक परलोक में गमन करना ॥ करै पुन्य अरु पाप को दु ख सुख भोगता, फेरि गर्भ की अग्नि के माहि जरना ॥ तजे कर्म हंकार उद्धार होवे, जपे गुप्त गोविंद ध्रुव होय तरना । २२ ॥

दोहा—

फफा फारिग होत है, कर्म करै निष्काम ॥
छूटे मल विक्षेप सब, दिल में होय अराम ॥

(ब) ब्रम्हसरूप निज आतमा है, तिस आतमा से नहीं ब्रम्ह न्यारा ॥ मिले नीर अरु क्षीर कोई धीर जाने, हैं एक में एक सब भेद जारा ॥ घटाकाश महाकाश का टूक नाहिं, घटाकाश से नहीं महाकाश भारा वहीं गुप्त प्रगट निज आपना आप है ध्रुव भेद को छेद हल का-न मारा ॥ २३ ॥

दोहा—

ममा बाहर अंतर में, ब्रह्म आतमा एक ॥
जैसे फूटे कांच के, टूक टूक में देख ॥

(म) मर्म के मार को धारियेजी, जिस मार को धार के भय पाया ॥ तीन देह अरु पंच ही कोष ये मार है, माना आपको जि अरु प्राण काया ॥ तुह तो शुद्ध सरूप परकाश सबका करे, इस वहम में भई को क्यों बढ़ाया ॥ गुप्त में मुक्ती अरु अगत का सूत्र नहीं भूपंच का मूल अज्ञान छाया ॥ २४ ॥

दोहा—

ममा मार बलार के, बैठो सतसंग मांहि ॥
पानी पियो विचार का, सर्म रहे कोई नांहि ॥

(म) मान तरु तान के मांहि भूला, नहीं मान अरु तान का लेश कोई ॥ किसी भेष अरु मजहब की रेख जामें नहीं, ऐसा जानि निज रूप है आप सोई ॥ सो तुही सदा अरूप सरूप हेम दरसता, नहीं दरसन हार सरूप होई ॥ ऐसे गुप्त अपार दरियाव मांही, यू भौर के अन्दर नहीं जाय कोई ॥ २५ ॥

दोहा—

ममा माया रूप है, दीले सुनिये सोय ॥
तुह सदा न्यारा रहे, स्वस्वरूप नहिं होय ॥

(म) मार बाही दिलदार मेरा, जो सार असार बतलावता है ॥ इस दृश्य असार को दूरि करके निज आप रूप बतलावता है ॥

सब जन्म अरु कर्म गुण दोष जेते, इन से रहित निज रूप लखावता है। ध्रुव ज्ञान अरु ध्यान की युक्ति सबही कहे, छूटा चाम गुप्त गांम बसावता है ॥ २६ ॥

दोहा—

यथा यार लखावते, निज आतम का धाम ॥
छोड़ि चाम के राग को, करो धाम विसराम ॥

(र) रमा सब ठौर में सर्व सोई, तिस सर्व से नहीं जड़ वर्ग न्यारा ॥ वैसे दूध में घृत अरु तिलों में तेल है, जल पिंड से नहीं कछु जुदा खारा ॥ रक अरु राव फकीर मीर में, ऊँच अरु नीच में एक सारा ॥ गुप्त प्रगट में ध्रु अरु अचल में, नहिं आप से मिला कोई जुदा पारा ॥ २७ ॥

दोहा—

ररा रंग लागे नहीं। रहता सदा असंग ॥
सब विकार से रहित है, उत्पति पालन भंग ॥

(ल) लक्ष अलक्ष कोई दक्ष जाने, निज आपने माहिं नहिं पावता है ॥ स्थान अरु पान नित ध्यान धरता, नहिं सोवता जागता धावता है ॥ कोई जीव अरु ईश अज्ञान नाहीं, जब ज्ञान शमशेर हलावता है ॥ ऐसा गुप्त निज आप नहीं माप अमाप ध्रुव जाप अजाप नहिं पावता है ॥ २८ ॥

दोहा—

लला लाख किरोड़ की, पल में होवे राख ॥
निज आतम अज्ञान तें, करै झूट परलाप ॥

(च) कहा है तुही दूजा सही कीजे, जैसे स्वप्न के माहिं नहिं और पूजा ॥ स्वप्न के देव की सेव बहु करते हैं, मुझसे अधिक अब देव और नहीं सूझा ॥ वैसे आप में पुन्य अरु पाप को कल्पिकर बना देव का दास करे सेव पूजा ॥ उस गुप्त गलियार में देव पूजा नहीं ध्रुव एक आप है कोई नाहिं दूजा ॥ २९ ॥

दोहा—

न था कोई नो धन्य है, देव करसे निज आप ॥
देवदास झगड़ा चुका, तब मिटा भेद का पाप ॥

(छ) स्वप्न समान जहान सारा, नाना रंग अरूप होय भासता है ॥ कहीं चतुर सुख होके रचे जगत् को, कहिं पालक संहार कर नाशता है ॥ निज गुप्त सरूप अनूप माहीं, ध्रुव आपही रूप प्रकाशता है ३० ॥

दोहा—

यथा सकल शरीर में, करै आप परकाश ॥
ब्रह्मरूप कूटस्थ तुम, नहीं जीव आभास ॥

(ज) ज्ञान अरु ध्यान के बीच माहीं, पड़ा सोवता आपको नाहिं जाने ॥ वाच्य अरु लक्ष्य की खबर नाहीं, तिस वाच्य के धर्म को आप माने । वाच्य अरु वाचक का धर्म दोनों नहीं, लक्ष्य तुरा भास क्या-ना पिछाने ॥ सो गुप्त चेतन है सार सूरों, असार जान दर पुरुष मर्म भान ॥ ३१ ॥

दोहा—

षषा खाली मत रहो, भरो ब्रह्म निज खेप ॥
करि भक्ती कर्मानष्काम हो, तबछूटे मलविक्षेप ॥

(स) सेर का साजकर स्याल क्यों होत है, उस काल का गाज पडि रहा भारी ॥ जँह स्याल का भाव तहँ काल का दाव है, मुख मारि चपेट बड़ी करै ख्वारी ॥ बल आपना हेर तुह शेर है केसरी, काल पींजरा तोडि करि मोक्ष त्यारी ॥ गुप्त आतमा ब्रह्म सरूप जानो, ध्रु जानि के काल शिर थाप मारी ॥ ३२ ॥

दोहा—

ममा साँईं आप तुह, बनि रहा भूलमें जीव ॥
जब गुरु वेद बल पायके, समझ आपको सीव ॥

(ह) हेरिया आप तब ताप त्रय साफ होय, न्हाय ज्ञान के नीर अज्ञान धोया ॥ लोक अरु वेद ये मैल, माया छुटा, निज शुद्ध सरूप मन तार पोया तिस तार से सारका सार जान्या, निज सार को पाय असार खोया ॥ गुप्त से गुप्त अरु जगत सारा बसे, ध्रुआप में आप सुख संग सोया ॥ ३३ ॥

दोहा—

हहा हेय न ग्रहण है, नाकोइ काज अकाज ॥
लोक वेद अरु भेद नहीं, नाकोई लाज अलाज ॥

(क्ष) क्षोभ अरु लोभ अलोभ सारे, मृग नीर ज्यों धीर को भासता है ॥ मन रूप तो आपना आपहिं है ... ... भर्म

(व) यहां है सुखी दुख सही कीजै, जैस स्वप्न के मांहि नहीं और दूजा ॥ स्वप्न के देव की सेव बहु करते हैं, सुझे आंखि जब देव और नहीं सूझा ॥ वैसे आप में पुन्य अरु पाप को कल्पिकर बना देव का दास करे सब पूजा ॥ सब गुप्त गभिमार में देव पूजा नहीं सुख एक आप है काई नाहिं सूझा ॥ २९ ॥

दोहा—

य था बाही को मन्य है, देव सले निज आप ॥
देवदास झगड़ा चुका, तब मिटा भेद का पाप ॥

(श) स्वप्न समान जहान सारा, नाना रंग अरूप होय भासता है ॥ कहीं चतुर सुख होके रचे जगत् को कहिं पालि संहार कर शासता है ॥ निज गुप्त सरूप अनूप मांहीं, सुख आपही रूप समासता है ॥ ३० ॥

दोहा—

यथा सकल शरीर में, करै आप परकाश ॥
ब्रह्मरूप कूटस्थ सुख, नहीं जीव आभास ॥

(ष) खान अरु पान के बीच मांहीं, पद्म लोचता आपको मांहि जाने ॥ वाच्य अरु लक्ष की खबर मांहीं, तिस वाच्य के धर्म को आप माने । वाच्य अरु वाचक का धर्म दोनों नहीं, लक्ष्य सुदा मान क्या मा पिछाने ॥ सा गुप्त चेतन है सार तूहीं, असार सब देह धुरु मम मान ॥ ३१ ॥

सोरठा—

कका वर्ण बत्तीस, चाल मेहरकी बैतकी ॥
लिखे छन्द छत्तीस, पिखो सजन अति प्रीतियुत ॥

१६२ ग़ज़ल (हक़ीकी)

छोड सब मिलन की आसा, कहां पर मिलोगे जाई ॥ मिलन को काई नहीं दूजा, बात यह समझले भाई ॥ टेक ॥ मिलन सब द्वैत माहीं है, वहां पर द्वैत नहीं राई ॥ हमीं नहिं कहत हैं प्यारे, बात यह वेद ने गाई ॥१॥ तुमे यह भर्म कर भासी, जो चित में है चपलताई ॥ क्रिय शक्ती नहीं जिसमे, ज्ञानशक्ती ही बतलाई ॥२ करो टुक विचार बल का जोर, न पावे ठुंठ माहीं चोर ॥ समझ तुझ से नहीं कछु और, तेरा यह भर्म दुखदाई ॥३॥ छोड़ सब भर्म का आजार, तेरा है रूप अपरपार ॥ समझले गुप्त की ये यार, तुमे ये सैन बतलाई ॥ ४ ॥

१६३ ग़ज़ल

स्वर्ग पाताल अन्तर में, यह कुछ आपहि निहारा है ॥ अर्ध औऊर्ध दश हूं दिशि, यह कुल मेरा पसारा है । टेक। मैं ही दो दोन में रहता, न मुझ से कुछ नियारा है ॥ मैं ही सब ठौर में व्यापक, नहीं कुछ वार पारा है ॥१॥ मैं ही रचता हूँ कुल ब्रह्मांड, मैं ही करता हूँ संहारा ॥ मिल्या ज्यों दूध माहीं घी, सभी वह एक सारा है । २॥ रच्या यह ख्याल मुझही को, सभी मेरे अधारा

उजासता है ॥ जाने मर्म को मर्म जब मर्म नहीं होव है, सब आपना आप दुबासता है ॥ गुप्त है भू अरु भू ही गुप्त है,प्रगटत होय आप निवासता है ॥ १४ ॥

दोहा—

घ्यथा छाया जगत में, व्यापक ब्रह्म सरूप ॥
उपमा दीजे कौनकी, जहं नहीं रंक नहिं भूप ॥

(त्र) तीनों ही ताप को साफ कीना गुरु ज्ञान कुनैन जब घोरि प्याई ॥ थान्यो अचल निहताप फिर जाप किसका करे, सजीवनी मूरि जब घोटि खाई ॥ हर हाल में मस्त हर ख्याल में मस्त, हर चाल में मस्त एक मस्ती छाई ॥ है गुप्त निर्बंध नहीं मोक्ष सम्बन्ध कोई भू ज्ञान अरु ध्यान की हाट ढाई ॥ १५ ॥

दोहा—

घथा तीनों काल नहिं, नाहीं तीनों ताप ॥
तीन देह नहिं अवस्था, नहिं तीन जीव का पाप ॥

(ज्ञ) ज्ञान का ज्ञान अरु ध्यान का ध्यान है, जान जान जहान सारा ॥ जीव का जीव है सीव का सीव है, ब्रह्म का ब्रह्म कछु नाहिं न्यारा ॥ आपना आप है पुन्य नहिं पाप है, जाप अजाप नहीं मधुर खारा ॥ गुप्त से गुप्त प्रगट से प्रगट, भुव स भुव चलन अपारा ॥ १६ ॥

दोहा—

ज्ञाता ज्ञान सरूप तें नाहीं रूप अरूप ॥
सो तो अपना आप है, किसकी दीजे रूप ॥

सोरठा—
जिन जान्या निज रुप, पार हुये भव सिंध से ॥
व्यापक ब्रह्म सरुप, छुटि गये यम फंद से ॥

१६५ ग़ज़ल

नहीं तकदीर के आगे, कोई तदबीर चलती है। करो चहे लाख चतुराई एक दिन मौत मिलती है ॥ टेक ॥ हुये बड़े सिद्ध अरु स्याने, काल वह दोनो की जाने। चोट लावे थे निशाने, मौत तिनको भी गलती है ॥ १ ॥ वैद धन्वंतरी होई, नहीं जड़ रोग की खोई। कर्म भुगते है सब कोई, ईश नीतो न हिलती है ॥ २ ॥ हुये हैं जगत मे औतार, दुःख तिनको सहे अपार। और टारे कौन नर नारि, कर्म की बेलि फलती है ॥ ३ ॥ जिनों को काल वशि कीना, कैद अपनी मे कर लीना। धोखा तिन को भी दे दीना, वक्त पर पड़ी गलती है । ४ ॥ हुये बाली बली मुक्ते, कि बल वह चौगुना रखते किये हैं काल ने तुकते, अग्नि चहुँ ओर जलती है ॥ ५ ॥ योग को युक्ति को जाने, समाधी काल बहु ठाने, पड़े हैं काल के पाने, पकोड़ा तेल तलती है ॥ ६ । शीश पर पृथ्वी धरते, उत्पत्ती पाल संहरते । अन्त में वे भी सबी मरते, और की कहा पिलती है ॥७॥ गुप्त आतम है अविनाशी, पड़े नहिं काल की फाँसी। काल तीनों में परकाशी, खिलावट तिस से खिलती है ॥८।

१६६ ग़ज़ल

लग्या किस ख्याल में खेले, तुझे क्या मस्ती छाई है। काल

है ॥ भरम में भूल मत प्यारे,समो झूठा पसारा है ॥३॥ मैं ही हैं सत् चित आनन्द रूप, यह कुछ मालूम भी भारा है ॥ गुप्त मम रूप में देखे, रज्जू से न सर्प न्यारा है ॥४॥

१६४ गजल

बिना निज रूप के जाने नहीं आराम भारी है ॥ मननकर आप को जानो, तभी छूटे बिमारी है । टेक॥ आपको मानता करता इसी से दुःख को धरता ॥ तभी फिर जन्मता मरता, भरम का फेर भारी है ॥१। सोचकर आप को जाने, पड़े फेर कैद न जान॥ छाया है अपो को जाने,भोगता बहुत ख्वारी है॥२॥ बड़या अज्ञान का आधार, घण्या भ्रम देह का सिर भार ॥ धाम में फँसि हुया खमार, चाह घर में चमारी है ॥३॥ लेवें सतसंगती की आर, खोजे किमी मुर्शिद की पोर ॥ तभी सब दूर होवे खोट, रेख कर्मों की मारी है ॥४॥ हरी की मक्ती को धारे, मीच से ठेप कर डारे ॥ पाप सब जन्म के जारे, होय हुरा ब्रह्मचारी है । ५॥ सुन सत् गुरु के मुख स ज्ञान रात दिन करे तिसी का ध्यान ॥ तभी छूटे सभी मद मान, अविद्या टौंक ढारी है ॥६॥ बजे जब ज्ञान के बाजे भ्रम अरु काम सब भाजे ॥ सोच संतोष आगाज, ज्ञान की महिमा न्यारी है ॥७॥ मारी गुरु ज्ञान की गुप्ती, पड़ी है हाथ पर मुक्ती ॥ रही नहीं जमम की शक्ती, तभी सोना सुखारी है ॥ ८ ॥

सोरठा—

जिन जान्या निज रुप, पार हुये भव सिंध से ॥
व्यापक ब्रह्म सरुप, छुटि गये यम फंद से ॥

१६५ ग़ज़ल

नहीं तकदीर के आगे, कोई तदबीर चलती है। करो चहे लाख चतुराई एक दिन मौत मिलती है ॥ टेक ॥ हुये बड़े सिद्ध अरु स्याने, काल वह दोनों को जाने। चोट लावे थे निशाने, मौत तिनको भी गलती है ॥ १ ॥ वैद धन्वंतरी होई, नही जड़ रोग की खोई। कर्म भुगते है सब कोई, ईश नीतो न हिलती है ॥ २ ॥ हुये हैं जगत में औतार, दु:ख तिनको सहे अपार। और टारे कौन नर नारि, कर्म की बेलि फलती है ॥ ३ ॥ जिनों को काल वशि कीना, कैद अपनो में कर लीना। धोखा तिन को भो दे दीना, वक्त पर पड़ी गलती है। ४ ॥ हुये बाली बली मुक्ते, कि बल वह चौगुना रखते किये हैं काल ने नुकते, अग्नि चहुँ ओर जलती है ॥ ५ ॥ योग को युक्ति को जाने, समाधी काल वह ठाने, पड़े हैं काल के पाने, पकोड़ा तेल तलती है ॥ ६। शीश पर पृथ्वी धरते, उतपत्ती पाल संहरते। अन्त मे वे भी सवी मरते, और की कहा पिलती है ॥७। गुप्त आतम है अविनाशी, पडे नहिं काल की फाँसी। काल तीनों में परकाशी, खिलावट तिस से खिलती है ॥८।

१६६ ग़ज़ल

लग्या किस ख्याल में खेले, तुझे क्या मस्ती छाई है। काल

का छुटि गया गोला, तोप तेरे सिर पे आई है ॥ टेक ॥ करे कस्पास्त का अभिमान, सुबह वा शाम का अभिमान । तेरा तो क्या है अपमान, वहाँ पर घात आई है ॥ १ ॥ बचे नहिं रानी और राजा, सभी है काल का खाजा । बजे त्रिलोक में बाजा, फिरी तिस की दुहाई ॥ २ ॥ लोक अरु लोकों के पाली, करत है सबहि को खाली । संग में रहती है काली, करे सब की सफाई है ॥३॥ खेल की बाजी जिन लाई, जगत चौपर को बिछवाई तिसा है पार परवाई पासा अहर्निशि बनाई है ॥४॥ चार खानो सभी गोटा तिनों पर मारते चोटा । बचत नहिं छोटा अरु मोटा, चलनी सब की बनाई है ॥ ५ ॥ काल से वही बचता है, रूप अपने में जँचता है । नहीं उसे काल का भय, अविद्या जो बहाई है ॥६॥ किया कर्मों का तिन ने चूर, लखता है आप को भरपूर । बरसता जिन के मुख पर नूर सुफल तिनको कमाई है ॥ ७ ॥ काल परपट को खाता है, गुप्त ढूंढा न पाता है, वेद सूक्ष्म बताता है, सैन गुरु को लखाई है ॥८॥

१६७ भजन

गती है कर्म की टेढ़ी बिना भोग न भगती है । चलत और काम नहीं देती, पलक पर आय लगती है ॥ टेक ॥ धर्म नीति को पहचाने, भविष्यत् काल की जान । पकड़ि के तिनको भी ताने, सभी के पीछे लगती है ॥ १ ॥ हुये नल, राम से आदि, युधिष्ठिर

धर्म के वादी । करैं क्या तिलक अरु गांधी, तिनों की क्याहि शक्ती है ॥२॥ भावी को जानते भीषम, अकल जिनकी नहीं कुछ कम । पड़ा है तिनको आके गम, सदा ज्यों व्याघ्र तकती है ॥३॥ गुप्त आत्मा रहे निरबन्ध, नहीं कोई कर्म का है फंद ॥ सदा वह रहता है आनन्द, भर्म से पड़ी गलती है ॥४॥

सोरठा—

जिनको कहें अवतार, भार उतारे जगत का ।
तिन पर भी पड़ी मार, और किसी की क्या चले ॥
चचा न तिस तें कोय, होनहार बलवान है ।
निज पद सूर्त समोय, जिस करके कारज सरे ॥

१६८ ग़ज़ल

दशहरा देखलो दिल में, नेम के नेवरते करके । शील संतोष को धारो, काम अरु क्रोध परिहर के ॥ टेक ॥ जगत से नाता सब तोड़ो चढ़ो अब ज्ञान के घोड़े । निशाना नेम का जोड़ो, लगा हरि हाथ पे धरिके । १॥ सभी शुभगुन के ले हथियार, करो अब दुश्मनों पै वार । लगावो एक हरि से तार, लड़ो इस मोरचे झरिके ॥२॥ जूझते सूरमे रणमें, मरन का शोच नहीं मन में । नहीं अभिमान है तन में, हटे संग्राम ते मरिके ॥३॥ शूर क्षत्री वही जग में, चलत है वेद के मग में । आस नहीं करत है सगमें, वही दिखलाता है तिरके ॥६ । छुट्या है ज्ञान का गोला,

बजा अज्ञान का ढोला ॥ किया दुश्मन का सिर पेश, मारया तोप भरभर के ॥५॥ गुप्त नहीं धम ज्ञानी के कहे हैं गीता में नीके । कायरों को क्यों फीके, भागते रणसे हारि हरिके । ६॥

१६९ गजल

मुझे जग ढूंढ लिया सारा, आज घट माहिं पाया है । फिरा बन परबतों माहीं, पता नहीं जिसका पाया है ॥टेक॥ मिले जब सत् गुरु पूरे, अलख का भेद आया है । गिरह को खोलकर परखा, तभी आनन्द आया है ॥१॥ भये धनवान तब ही से, जभी यह माल पाया है ॥ दरिद्र दुःख सब नासे, कंगालों को भगाया है ॥२॥ निरखि तिस लाल की छबि को, न दूजा और पाया है ॥ और सबही भगे मकसी, मस्ती घट में ठहराया है ॥३॥ जिस हम जानते थे दूर, सो पाया सबहि में भरपूर ॥ करें अब मौज अपनी में, गुप्त ने ऐसे गाया है ॥४।

१७० गजल

तजो भय ज्ञान चतुराई, अमर हम आतम की नाई ॥ आव अरु जाव न भाई, झूंठ इसमें नहीं राई ॥ टेक ॥ यह नहीं यह नहीं ताई सत्य वाले परेसोई । आपना रूप है वोही, मूंड इसमें नहीं पाई॥१॥ जिसमें नहिं साध्य और साधन, नहीं कोई बाद औ बादन ॥ नहीं कोइ राध औ राधन, कल्पणा वृत्ति ठहराई ॥ ॥ करत्या कल आप अविनाशी, अभी सब काल का फांसी । जगत बराक करो हाँसी,

घृत्ति जब उलटि कर लाई ॥३॥ कोटि परकाश सूरज चन्द, जहां पर आप गुप्तानन्द ॥ देखि छवि भये हैं आनन्द, जहां कोई आवे ना जाई ॥४॥

१७१ ग़ज़ल

भक्तजन जगत मे आये, धर्म संतोष धारा है। खड्ग जिन भक्ति का लीना, काम औ क्रोध मारा है ॥टेक॥ काटि दई आसा औ तृष्णा, लोभ का मूल फाड़ा है ॥ निरभय हो रहते हैं जगमे, सभी डर दूर डारा है ॥१॥ वनज है भक्ति का जिनके, और कोइ नहीं बेपारा है ॥ आस सब लोक की त्यागी, एक प्रभु का सहारा है ॥२॥ उठते बैठते यक राम, रहा नहीं और से कोई काम। मस्त रहते हैं आठो याम, सदा सुखरूप धारा है ॥३॥ लगा है एक हरि से तार, है झूठा समझते घरबार ॥ ध्रू निश्चय भया जिनका, हमसे कछु नाहिं न्यारा है ॥ ४ ॥

१७२ ग़ज़ल

नहीं किसी भेषके योगी, नहीं कोई पंथ धारा है। तोड़ दिया जगत् से नाता न ह्या पर कुछ हमारा है ॥ टेक ॥ पंथ से पंथ अलहिदा, पड़ा है भेषों में बेदा। हमी यह देखकर सौदा, पंथ अपना सिधारा है ॥१॥ टूटी सब मजब की फांसी, न बसते मथुरा औकाशी। हमी उस धाम के बासी अन्ध नाहीं उजारा है ॥२॥ न कोई वर्ण है म्हारा, हमें सब आश्रम जारा। छुटी जब ज्ञान की

मारा, यहाँ सब भेद मारा है ॥३॥ गुप्तधन पाया है सब से, इसी आनन्द हैं सबसे । मित्र का भाव है सबसे, वहीं विधि में समाया है॥४

१७३ गजल

सुखी जिन वासना मन को वही अवधूत जग माहीं ॥ मस्त हैं मौज अपनी में, विधी निषेध कछु नाहीं ॥ टेक ॥ कटा सब मोह का फंदा, आत्मा सब आपके माहीं । आस में कोई नहीं बंधा, वृत्ति सब लीन हो जाई ॥१॥ कटी सब आस की फाँसी, लखा सब आप अविनाशी । नहीं कोई दास अरु दासी, नहीं धन माल मसुवाई ॥२॥ बसे निज रूप में जाई, समाय ब्रह्मन सब जाई । जिन्हें राजा नहीं राई, वहीं सो आवे ना जाई ॥३॥ सत्य जिनके लक्षण ऐसा न रखते कोई भी पैसा । गुप्त धन पाया है ऐसा, अमोलधन सर्वे अरु माई ॥४॥

१७४ गजल

सोते हैं फकीर जग माहीं, फिकिर जिन मूल से खोया ॥ उलट कर सर्व से वृत्ति, आपने आपको जोया ॥टेक॥ के करके सदा ही ध्यान योगा अज्ञान-मल धोया । नहीं कोई साक अरु शाखा, सभी डर डार के सोया ॥१॥ के करके कष्ट दई आसा उपजा निर्वेद जो खासा । किसी है मठ में वासा, होन्य सो जानि कर होया ॥२॥ र करके [illegible] को मारा, काम औ क्रोध सब मारा ॥ मूल सब जगत का मारा, जीव का ब्रह्म में पाया ॥३॥

विधि निषेध नहीं जिनमें, विचरते मौज अपनी मे । ध्रुव पाया गुप्त तन में, मैल अज्ञान सब धोया ॥४॥

१७५ ग़ज़ल

मिलो दिलदार से प्यारे, जहाँ उल्फत हो रहने मे ॥टेक॥ तजो सब जगत की यारी, करो स्वय सरूप की त्यारी । नहीं तो होयगी ख्वारी, विधोगे तीर पैने मे ॥१॥ जिनों को कहते हैं मेरा, तिनों में कोइ नहीं तेरा । होगया जंगल मे डेरा, समझ टुक अपने जेहन में ॥२॥ समझ टुक आप अपने को, तजो सब जगत सपने को । लगो यह जाप जपने को, आजा टुक मेरे कहने में ॥३॥ सजन परिवार सुत दारा, उसी वे रोज हो न्यारा ॥ वजे शिर काल नक्कारा, देख टुक मन के अयने में ॥४॥ न कीजे राज की मस्ती, कि शिर पर मौत जो हंसती । छुटे सब घोड़ा अरु हस्ती, वैठ चल काठ म्याने में ॥ ५ ॥ पलक में छूटि जा डेरा,हुक्म कोई माने न तेरा । हो जाना गुप्त का चेरा, यही किस्ती तिराने में॥६॥

१७६ ग़ज़ल

जरा टुक खोज तन मन को, तुही है आप अविनाशी ॥टेक॥ जिसे तू जानता है दूर, सोई है सकल मे भरपूर । समझ टुक वही तेरा नूर, करे है किसकी तल्लाशी ॥१॥ बसी हड चाम की नगरी, सोई जड़ जान तू सगरी । पटक दे भरम की पगड़ी, तुही है सब का परकाशी ॥२॥ तुही है राम औ कृष्णु, तुही है ब्रह्मा औ

परकाशा, छिपगये इंद्रिगण तारे ॥१॥ छिपे शिशुमार पंचोप्राण, छुट्या सब देह का अभिमान ॥ भई है तस्करोंकी हान, काम औ क्रोध सब मारा ॥२॥ करते हैं भेद का नित गान, सोई उल्लू को निशि मे जान ॥ न होवे रात माया हान, धरा शिर भेद का भारा ॥३॥ अंधेरी रात्री मंझार, जगावे वेद चौकीदार ॥ समझले गुप्त की यह यार, सोवे फिर चौकी रखवारा ॥४॥

१७९ ग़ज़ल

दिवाली देखलो दिल मे, कि दीपक ज्ञान का वालो ॥ मिटा कर आश औ तृष्णा, काम अरु क्रोध को जालो ॥टेक॥ मैल विक्षेप सब धोवो, सफाई महल की कीजै ॥ गलती इसमें नहीं दीजे, मैल सब महल का गालो ॥१॥ करो अन्त करण दीपक, प्रीति के तेल को भरना ॥ बत्ती अब गेरो निष्कर्मा, होय मन्दिर में उजियालो ॥२॥ करुणा मैत्री मुदिता, करें मान्दर में शुभ गाना ॥ मिटे सब आना और जाना, शील सन्तोष को पालो ॥ ३ ॥ इसी काया दिवाली में, गुप्त यक गोर्वन पूजा ॥ मिटा के भाव सब दूजा, तिमिर अज्ञान को टालो ॥४॥

१८० ग़ज़ल

जगत् से तोड़ दी यारी, लग्या दिलवर में दिल जिनका ॥ कान देकर सुनों प्यारे, कहत हूँ हाल सब तिनका ॥ टेक ॥ जैसे आशिक हुये मजनू, इश्क़ लैली से लाया है ॥ तभी लैली को पाया

है, फिकिर नहीं कोन गजन का ॥१॥ इसक अब मनसूर इकानी, बात सब लोक में जानी ॥ पिता की सिसन नहीं मानी, किया हट आपने मनका ॥२॥ मुसीबत को सहा भारी, टेक नहीं आपनी टारी ॥ असुर ने सकङ्ग की मारी, कटा नहीं रोम यक तनका ॥३॥ मास का वचन सुन मनमें, लगी प्रजाल क तन में ॥ राज तजकर चले बन में, मजा तिसको मिला बन का ॥४॥ इसक मंसूर ने किया, अनलहक माहीं मन दीया ॥ शीस सूली पर धर दिया, सुधर गया काम सब उनका ॥५॥ फरीदा कूप में लटक्या, मांस सब कागिलों झटक्या ॥ एसी दिलदार में अटक्या, ध्यान जिसे ठया दरसन का ॥६॥ हुये इक शाह सुलतानी, तजी थी बलख रजधानी ॥ पिया जिन इसक का पानी, नशा सब तज दिया धनका ॥७॥ दिल लगा धाम धन भरु बाम। चाहे फिर मुक्ति ही को धाम ॥ गुप्त सुमिरे नहीं निष्काम, बना है दास सब जनका ॥८॥

१८१ गजल

फैलाया जाल माया ने, कोई समझे शिकारी है ॥ जैसे बाजार के माहीं गैब बाजी पसारी है ॥ टेक ॥ कोई धन धाम में भूले, कोई बकजोर में फूले ॥ कोई मध काम में मूले, कहीं सुत भ्रात नारी है ॥१॥ कोइ तो कर्म के साजी, कोई है भक्ति में राजी ॥ कोइ पंडित कोइ काजी करै उपदेस भारी है ॥२॥ कोई तो निगम आगम में, कोई तो सदग्र त्यागन में । कोइ दिन रात जागन में, किसी की

धूनी जारी है ॥३॥ कोई तप दान को करते, कोई तो मौज में चरते ॥ कोई काशी में जा मरते, धारना ऐसी धारी है ॥४॥ कोई निर्गुण में अटके हैं, कोई सद्गुण में लटके हैं ॥ कोई दोनों से सटके हैं, तमाशा खेल जारी है ॥५॥ कथै कोई ज्ञान को दिन रात, करहिं वेदान्त की बहु बात । ध्यान करैं सन्ध्या औ परभात, नैनन से नीर जारी है ॥६॥ कहूं कब तक यह भूंठा ख्याल, कोई गाते हैं दे दे ताल ॥ कोई कपड़े को रंगते लाल, कोई तो ब्रह्मचारी है ॥७॥ गुप्त पाया नहीं खोया, कभी जागा नहीं सोया । नहीं हँसता नहीं रोया, नहीं हलका न भारी है ॥८॥

१८२ होली

होली रंग महल में होती, कहा नींद भरम की सोती ॥टेक॥ या होली का खेल अजब है, देखत मनको मोहती ॥ कोई कोई खेलत सुघर सयाने, मूल अविद्या खोती ॥ चमक रही आतम जोती ॥१॥ इस होली की रंगत न्यारी, पाप जनम के धोती ॥ मूरख को पंडित करै छिन में, पतरा पढ़ना न पोथी ॥ नहीं पाती नहिं खोती ॥२॥ बारों मास बसन्त रहत है, छ ऋतु होली होती ॥ ताकी महिमा वेद करत है, कहि समझावत नेती ॥ झलक रहा आतम मोती ॥३॥ इस होली को जो नर खेलत फगुवा उसको देती ॥ गुप्त ज्ञान की होली मची है, और सब होली थोथी ॥ करत कहा नेती अरु धोती ॥४॥

१८३ होली

लखि आतम रूप अपारा, होली खेलि हुए बहु पारा ॥टेक॥ याज्ञवल्क्य जनकादिक खेले, छाया नहीं लगारा ॥ ज्यों जल कमल रहे जग मांहीं, छांट कभ्या नहीं गारा ॥ सभी कामादिक जारा ॥१॥ वामदेव शुकदेव खेलारी, वचन पिता का टारा ॥ धार वैराग जगत से न्यारे, लेकर ज्ञान सहारा ॥ और हुवे अनन्त हजारा ॥२॥ इस होली का यही महातम, जो खेला सो तारा ॥ ऊँच अरु नीच धनी अरु कंगाल, इसका गिनती न भारा ॥ पार हुवे भव की धारा ॥३॥ शुभ बाग में होली मची है, नाना रंग पसारा ॥ विवेक वैराग की केसर घोरी, फूली ज्ञान फुलवारा ॥ मोक्ष फल फूल हजारा ॥४॥

१८४ होली

खेले कृष्ण–आतमा होरी, बनिता करि रही बरजोरी ॥टेक॥ शमादिक अरु माया–तृष्णा ऐसी केसर भारी ॥ भरि पिचकारी विषयन को मारी, बुधि भई है भोरी ॥ ज्ञान सुख सुरखो घोरी ॥१॥ कृष्ण–आत्मा गहिकर पकरो, दे व नचावे हैं छोरी ॥ काम का कज्जल नैन बिच घाल्या, चुनरी चाह पहारी ॥ मोह की नाथ नकोरी ॥२॥ तुम ठगनी मैं बारा भोरा नित उठ मोहि ठगोरी ॥ पुरुषोत्तम–पीताम्बर चोरा, अब जानी सब चोरी ॥ मारि समता करि कोरी ॥३॥ तुम गली में पकरूँ तुमको क्या फिरती हो

दौरी ॥ तत्वरूप माखन को खाऊँ, मान मटकिया ढोरी ॥ तोरूं नथ दुलरी तोरी ॥४॥

१८५ होली

होली ब्रह्मादिक को रा वी, और सब होली काची ॥ टेक ॥ चार वेद का मण्डप रोपा, बात कही जिन सांची ॥ पुरुष प्रकृती खेलन आये, उठि परकिरती नाची ॥ पुरुष सब रचना जाची ॥१॥ महत्तत्व अरु हंकार मात्रा, सातों की ढोलक खाँची ॥ पंचभूत दस इन्द्री मन ले, तान लगाई आछी ॥ तिनों के संग में राती ॥२॥ पुरुष असंग देखन लागा, ताकी बुद्धि खाची ॥ देख तमाशा आप को भूला, मानत है कुल जाती ॥ ऐसो यह होली माची ॥३॥ बुद्धि का धर्म आपमे मानत, यों भुगते चौरासी ॥ गुप्तरूप परगट जब होवे, अन्धकार उड़िजासी ॥ भानु जैसे ऊगे पराची ॥४॥

१८६ होली

जब रंग पचमी होवे, पांचो नारी रंग में भिगोवे ॥ टेक ॥ सत संगति में रंगति लागी, तामे पकड़ि डुबोवे ॥ मन रसिया को खूब रिझावे, पाप जन्म के खोवे ॥ दाग सब दिलके धोवे ॥१॥ कर सिंगार वैराग ज्ञानका, तत् की ताल समोवे ॥ साधन सबहि बजावत बाजे, मूल आपना जोवे ॥ फेर निर्भय होइ सोवे ॥ २ ॥ 'अहं-ब्रह्म' यह भरि पिचकारी राग अखंडित होवे ॥ आप में बखिया सोई है रसिया, ऋतु बसन्त में सोहे ॥ तार निज अन्तर

पोवे ॥३॥ विधि निषेध की भूमि चढ़ाके, पुन्य पाप नहिं जोवे ॥ गुप्त गली में होली खेलत, होना हो सोइ होय ॥ भई परिछिन्न बिगोवे ॥४॥

१८७ होली

मन रसिया ने होली मचाई ॥ ऐसी रचना अजब रचाई ॥टेक॥ दृष्टा दर्शन दृश्य रचे जिन चेतन, सत्ता पाई ॥ देश काल रची सब वस्तू, जीव रु ईश बनाई ॥ अविद्या माया छाई ॥१॥ नाना विधि के कर्म बनाये, पुन्य रु पाप पसारा ॥ जिनके फल सुख दुख दो कीना, स्वर्ग नर्क भुगताई ॥ ऐसो यह गोपि चलाई ॥२॥ ज्ञान ध्यान अष्टांग योग अरु, साधन साध्य सिखाई ॥ त्याग वैराग देव अरु पूजा ॥ कर्मकी कालुष आइ फिरी है काम दुहाई ॥३॥ जो कछु रूपा किया सब मनका, आतम में नहिं कांई ॥ दृष्टा दृश्य कभी नहिं होवा ॥ गुप्त ज्ञान लखि भाई ॥ सत्य यह वेदों ने गाई ॥४॥

१८८ होली

अब बसन्त पंचमी आई यामें खेलो रंग चढ़ाई ॥ टेक ॥ पंच भूतकी रचना रचि यह, मानस देह बनाई ॥ यास समान और नहिं देखा, देवन के मन भाई ॥ करो यामें सुभग कमाई ॥१॥ अन्तःकरन का मैल कपड़ा, याकी करो सफाई ॥ नीर निरन्तर भगति मसाला साधन सिद्ध बनाई ॥ मैल सब धोय बहाई ॥२॥ सतगुरु रंगिया से रंग चढ़ावो पूरो पक्के रंगाई ॥ श्रद्धा की डग में ज्ञान रंग

भरिया, जामे देह डुबाई ॥ चढे कुञ्ज जब रोशनाई ॥३॥ गुप्त गली में फाग मचावो, करिके निरमेताई ॥ फागुन के दिन सुख से बीते, होली अविद्या जलाई ॥ भर्म की धूलि उड़ाई ॥४॥

१८९ होली

ऋतु आई बसन्त सुहानो, जामे फाग खेलते ज्ञानी ॥ टेक ॥ जीवन मुक्ति बजावत बाजे राग गावें ब्रह्मानी ॥ वृत्ति व्याप्ती ताल लगावे नूर-ध्वजा फहरानी ॥ छूटे दुख चारों खानी ॥१॥ आप रूप के रंग में राते, लाभ रहा नहिं हानी ॥ नाचत नाच कर्म अनुसारो, फगुवा मिला निर्वानी ॥ छूटी सब खेंचा तानी ॥२॥ सोरसि या आनन्द में बसिया, जिन यह, होली जानी ॥ काल नगारे के सिर मे डंका, जग की धूल उड़ानी ॥ ज्ञान पिचकारी तानी ॥३॥ गुप्तरू परघट खेल करत हैं, जिनकी अकथ कहानी ॥ लोक वेदका भय नहिं मानत, मूल अविद्या भानी ॥ नहीं कोई ताहि समानी ॥४॥

१९० होली

होली जलगई अविद्या सारी ॥ राखे निज भक्त मुरारी । टेक॥ भक्तों के काज साज बहु साजे, तिन को लेत उभारी ॥ यहो टेक जाके परंपरा से, नर हो वो चाहे नारी ॥ करे भव जल तें पारी ॥ १ ॥ जैसे जन प्रह्लाद को राख्या, होली भई जल छारी ॥ हिरनाकुश अज्ञान को मारा, खम्भ दियो जिन

कारी ॥ देह नरसिंह की धारी ॥ २ ॥ जब प्रह्लाद भक्तिया होली रचना अगिनि पजारी । हिरनाकशिपू मूल-अज्ञान है ॥ नरसिंह ज्ञान-कटारी ॥ पकर मारे बेद बिदारी ॥३॥ काम क्रोध सब भय हैं प्रह्लाद, मारो राम बल भारी ॥ गुप्तरु परपद एक अस्थी जब, एसी धारना धारी ॥ सोई है सुभट खेलारी ॥ ४ ॥

१६१ होली ।

लागी गुप्त ज्ञान की गोली, सब छूटी भरम की टोली ॥ टेक ॥ सत गुरु मेदीने सब भेद बताया, बुधि बंदूक ठठोली ॥ भक्ति करम से मंजन कीनी, सार शब्द से खोली ॥ हुई है अब अनमोली ॥ १ ॥ 'मई मई' पद रंजक भरि के मन के करि गोली ॥ वृत्ति निरंतर बाँधि निशाना, शब्द 'अई' को बोली ॥ करम की कटि गई टोली ॥ २ ॥ कामादिक निरगा सब भागे, तृष्णा बिरनी डोली ॥ भातु बसन्त भाइ जीवन-मुक्ती, खेलत भर भर झोली ॥ कर्म की उकटी रोली ॥ ३ ॥ गुप्त गली में जो नर आवे पावे वस्तु अनमोली ॥ वेद पुरान कुरान अरु कथनी, ये सब कागद पोली ॥ छूटि गई अन्तर चोली ॥ ४ ॥

१६२ होली ।

घट अन्तर होली मचाई कहा बाहर जाई ॥ टेक ॥ आतम मांहि बिरह खेले होली, बैठि नयन के माही ॥ दस इंद्रिय बनिता लिये संग में सोगत मोगा मचाई ॥ करै अपनी मन माई

॥ १ ॥ स्वप्न माहिं तैजस खेले होली, कंठ देश में जाई ॥ सूक्ष्म भोग मनोमय बावा, संग लिये मन भाई ॥ ऐसी रचना रचवाई ॥ २ ॥ सुषुपति माहीं प्राज्ञ खेलै होली, पुरीतत्व में जाई ॥ अज्ञान की वृत्ति लिये संग वनिता, सुख का भोग कमाई ॥ रहा तिस-माहिं भुलाई ॥ ३ ॥ तीन देश की होली खेल कर, चौथे देश में जाई ॥ और सब होली लगी है हल की, चौथी समाधि लगाई ॥ सोई होली सुखदाई ॥ ४ ॥ चतुरथ खेलि गयो पंचम में, तुरिया-तीत कहाई ॥ मनवानी को गम्य नहीं जहँ, सो हमरे मन भाई ॥ मनो गूंगा गुड़ खाई ॥ ५ ॥ बाहर की होली सब तजकर, भीतर देखहु जाई ॥ गुप्त होली होय घट के अन्दर, खेलत सुघर खिलारी ॥ बात तोहि कहि समुझाई ॥ ६ ॥

१६३ होली ।

होली खेलत सुघर खिलारी, कहा खेलत मूढ़ अनारो ॥टेक। मल विक्षेप दोष नहिं जाके विषय वासना जारी ॥ नित्य अनित्य विवेक कियो जिन, विष सम जानी नारी ॥ चाह चिंता सब टारी ॥ १ ॥ शम दम श्रद्धा समाधान व्है, और उपरती धारी ॥ द्वंद धरम सब सहन कियो है, सही है तितिक्षा भारी ॥ सोइ होली का अधिकारी ॥ २ ॥ असभावना दूरि करी सब, सरवन मनन विचारी ॥ विपरीत-भावना को धूल उड़ाई, निदिध्यासन से जारी ॥ बात जिन ऐसो विचारी ॥ ३ ॥ 'तत्त्वं' पदका शोधन कीना, माया अविद्या डारी । 'असि' पद माहीं आसन मारा, लागी

समाधि सुखारी ॥ यही है सब सुखारी ॥ ४ ॥ जीवन मुक्त भये या जग में, विचरत इच्छा चारी ॥ लोक वेद की शंका न मानें, बसिकर पाँचो नारी ॥ ऐसी निज धारना धारी ॥ ५ ॥ भोग अदृष्ट अदृष्ट भय हैं, व्यापक रूप मंझारी ॥ गुप्त रूप को प्रगट होकर, कबहुं न होय दुखारी ॥ जिन होली खेली है सारी ॥ ६ ॥

१६४ होली ।

देखो टुक होली का अजब तमासा, जासे होय अविद्या का नाशा ॥ टेक ॥ ऐसी होली तोहि सिखाऊँ, दूरि होय सब सांसा ॥ चौदह मनुवाँ अचल होय जावें, टूटि जाय भव पाशा ॥ होय उर ज्ञान प्रकाशा ॥ १ ॥ साढ़े तीन किरोड़ आप होय, एक एक ही स्वासा ॥ जिनके अन्दर सुरत संजोवो, रोम रोम परकाशा ॥ पावे निज रूप अनासा ॥२॥ सो को लेकर चढ़त नाभिसे, हं को लेकर आवे ॥ दोनों पदका अर्थ विचारो, जब पाका फल पावे ॥ होवे मुक्त रूप निवासा ॥ ३ ॥ तत पद ब्रह्म रूप करि जानों, त्वं पद आप पिछानो। तत्त्वमसि कर एक रूप है, माग त्याग कर मानों ॥ समझ यह वेदों का आशा ॥ ४ ॥ 'अह-ब्रह्मास्मि' वस्तु पकराई, ज्ञान अग्नि प्रगटाई ॥ मूल सहित तन मन सब होली ठोंकि ठोंकि के जराई ॥ हुयो फिर भ्रमि का नाशा ॥ ५ ॥ जो कोई होली खेलि चुका है, गुप्त गली के माहीं ॥ ज्ञान गुलाल के बरसत बदला कर्म की कीच नहाई ॥ कट्या सब काल का फांसा ॥ ६ ॥

१६५ होली

होरी खेलत खेलन हारी । तन मन से पड़गई कारी ।।टेक।। अब तो होली खेल समझकर, क्यों फिरती है मारी ।। सत गुरू शरन लेउ अब सजनी, मान मटुकिया ढोरी ।। करो अब मिलने की त्यारो ।।१।। तीन देह अरु पंच कोष की लागि रही बीमारी, सुनि गुरू ज्ञान धारि हिरदे में । क्यों फिरती मतवारी ।। आई है फगुवे की वारी ।।२।। काम क्रोध अरु विषय वासना, आशा तृष्णा जारी ।। शील सतोष विवेक धारि कर,तजिदे चाह चमारी ।। तभी तुह होय सुखारो ।।३।। गुप्त ज्ञान की भंगिया पीकर, हो जा तू मतवारी ।। लोक लाज कुल की मर्यादा, ठोक जलावो सारी ।। ज्ञान की भरि पिचकारी ।।४।।

१६६ होली

टुक होली । टुक होली खेल मिले फगुवा ।।टेक।। करोड़ जन्म का सूता हंसा, अब तो उठी करो जगुवा ।।१।। लोभ मोह के फँसा फंद में,अब तो तज इनका सगुवा ।।२।। अंतर की तज विषय वासना, भागत रोको मन कगुवा ।।३।। ज्ञान घटा जब चढ़े उमंडि के, ज्यों वरषा करता मघुवा ।।४।। तीन ताप की तपत मिटावो, शीतल होवे सब जगुवा ।।५।। कारज सिद्ध होय सब जिनके गुप्त ज्ञान में मन लगुवा ।।६ ।

१६६ कुण्डलिया

निज स्वरूप अज्ञानते, दीखत है बहु भेद । स्वरूप ज्ञान के होतही, मिटि जावे सब खेद ।। मिटि जावे सब खेद, वेद यों नितही गावे । मृगतृष्णा जग नीर, सुनाकर भेद मिटावे । लख निज गुप्त स्वरूप कूप जग गिरो न प्यारे । अवसर चूके मूढ़, फिरें विषयन के मारे ।।

२०० कुण्डलिया

भेद जो पंच प्रकार का, ताको करूँ बखान । जीव ईश का भेद यक, ईश जगत को जान ।। ईश जगत को जान । तीसरा जीव जीवन का । चतुरथ भेद पिछान, जीव अरु जड़ है तिनका ।। पंचम भेद जड जड़न को, यही भेद आकार । ध्रुव सब छूटे भेद जब, तब होय भेद से पार ।।

२०१ कुण्डलिया

बिना भेद जाने बिना, छुटै न भेद को पन्थ ।। श्रुति सिद्धान्त यह कहत हैं, और कहें मुनि सन्त ।। और कहें मुनि सन्त, भेद को अन्त जो कीजै ।। भेद पाप को मूल, ताको ना उर में दीजै ।। गुप्त रूप जबहीं लखे, छुटे भेद की बात । भेद जो पाँच प्रकार का, तापर मारे लात ।।

२०२ कुण्डलिया

अनादि वस्तु को कहत हैं तिनको सुन अब भेद । ब्रह्म ईश जीव अरु माया, सम्बन्ध भेद कहें वेद । सम्बन्ध भेद कहें वेद,

तिन में कछु भेद बताया । ब्रह्म है अनन्त अनादि, पांच से सान्तादि गाया ।। कहे गोवधन विचार, अनादि वस्तु गाई । गुप्त बात माहें माहें, कुण्डलिया देखो भाई ।।

२०३ कुण्डलिया

भूल्यो जब तिस आपको तबही भयो कंगाल । अपनी सुध जबे नहीं, घर में है सब माल ।। घर में है सब माल, क्याल दूजे का मेटो । गुप्त रूप को पाय, पलंग पर सुख से लेटो ।। प्रभु निश्चय यह ज्ञान, छत्रपति शाह है वाँही । छीनो आप भिखार, वस्तु है ज्योंकी त्योंही ।

२०४ कुण्डलिया

लेट रहावो पलंग पर, करके सूधे पांव । आसन कीजे पर की फेर न ऐसा दाव ।। फेर न ऐसा दाव, नाव में चढ़ कर बैठो । होजा पल्लेपार गिरेह से हमरे फूटो ।। जब पावे गुप्तानन्द त्यों कीजे विश्राम । प्रभु निश्चय जब भयो सोवत चादर तान ।।

२०५ कुण्डलिया

जैसे हम सोये पलंग पर, ऐसा सोवो सब भाय । अमर गवीया ज्ञान का होता होय सो होय ।। होनी होय सो होय, मोह ब्यापै नहिं माया । निज भासत अपना रूप, नहीं खोया नहिं पाया । गुप्त गली में आय के, निरभय भये आजाद । प्रभु निश्चयकर देखते कोइक बिरला साध ।।

२०६ कुण्डलिया

चिदाकाश निज रूप में, नहीं काल नहिं देश ॥ पांच तत्व गुण तीन का, जामें नाहीं लेश ॥ जामें नाहीं लेश, एक निरंजन राया ॥ जामें नहिंपंच कलेश, मोह व्यापे नहिं माया ॥ गुप्तरूप को पायकर, जामे लाभ न हान ॥ चिदाकाश निज रूप लखि, सोते चद्दर तान ॥

२०७ कुण्डलिया

मात तात सुत भ्रात सब, रहते कैसा साथ ॥ मेला जगत सराय में, सब उठि जात प्रभात ॥ सब उठि जात प्रभात, जात कुछ देर न लावे ॥ चहै लाखों करे उपाय, फेर ढूँढे नहिं पावे ॥ जब भूल्यो गुप्त स्वरूप, पड़ी ममता की फांसी ॥ क्या रोवे मत्था फूट, तुही चेतन अविनाशी ॥

२०८ कुण्डलिया

अपने अपने कर्म का, भोगन आये भोग ॥ पूर्बले किसी कर्म से, आन मिला संयोग ॥ आन मिला संयोग, सोच फिर किसका कीजै ॥ स्वप्ने सो जग जान, नाम यस हरि का लीजै ॥ जब पाये गुप्त स्वरूप, अविद्या सबही छीजै ॥ सब मिथ्या संसार, शोक फिर किसका कीजै ॥

२०९ कुण्डलिया

लगे रहो हरि नाम से छोड़ो जग की आस ॥ खबर नहीं है घड़ी की, निकल जायगे स्वास ॥ निकल जायंगे स्वास, काल

न सब कोइ आया ॥ राजा रंक फकीर, काल के हाथ बिकाया ॥ परारब्ध के भोग में, होना नहीं उदास ॥ गुप्तरूप पद माहिं कल, सब तजो जगत की आस ॥

२१० कुण्डलिया

ना कछु हुया न है कछु, ना कछु आगे होय ॥ मृगतृष्णा के नीर में, क्यों बहाजात बिन तोय ॥ क्यों बहाजात बिन तोय, मोह का छोड़ अखाड़ा ॥ सुषुप्ति अवस्था माहिं जगत का पोल निकाला ॥ गुप्त गली में बैठि के, कीजै सदा बिचार ॥ तू चेतन भरपूर है, मूँठा जगत असार ॥

२११ कुण्डलिया

भोगन में सुख है नहीं, सब तजो जगत के भोग ॥ भोग छोक का रूप है, यों कहैं सयाने लोग ॥ यों कहैं सयाने लोग, योगता आप निहारो ॥ कर्म उपासन ज्ञान ,माहिं चित अपना धारो ॥ गुप्त रूप को सो लखे, जो चाले इस पंथ ॥ श्रुति सिद्धान्त यह कहत हैं, और कहैं सद् ग्रंथ ॥

२१२ कुण्डलिया

कोटि जन्म भरमत फिरो, कछू न पायो सार ॥ मनुष देह अब के मिली, करके देख विचार । करके देख विचार यार क्या भया दिवाना ॥ सिर पै बैरी काल हाथ में ले रहा बाना ॥ बच्यो न तासौं कोय, काल ने सब कोइ खायो ॥ जिन आत्मा गुप्त सरूप काल नेर नहिं आयो ॥

२१३ कुण्डलिया

जैनी सो नर जानिये, जो जीवमार के खाय ॥ द्वैत भाव जाके नहीं, रही एकता छाय । रही एकता छाय, दिगम्बर रहे उदासा ॥ स्वरूप लियो चीन्ह, मिलन को मिटि गई आसा ॥ जब जान्यो गुप्तानन्द, कर्म का संगल टूट्या ॥ ढहगई मजहब दुकान, भरम का भांडा फूट्या ॥

२१४ कुण्डलिया

गुप्तानन्द आनन्द में, सदा सर्वदा काल ॥ हानी लाभ नाहीं रही, पड़े न यम की जाल ॥ पड़े न यम की जाल, ख्याल कोइ रहा न करना ॥ अब के ऐसे मरे बहुरि होवे नहिं मरना गुप्तानन्द को पाय, रहा नहिं करना बाकी ॥ सब झूँठा परपंच, सत्य तो आपै आपी ।

२१५ कुण्डलिया

कोइ कछु कहे कोइ कछु कहे, ना कीजै शोक न हर्ष ॥ जैसी जाकी बुद्धि है, तैसो ताकी परख ॥ तैसी ताकी परख, बहुत विधि कहे समार ॥ जोहरी परखे लाल, चाम को गहे चमार ॥ गुप्तानन्द को पाय, मस्त रहे आठों याम ॥ कुत्ती बको संसार, नहीं काहू से काम ॥

२१६ कुण्डलिया

कालत्रय उपजे नहीं, कहा भयो संसार ॥ व्यास वशिष्ठ मुनि कहत हैं, तुही सदा यक तार ॥ तुही सदा यक तार, अपन में

आप भुलायो ॥ स्वपन को परपंच, जागिकर कहूँ न पायो ॥ तूँ आपै गुप्तानन्द, सब मूलन का मूल ॥ नभ में भयो न सुमन, न जायो बन्ध्या पूत ॥

२१७ कुण्डलिया

होता तो होता कहा, बिना हुये यह कौन ॥ बिना हुये के कारणे, होता फिरता दौन ॥ होता फिरता दौन बात यह सबकी भाखी ॥ तापर एक दृष्टान्त सुनो चोरों का साखी ॥ जब जाने गुप्तानन्द मिटै यह बाड़ा शूल ॥ निश्चय होय आप, रहे नहिं रंचक मूल ॥

२१८ कुण्डलिया

मूल होत है भरम से भरम मूल अज्ञान ॥ अज्ञान तभी छूटा जानिये, जबलगा होत न ज्ञान ॥ जब लगा होत न ज्ञान, न तब लगा होवत दूर ॥ निशा रहे फिर नाहिं, परगटे जबही सूर ॥ जब जान्यो गुप्तानन्द बस्तु ज्योंकी त्यों भासी ॥ संशय और बिपरीत, भावना सबही नासी ॥

२१९ लावनी (बिना दोहे की कल्पवृक्ष)

हम चुप मस्ती में मस्त, मौज में रहते ॥ जो हमें कहें अप-बचन उसी के सहते ॥ टेक ॥ हम अपने आप में मगन रहा करते हैं ॥ आते दिल को हम चूर किया करते हैं ॥ हम आपो आपना दरस किया करते हैं, मर मर के ज्ञान का प्याला पिया

करते हैं ।। इस जगत जाल को देखि नहीं हम बहते ।। १ ।। हम अपने आपका जाप किया करते हैं ।। इस तनके अंदर माफ किया करते हैं ।। पंचकोष वपुतीनको साफ किया करते हैं ।। अपने आतम में आप जिया करते हैं ।। हम जीव भाव को छोड़ि ब्रह्म अग्नि में रहते ।। २ ।। तोड़ा माया का जाल ख्याल हम देखा। कुछ बाकी रख्या नाहि पूरा किया लेखा । अब आगे को बनज नहीं हम करते । जो करते हैं बनज वही नर मरते ।। हम काहू से कुटिल वचन नहि कहते ।। ३ ।। हम पायो गुप्त स्वरूप भूप के भूपा ।। नहि पड़े काल के जाल मार कहे रूका ।। ऐसा निश्चय भया धुरू गुरु हमने पाया ।। जिनकी कृपा से भये निरंजन राया ।। जो नर करते सत सग, सैन वह लहते ।। ४ ।।

२२० लावनी ।

हम ज्ञान सुधा का पिया पियाला प्यारे । माया नागिन के जहर मरै नहिं मारे ।। टेक ।। सतगुरु को मंतर दिया जहर सब झाड़ा । माया नागिन का जीत लिया सब खाड़ा ।। माया के सुत हैं पाँच बड़े बलकारी ।। अहर्निशि आठों याम मारें किलकारी । जिन बडे बड़े पकड़े वीर कूप भव डारे ।।१।। अह ब्रह्मास्मि मंत्र गुरू ने दीना ।। माया नागिन का जहर दूर कर दीना ।। माया का उतरा जहर कहर सब नाशे ।। जब कट गये दीरघ रोग ज्ञान परकाशे ।। परघट हुवा पूरण ज्ञान शत्रु सब जारे ।।२।। छूटा

माया का पाप ताप करे किसका ॥ हम निरभय होकर रहें शोक नहीं घसका ॥ हम व्यापक ब्रह्म-अखंड नहीं जहँ माया ॥ जहाँ नहीं कर्म नहिं धर्म न जन्मी आया ॥ हम चेतन शुद्ध प्रकाश भास नहिं न्यारे ॥३॥ सतगुरु के परसाद साधकी संगत ॥ सत् संगति की ऐसी चढ़ी लगी है रंगत ॥ हम पायो गुप्तानन्द भर्म सब मारे ॥ध्रुव निश्चय भयो अगाध ज्ञान परकारो ॥ अजर अमर अब भये जरें नहिं मारे ॥४॥

२२१ लावनी (चौमासा)

बरसन लागे दिनरात ज्ञान के बरखा ॥ सुखो पै लाग्यो सोहाग त्याग किये सगखा ॥ टेक ॥ चारों साधन एक चैत्र मास तुम जानो । जब उमड़ी काली घटा श्रवण पहिचानो । अब पवन लगी धूंध मनन सोइ कहिये । अब बरसन लाग्या मेंह निदिध्यासन कहिये । अब चमके प्रेम की ओर शुद्ध उठे बुगला ॥१॥ स्वाति बूंद चातक को लगत है प्यारी ॥ तिस चातक के सादृश्य जानो अधिकारी ॥ पथिक रहे हैं बैठ बरखा ऋतु आई । जिमि मन इन्द्री रहे थाकि के सम दम पाई । जब बुद्धि गई मन की दौड़ जाय कई पगला ॥२॥ दादुर की उट्ठी घोर बोलत मोरा ॥ अहं ब्रह्मास्मि शब्द घोर में जोरा ॥ घन माहिं उठा बिजली का चमकारा ॥ जब पंच कोष वपु तीन से कीन्ह न्यारा । या आस्तिक है मजबूत चढ़े चौमासा ॥३॥ सब नदियाँ चाली उमंग समुंद्र को धाए ।

जिमि उठे वृत्ति परवाह ब्रह्म में जाई ॥ जब गुप्त औषधी प्रगट भई है प्यारे । काम जवासा क्रोध आक सब मारे ॥ इस चात्र-भास की रमज समझे क्या कँगला ॥४॥

२२२ लावनी

नहिं मांगें किसी से दाम न रखते रंडी ॥ तिस पर भी लोग यों कहें बड़े पाखंडी ॥ टेक ॥ तीन लोक के भोग तृण सम त्यागे, जिस पर भी हमें यों कहें फिरें ये भागे ॥ ऊपर से बनाया स्वाग कहें हम त्यागी ॥ यह रखते मोहर नोट बड़े हैं रागी ॥ गेरू का लगाते रंग बने हैं दंडी ॥१॥ जो कोई कुछ कहे उसी की सहते ॥ अपने आपके माहिं गर्क हम रहते ॥ बहती दुनियां को देखि नहीं हम बहते ॥ कहती दुनिया को देखि नहीं कुछ कहते। हम देखो झाड़ि पिछोड़ि यह दुनियाँ लंडी ॥२॥ हम दिलबर का दीदार किया करते हैं ॥ मरने की गैल हम मरा नहीं करते हैं ॥ तपती दुनिया को देखि टस्या करते हैं ॥ जलते की गैल हम जला नहीं करते हैं ॥ हम अपने आप की सदा फेरते झंडी ॥३॥ हम करते गुप्त विचार कहे बड़े ज्ञानी । सब हसते हमको देखि बड़े बक ध्यानी । को जाने महरमकार हमारी बाता । हम नहिं रखते संसार से कुछ भी नाता। हम चलते सीधी गैल कहें आफंडी ॥४॥

२२३ लावनी

हमें गुप्त रूप का देखा अजब तमाशा । जैसा कुछ फुरना होय वैसा उसे भासा । टेक । चेतन के आसरे कल्पि किसी ने

माया ॥ अनादि एक पुनि ब्रह्म तिसे बतलाया ॥ नहिं कहिये सत्य असत्य विलक्षण गाई ॥ चेतन से अनादि सम्बन्ध कहके समझाई ॥ जो चेतन रहा समान करे नहिं नासा ॥ १ ॥ माया में पड़ा आभास और अधिष्ठाता ॥ कोइ तीनों मिलि ईश्वर का रूप बतलाता ॥ मलिन सत्व आभास और अधिष्ठाता ॥ कोइ तीनों मिलिके जीव रूप दिखलाता ॥ तिन में कहें एक स्वतंत्र एक गल फांसा ॥ २ ॥ कोइ कहें बिंब प्रतिबिंब एकही रूपा ॥ उपाधी के भेद भिन्न सहरूपा ॥ प्रतिबिंब वाद में भेद और भी माना ॥ पर बिंब रूपही प्रतिबिंबहु को गाना ॥ माया और प्रतिबिंब का रूप्या रासा ॥ ३ ॥ कोइ माया चेतन मिले ईश बतलावें ॥ अज्ञान अरु चेतन मिले जीव को गावें ॥ किसी ने प्रकृती पुरुष तत्व को खोजा ॥ कोइ सात पदारथ मान रू पद खोजा । कोइ कहें कर्म से मोक्ष मूढ़ नहिं भासा ॥ ४ ॥ किसी ने तत्व दोनों पद को छाना ॥ माया रु अविद्या छोड़ि लक्षको जाना ॥ लक्षणावृत्ति कर देख 'तत्वमसि' माहीं । पद भाग त्याग की सैन गुरू समुझाई ॥ कोइ समुझे चतुर सुजान वेद का भासा ॥ ५ ॥ (२ गान दूसरी) वेद गुरू कहते यही पुकार ॥ मूल हम झूंठा सब संसार ॥ गुप्त का मगज देख कुछ पार, कल्पना का मत्ये विस्तार ॥ सभी झूंठा जानो झगड़ा ॥ आप में कभी न कछु बिगड़ा ॥ कल्पना झूंठी वे छूटी, गम्दा यह गुप्त ज्ञान मूरी ॥ शुद्ध चेतन शुद्ध सरूप स्वयं परकासा ॥ ६ ॥

२२४ लावनी

हमें गुप्त बाग की देखी अजब हरियाली ।। खिले तरह तरह के फूल चमकि रही लाली ।। टेक ।। कोइ काला हरा कोइ रक्त स्वेत कोइ पीला ।। इन पंच फूल से रची बाग की लीला ।। माया का ऊचा कोट ओट है जिनकी ।। जहाँ दोइ वक्त के माहिं चौकि रहेमन की ।। माया में पड़ा आभास सोइ है माली ।। १ ।। मालिन अरु माली मिले करी जब त्यारी ।। यह तखते रच दिये तीन चौदह रच क्यारी ।। मालिन ने मचाये शोर जोर दिखलाये ।। यक क्षणमात्र के माहिं पेड सब लाये ।। चारो बुरजों पर चार रहे रखवाली ।। २ ।। चार किसिम के पेड़ रचे तिस माहीं ।। बीजन के अनुसार खिली फुलवाई ।। किसी में निकली कली कोई खिलि जावे ।। कोइ नीचे गिरते टूटे कोई मुरझावे ।। फूलों पै लगाते चोट काल अरु काली ।। ३ ।। छ' ऋतु बारह मास चक्र यक फिरता ।। ये रात दिना दो दीप बाग में जलता ।। माली ने राखे तीन काम के करता । कोइ उत्पति पालन करै कोइ सहरता ।। जहँ पक्षी करे कुलाहल बजाते ताली ।। ४ ।। इस बाग माहि त्रय कूप छुटे जलधारा ।। बिच बिच मे फुहारे छुटें बाग पिवे सारा ।। कोइ पौधे उपजे नये पुराने जलते ।। कोइ क ल पाय के वेमी अगिन में बलते ।। ऐसी रचना का ख्याल देखता ख्याली ।। ५ ।। देखन जाननवाले का करो विचारा ।। सो गुप्त आपना रूप सार का

सारा। माली अरु सब बाग नहीं कछु न्यारा॥ जैसे स्वप्ने के माहिं साक्षी आधारा॥ शुद्ध चेतन सुख सरूप होय भ्रम आली॥ ६॥

२२५ लावनी (सत्सगकल्पवृक्ष)

है कल्पवृक्ष सत्सग जगत के माहीं॥ महिमा नहिं सकत शेष सके कछु गाई॥ टेक॥ है वेद पत्र शान्ति जिस की डाली॥ अरु ज्ञान पुष्प नित लगत स सब हरियाली॥ सुखरूप है प्रगट सब जगत न कोइ खाली॥ जो देखा चाहे सेवे बन कर माली॥ स्वधर्म भार भक्ता स पंहुचे ताई॥ १॥ जिन पाया तत्व पागये पायेंगे जितने। उपाय इस से और क्या नहिं जिसमें॥ सतसंगति कर कल्पवृक्ष का सेवो॥ मनुष तन को मत वृथा जगत में खोवो॥ यह पन्थ संत से मिले जो होय सहाई॥२॥ जो प्रेम नेमकर सत्संगति को सेवे॥ सब दुःख नाश हो प्रगट अविद्या खोवे॥ जीव भाव घटि आप ब्रह्म को जाने॥ निष्कर्म भक्ति मोती का ठीक पहिचाने॥ शील सत्य सन्तोष स्वत आमाई॥ ॥ जिन कल्पवृक्ष का लिया सहारा जग में। वह सुख हो रहे मौज न आवे भग में॥ लख गुप्त रूप है सब घटघट घट में॥ जो देखा चाहे बसै इसी तन मठ में॥ ध्रुव पद अचल अमोल न जावे सराई॥ ४॥

२२६ लावनी (मदिरा)

हम आप रूप की मय का पिया पियाला॥ जो मूंठी मय

को पिवे तिन का मुख काला ॥ टेक ॥ हमे सत् गुरु मिले कलाल दई भर प्याली ॥ अन्तर के खुल गये चश्म छाय रही लाली ॥ हम पिया प्रेम के साथ अमल जब छाया ॥ सब मिटे भर्म और कर्म रही नहिं माया ॥ हम करैं न कोई जाप रटैं नहिं माला ॥१॥ जो गौड़ी माध्वी और पेष्टी पीना ॥ तिन का है वृथा यार जगत् मे जीना ॥ कोइ भर के बोतल पिवे पिवे कोइ अद्धा ॥ फिर किरिया करते नीच होय मुख भद्दा ॥ हो गया कलेजा भस्म नयन में जाला ॥ २ ॥ जब जागे परबल काम खोजता नारी ॥ चाहे मिलो वेश्या नीच चहे महतारी । भोगे नहिं गिनता दोष गई मति मारी ॥ इस नीच अमल ने करी जगत की ख्वारी ॥ आपस मे बकते गाल ससुर औ साला ॥३॥ ऐसा नहिं कीजे कर्म भरम सब त्यागो ॥ अब मोह निशा की नींद त्याग कर जागो ॥ तुम गुप्तरूप का भरकर पियो पियाला ॥ जिस करके छूटे जनम मरन का नाला ॥ क्या दुनिया के रँग देख हुवा मतवाला ॥ ४ ॥

२२७ लावनी (मांस)

जो नर खाते हैं मास सोई 'कस्साई ॥ हम नहिं कहते यह बात शास्त्रने गाई । टेक । सब कहें खुदा की रूह गऊ अरु मुरगे ॥ बकरा भैंसा और भेड़ किये क्यों मुरदे ॥ नेत्र से नेत्र मिले मिले तिल्ली से तिल्ली ॥ जब मार रूह को रूह बड़ी फरजुल्ली ॥ करै खुदा से वैर समुझे नहिं खुई ॥१॥ दिन भर तो रोजा करे पढ़े कुराना ॥

फिर मारे रात को सब करहि हलाला ॥ जिसकी तुम पढ़े नमाज पाँच बेर दिन में, सो सब स्वप्न में रहे साथि के मन में ॥ आवे नहिं न्याय इन्साफ हुये अन्याई । २॥ काहि खावा और का मांस त्रास नहिं तुमको ॥ फिर तेरा भी गला कटे सोच न तुमको ॥ निकसगी जहाँ किताब आव नहिं आवे । मत खाय और का मांस फेर पछितावे ॥ रसना के वश होगया मीन की न्याई ॥ ३ ॥ ब्राह्मण का पाया जन्म ऊजली खाती ॥ फिर खाते माँस शराब बने हैं पापी । जब ऊँचे वरण को पाय काम यह करते ॥ नीचों के शिर–दोष व्यर्थ को धरते ॥ खाते बने पंडित लोग रखें गुप्ताइ ॥ ४ ॥

२२८ लावनी (वेश्या)

काम निशा से जाग पड़ा मत सोवे ॥ मत कर वेश्या का संग रंग क्यों खोवे ॥ टेक ॥ वेश्या को विषसम् जान करे मत् संगा ॥ जिस वेश्या के संग होय धर्म का भंगा ॥ चाहे कैसा ही होय मन्य कैसा हो चंगा । सब तन धन को हरि लेत बनावे भंगा ॥ हम कहते हैं समझाय गणिका मत जोवे ॥ १ ॥ जप तप संयम व्रत दान सभी नशि जात ॥ जैसे फिर ढूँढ़ा पुष्प सदा रहिजात ॥ कोई स्वागत ना फल फूल हाथ नहिं हामी । हम सब मरघट की हानी वेश्या जानी ॥ मन वश्या नाम मारि मणिया मत पोवे । २॥ वेश्या से कबहूँ मुक्ति करो मत चाहे ॥ यह मकड़ा लेय बनाय कर

बड़ी ख्वारी। करे धन अरु बलका अंत फेर धमकावे ॥ तुझे सौ बेर कही गँवार यहां क्यों आवे ॥ सब खोय लोक परलोक मूरखा रोवे ॥३॥ ऐसे नर तनको पाय अकारथ खोवे ॥ नहिं सुने गुप्त की बात अन्त मे रोवे ॥ जो कहे धर्म की बात करे थे हाँसी ॥ धोखे में पड़ि गई आय काल की फाँसी ॥ जब अन्त समय के मांहि कोई नहि होवे ॥४॥

२२९ लावनी (द्यूत)

सट्टे का चला रोजगार गई साहूकारी ॥ यह खाय हरामी माल गई मति मारी ।टेक। नहिं करें और रोजगार कार यह ठानी ॥ चहे कुछ होवे लाभ चहें होय हानी ॥ जो कुछ कीना था माल बड़ो ने कट्ठा ॥ तिस से अब खेलन लगो लिलामी सट्टा ॥ नहिं आवे आँक-लीलाम होय जब ख्वारी ॥१॥ सट्टे की जाय दुकान रुपैया लावे ॥ खड़े देख रहे हैं बाट आँक कब आवे ॥ जैसे बरखा ऋतु पाय जले जवासा ॥ ऐसे जलते साहूकार लोभ की आसा ॥ जो आजावे कभि माल चढ़े बड़ी त्यारी ॥२॥ जब आवत नाहि आँक खाक में मिलते ॥ तब रोवत मत्था कूट हाथ दोउ मलते ॥ सब लुटि गया घर का माल बात सब बिगड़ी ॥ टूटा जूता है पैर, फटी सिर पगड़ी ॥ तब चोरी करने लगा लाज खोई सारी ॥३॥ फिर लेवें मूँड़ मुड़ाय बने हैं साधू ॥ लोगों को बतावें आँक करें वहि जादू ॥ नहिं गुप्त बात को खोजत मूढ़

अनारी ।। कोई सन्यासी बनि जाय कोई मठधारी ।। लोगों से ठगिकर माल करे फिर ख्वारी ।।४।।

२३० लावनी (नारी)

परनारी से प्रीति मुक्ति नहिं करनी ।। परनारी ऐसी जान पावक को भरनी ।।टेक। अपना रखि खाली खेत और का बोवे ।। कछु फल नहिं प्राप्त होय मूढ़ फिर रोवे ।। घरकी को सीना त्याग सेवे परनारी ।। तब घर की करणी आय और दें धारी ।। जब घर में होय कलह क्यों नहिं जरनी ।।१।। परनारी पैनी छुरी अंग सब काटे ।। जैसे कोई जालिम खून माँस को चाटे ।। सब तन धन को हरिलेय करे तुझे खाली ।। सब भद्दा पद जाय वदन रहे नहिं लाली । नर का निश्चयकर जाय कहे जिसे मरनी ।।१।। नारि सबहि है बुरी वेश्या परकी, यह तीजी कहिये नरक सिरोमणी घरकी। सब एक विषय के संग पावते नाशा ।। यह जाना सच्ची बात झूठ नहिं मासा ।। परत्रिया से करे गमन तिनकी दशा बरनी ।।२।। नहिं देखे गुप्त सरूप विषय में भूले । फिर अन्त समय के माहिं खाट में झूले ।। जब चले कंठ में माया कठा घरोंग ।। नखर में झूठा मीर दिखावे माया ।। अब कीजै कौन विचार पड़ा वैतरनी ।४

२३१ लावनी (हिंसा)

मत करे जीव की घात बात सुन प्यारे ।। सब परमेश्वर की रह माहीं कुल प्यारे । टेक। जैसा दुख तुमका होय उसे भी होवे । कुछ मन में करो विचार पड़ा मत सोवे ।। बिन कारण ही द दुख

और क्रो भारी ॥ अपने को चहे आराम गई मति मारी ॥ जिस करे कुटुम्ब हित पाप होहिं सब न्यारे ॥१॥ हिंसा है तीन प्रकार कहों समुझाई ॥ कायिक है वाचिक मानस है वेदने गाई । दूजे को देवे दु:ख सोई कसाई ॥ दूजे को देना सुख सोई धरमाई ॥ सुख से सुख तुझको होय दु ख से दुख भारे ॥२॥ जैसा कुछ देना दान वैसा मिल जावे ॥ जब वेली वोवे कटू दाख कैसे खावे ॥ जो सुख चाहे जीव तजो अरु हिंसा ॥ करना चहिये वही काम वेद पर संसा ॥ जिस करके होय आराम दुख छूटें सारे ॥३॥ तुम छोड़ो कर्म निषेध, विधि को करना ॥ फिर तिन में भी सहकाम देत हैं मरना ॥ जासे पावे गुप्त स्वरूप करो निष्कर्मा ॥ सब छुटें जनम के पाप होय नहिं मरना ॥ अब कीजै ऐसा काम काल नहिं खारे ॥४॥

२३२ लावनी (चोरी)

जो पर घर चोरी करत मरत हैं तेजन ॥ आगे पड़े यम की मार, हरथा क्यों पर धन ॥टेक॥ कोमल पर पकड़ा जाय, मार लगे गाढ़ा । जैसे कोई रव्वड़ लोग, काटते पाडा ॥ फिर पकड़ लेत सरकार, शोच करे मन में ॥ सब चोरी को ले काढ़ि, एकही दिन में ॥ जब लगे दुतरफी मार, बिगड़ जाय सब तन ॥१॥ जो हरे पराया माल, हाल यह जिनका ॥ कभी नाशत नाहीं शोक, तिनों के मन का ॥ चोरी के सग में रहे, झूँठ दिन राती ॥ जैसे दीपक जब जले, तेल अरु वाती ॥ सब देखें ऐसे हाल, डरे नाहीं

मन । २।। चोरी जूवे का काम बुरा है प्यारे । जो करते ऐसा काम फिरते हैं मारे ॥ जगमें पिगड़े परलोक लोक में निंदा ॥ जो करते ऐसा काम पड़े गल फंदा । ऐसी होवें दुरगती मिले नहीं मन्न ॥३। छोड़ो चोरी की बात, हाथ क्या आवे । फिर अन्त समय के माहिं बहुत पछितावे ॥ कोजे नहिं ऐसा काम मनुष तन पाके ॥ क्यों गुप्त आपना रूप कहूं समझाके । मत फिरे रस्त की तरह, अविद्या मन बन।।४।।

दोहा—

धन्यवाद उस पुरुष को, जाको व्यसन न एक ॥
सो उत्तम सब नरन तें, वाकेहि विमल विवेक ॥
एक एक ने मारियां, बड़े बड़े उत्तम भूप ॥
जामें सातो व्यसन हैं, क्यों न पड़े भव कूप ॥
मानुष तनको पाय कर, किया नहीं शुभ काम ॥
तिसतें अच्छा जानिये, ढोर पशु का चाम ॥

२३३ लावनी

देवन की पूजा करो भाइ दीवाली । बस सब पूजन का देव आत्मा वाली ॥ टेक ॥ यह काया देवल जान आतमा देवा ॥ तिसकी अब सेवा करो बधाई मेवा ॥ करो दीक्ष आहवान पहिर सब लोक ॥ प्रेम के पाथर मांज रहे नहिं मैला ॥ आशा तृष्णा का त्याग बनाओ थाली ॥१॥ जप तप तीरथ और दान पंच बजवारो । निष्काम-धर्म की पूज प्रेम स भावा ॥ तप तप का

करो सिंगार लगा सिंहासन ॥ तिनके ऊपर लग रहा देव का आसन ॥ उड़ते शुभ कर्म गुलाल चमकि रहि लाली ॥ २ ॥ चित के चन्दन को चरच प्रीति की पाती। दिल से दीपक को वारि धरो दिन राती ॥ करनी का क्रीट बनाय मुकुट मन कीजे ॥ फिर चढ़ै प्रेम के फूल देव जब रीझे ॥ ऐसा परिपूरण देव नाहिं कछु खाली ॥३॥ ऐसा नहिं पावे वक्त गुप्त तुझे कहता । जो ऐसी पूजा करे जग में नहिं बहता ॥ कभी काशी सेवें जाय कभी सेवें मथुरा ॥ सेवें नहिं चेतनदेव पूजे क्या पथरा ॥ क्या पूजत फिरे गँवार भैरों अरु काली ॥४॥

२३४ लावनी

भरमें क्यों बिना विचार दूसरे मन्दिर । इस तन के अन्दर देख मूरती सुन्दर ॥टेक॥ जिसके नाहीं रंग रूप ऊपक्या कहिये ॥ तिसके दरशन को पाय परम पद लहिये ॥ नहिं समुझत मूढ़ गंवार फिरत है मारा ॥ देखा चाहत है मूढ़ आपसे न्यारा । खाता डोलत परसाद होगया बंदर ॥१॥ नहिं कारण सूक्षम स्थूल मूल है सब का ॥ धरनी जल पावक पवन समझले नभका ॥ हम कहें तोहि समझाय देव है ऐसा । जाकी सेवा होय निष्काम चढ़े नहिं पैसा ॥ इस घटके भीतर देख चमकि रहा चन्दर ॥२॥ करले तिसका दीदार पार हो भव से ॥ क्या देखे झूठे देव तिरे नहिं तिनसे। पूजत है मूंठे बुत्त गई मति मारी ॥ चेतन कहै जड़ से कहै रक्षा कर

म्हारी ॥ कछु करता नहीं बिचार आपने अन्दर ॥३॥ चेतन का रूप है आप वस्त अरु आने ॥ कछु देव न पूछे बात नहीं पहिचाने ॥ शास्त्र न कहा है इक एक पुरुषारथ ॥ दूजा नहिं कोई एक भी पदारथ ॥ बहे जाते हैं नर मूढ़ अगम समुन्दर ॥४॥

२३५ लावनी

करते हैं बहुत प्रकार विचार न करते ॥ जिस अहंकार के माहिं डूबकर मरते ॥ टेक ॥ यह काया सदा मलीन शुद्ध नहिं होवे । जिसकी शुद्धि के मय-काठ का सोवे ॥ यह बँधी मूत की गाँठ जिसे सदा धोवे ॥ कितनेई चन्दन लेप शुद्ध नहिं होवे ॥ अब तक इस में हंकार तभी तक मरते ॥१॥ जाके तन कारन के माहिं नर्क नित भरता ॥ ध्यान बीज का भ्रष्ट शुद्ध किसे करता ॥ इस तन की शुद्धी आगि भस्म को खोवे ॥ कितनाई मज्जन करे शुद्ध नहिं होवे ॥ कोई नर मूरख स्नान काम यह करते ॥२॥ बड़े बड़े वैद्य कुलीन बने हैं सुन्दर ॥ भीतर से कोमल नाहिं काम का मन्दर ॥ ऐसे हि सब नर भारि मूठि गये तन में ॥ कछु करते नहीं विचार आपने मन में ॥ निज आतम चेतन शुद्ध खोज नहिं करते ॥३॥ सो सदा आपना रूप शुद्ध का शुद्धा । जागृत स्वप्न सुषुप्ति सदा परशुद्धा ॥ सत्संग र को पाय भेद कछु जाने । तब शुद्धनाम सब मलीन शुद्ध पहिचाने ॥ ये शुद्ध रूप परकाश कर्म सब करते ॥४॥

२३६ लावनी

कहने को सभी ने कहा न रखा बाकी ॥ बिन जवाँ कहे क्या आप आपना साखा ॥ टेक ॥ जो घर रखे सो अपने घर को पावे ॥ जो घर खोवे वह घर घर धक्के खावे ॥ कहिं पुन्य करे तो पाप तुरत बनि जावे ॥ कहिं पाप किये ते स्वर्ग वास मे जावे ॥ जो करे जीव को घात वह देखे झांकी ॥ १ ॥ जो लोभ करे तो क्षोभ तुरत मिटि जावे ॥ दया तजे से दिल का दरद हट जावे ॥ योग तजे वह योग के माहिं समावे ॥ ज्ञान तजे ते विद्यावान कहलावे ॥ तन जला भस्म मलने से होवे खाखा ॥२॥ जो परको पीड़ा करे सो होवे पूरा ॥ जो विषय गहे वोह इन्द्रियजीत है सूरा ॥ जो भोग करे वह जन्म रोग को धोवे ॥ तृष्णा करने से तीनों ताप को खावे ॥ वेदशास्त्र का चूरण बनाकर फाँकी ॥३॥ त्याग किये से रागी बन बैठे हैं ॥ ऊपर जाने से आप गिरे बैठे हैं ॥ यह गुप्त ज्ञान समझे सो बेखटके हैं ॥ बिन समझे नर चौरासी में भटके हैं ॥ ध्रुव त्याग ग्रहण की सभी वासना नाकी ॥४॥

२३७ लावनी

बिन यतन रतन यक बन में भोगता भोगी ॥ सुन कथन सजन तज वतन होगये योगी ॥ टेक ॥ बिन पृथ्वी परवत है यक ऊँचा भारी ॥ पगू गिरवर पर चढ़ा गई मति मारी ॥ बिन नेत्र देख वे दिल से खुशी हुई भारी ॥ कर बिन से ग्रहण कर करे

म्हारी ॥ कछु करता नहीं विचार आपने अन्दर ॥३॥ देखन का देख है आप देख नर जाने ॥ कछु देख न पूछे बात नहीं पहिचाने ॥ शास्त्र न कहा है एव एक पुरुषारथ ॥ दूजा नहिं कोई देख सके पथारथ ॥ कहे जाते हैं नर मूढ़ अगम समुन्दर ॥४॥

२३५ लावनी

करते हैं बहुत अपार विचार न करते ॥ जिस मार्ग के माहिं बूझकर मरते ॥ टेर ॥ यह काया सदा मलीन शुद्ध नहिं होवे । जिसकी बुद्धि के अर्थ-काज मन खोवे ॥ यह बंधी मूत की गांठ जिस बड़ा भावे ॥ किननाई अम्बर लेप शुद्ध नहिं होवे ॥ जब तक इस में इंकार तभी तक मरते ॥१॥ जाके नव द्वारन के माहिं नर्क नित झरता ॥ स्याम बीज सो भए शुद्ध किसे करता ॥ इस तन को शुद्धी लागि जन्म को खोवे ॥ किनभाई मजन क्यों शुद्ध नहिं होवे ॥ सोई नर मूरख नाम काम यह करते ॥२॥ बने आते देख कुलेश बने हैं सुन्दर ॥ भीतर से खोजत नाहिं नाम का मन्दर ॥ ऐसे हो सब नर भारि भूलि गये तन में ॥ कछु करते नहीं विचार आपने मन में ॥ नित आतम चेतन शुद्ध खोज नहिं करते ॥३॥ सो सदा आत्मा रूप शुद्ध का शुद्धा । जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति सदा परबुद्धा ॥ सत्गुरु को पाय भेद कछु जाने । जब शुद्ध जाय सब मलीन शुद्ध पहिचाने ॥ कहे शुद्ध रूप परकाश कर्म सब जरते ॥४॥

॥२॥ बुद्धी विन करै विचार पंडिता कहिये। बुद्धी से करै विचार मूरखा लहिये ॥ विनु पर से पक्षी उड़े पर से गिर जावे। विनु चोंच चुगे को चुगे फेर मरजावे ॥ यक गगन माहिं नित ठोंकत डोलत मेखा ॥३॥ कोई समझे मूढ गंवार चतुर क्या जाने। परघट को कहते गुप्त नहीं पहिचाने ॥ सो सदा एक है जिसे ध्रू कहे चलता। सो कहिये शीतल रूप देखें तिसे जलता ॥ सो धरे बहुत से रूप एक का एका ॥२॥

२३६ लावनी

मैं आशिक़ हूँ अलमस्त दीद तेरे पै। दे दरश कृपा कर निगेह हाल मेरे पै ॥ टेक ॥ आलिमों में सुनी तारीफ़ जिया घबराया। उस दिन से मेरा होश हवाश भुलाया ॥ धन माल लुटा इस जग से ख्याल उठाया। कर खराब अपना हाल तेरा कहलाया ॥

शैर–इश्क़ में बीमार तेरी शान पर कुरबान हूँ।
मुहब्बत जिगर में बसिगई, यह हाल मैं किस से कहूँ ॥
तुझ से जुदाई का यह सदमा, आप खुद दिल में सहूँ।
सौदी पागल सब कहे, मैं ध्यान तेरे में रहूँ ॥

अब आसन मैंने किया तेरे चेहरे पै ॥१॥ जब अहा अहा कर मरने लगा यक दम से ॥ तब दिल में रोशन हुवा चांद पूनम से। दिलवर से दिल मिल गया वो आप सनम से। माशूक ने हंसकर कहा न रख दिल गम से ॥

नृत्य पंतारी ॥ बिन मर्म शर्म तजि दई सो मानो रोगी ॥१॥ बिन पती सता न तन पितु पुत्तर आया ॥ ज प्रवे पुत्र न सभी कुटुम्ब को खाया ॥ बिन अङ्ग संग बो पिवासे जाके करता ॥ बिन बदन पिता मुख चूम अंक में धरता ॥ ऐसी अचरज की बात हुई अरु हागी ॥ २ ॥ बिन नीर समुद्र बीच कुआं पनिघट का । हिल मिल के सखी जल भरें न डूबे मटका ॥ यक पथिक मुसाफिर आन कुवे पर अटका ॥ वो जल माँगे वो कर सैन घूंघट का ॥ जब बड़ा चारो लो पथिक मार भय सोगी ॥३॥ यह गुप्त ज्ञान बिन भवम से जो मुनिजन । बिन बुद्धि स समझ रमझ में रहवे । यह बचन कहे विपरीत मजा गुरु दव । पलटे को सुल्टा चीन्ह और क्या कहिये ॥ प्रू जनम मरन को सभी अविद्या खोगी ॥४॥

२३८ लावनी

विना मूल यक फूल गगन बिनु देखा । तिस गुल में गुल खिल रहे गिनवि नहिं लेखा ॥टेक॥ यक बिन अचरज की बात कहो बिनु बानी । कोइ मूरख लेवे समझ समझ नहिं ज्ञानी ॥ अमृत का बना तलाब अगिन म फूंका । यक प्यासा है दिन रात मरे नित भूखा ॥ चारे सूक्ष्म स्थूल रूप नहिं रेखा ॥१॥ परमों म बिन परिमाण पड़ा यक बहता । बिन पानी का दरियाव तिसमें नित रहता ॥ दीपक अग्नी न फूंक दिया जग सारा । बिन ईंधन लकड़ी जला सभी जिस्तारा ॥ बिन मंत्र यह त्याव सभी हम पस्या

॥२॥ बुद्धी बिन करै विचार पंडिता कहिये। बुद्धी से करै विचार मूरखा लहिये ॥ बिनु पर से पक्षी उड़े पर से गिर जावे। बिनु चोंच चुगे को चुगे फेर मरजावे ॥ यक गगन माहिं नित ठोंकत डोलत मेखा ॥१॥ कोई समझै मूढ गंवार चतुर क्या जाने। परघट को कहते गुम नहीं पहिचाने ॥ सो सदा एक है जिसे ध्रू कहे चलता। सो कहिये शीतल रूप देखें तिसे जलता ॥ सो धरे बहुत से रूप एक का एका ॥२॥

२३६ लावनी

मैं आशिक़ हूँ अलमस्त दीद तेरे पै। दे दरश कृपा कर निगेह हाल मेरे पै ॥ टेक ॥ आलिमों में सुनी तारीफ़ जिया घबराया। उस दिन से मेरा होश हवाश भुलाया ॥ धन माल लुटा इस जग से ख्याल उठाया। कर ख़राब अपना हाल तेरा कहलाया ॥
शैर–इश्क में बीमार तेरी शान पर कुरबान हूँ।
मुहब्बत जिगर में बसिगई, यह हाल मैं किस से कहूँ ॥
तुझ से जुदाई का यह सदमा, आप खुद दिल में सहूँ।
सौदी पागल सब कहें, मैं ध्यान तेरे मे रहूँ ॥
अब आसन मैंने किया तेरे चेहरे पै ॥१॥ जब अहा अहा कर मरने लगा यक दम से ॥ तब दिल में रोशन हुवा चांद पूनम से। दिलवर से दिल मिल गया वो आप सनम से। माशूक ने हंसकर कहा न रख दिल गम से ॥

शेर–माशूक मेरा मुझको–मिला, दिल में वही दिलदार है।
मिलता है मुझको प्रेम से देता दरश हरबार है॥
तबियत से वह जाता नहीं, करता वो मुझ से प्यार है।
सूरत वो मन में बस रही, माशूक मेरा दिलदार है॥
जैसे काला नाग मस्त लहरे पै ॥२। माशूक ये मेरा जिसकी निगाह आजावे॥ बस निगाह से सारा जगत मग्न होजावे। वो फेरे निगाह तो सब रोशन होजावे॥ पल पल में प्यारा अलख लेख दिखलावे॥—

शेर–जिसकी चमक को पायकर यह चमकता संसार है।
सब रोशनी रोशन है उससे, यों कहत मस्त पुकार है॥
उसकी रोशनी पाय के, फिरते सभी मर मार है।
सब के शामिल मिल रहा, सब से जुदा यक तार है॥
वो मुझ में है मैं हूं उसके चेहरे पै ॥३॥ दुनियां से खोकर हाथ सनम को पाया॥ वो मिला मुझे महबूब रैन बिसराया॥ इस विरह में बोला विश्वंभर फरमाया॥ यह नाम रूप सब ही है उसकी माया॥—

शेर–सर्व में सर्वज्ञ है, वो सर्व में भरपूर है।
ज्ञान दृष्टी से मिले, अज्ञान से वो दूर है॥
आशिक होके हटना नहीं, मिलता वस जरूर है।
सत्य आनंदकंद मेरा गुप्त असली नूर है॥
भू रहता है हर वक्त तेरे सहारे पै ॥४॥

२४० लावनी (रंगत लंगड़ी)

इश्क आशिक पूरे करते, घर को कर बरबाद कदम माशूक की तरफ धरते ॥ टेक ॥ लौ माशूक से लगी रहती, चश्म से जलधारा बहती । इन्द्रिय नहिं और विषय गहती, तबियत माशूक को चहती

दोहा—दुनियाँ से हो तर्क, गर्क यक माशूक के माहीं ।
दम पै दम यह निकला जाता, सूझत कछु नाहीं ॥

सनम क्यों अलग २ हटते ॥१॥ इश्क का जोश हुआ भरपूर, दीखन लगा सनम का नूर ॥ जिसपै गिरा हूँ होकर चूर, उसी का रहता मुझे गरूर । —

दोहा—मुझको मुसीबत देते हो, क्यों हँसते हो मुख फेर ॥
गले लगाकर मिलो आप अब, क्यों करते हो देर ।

हुये दिन बहुत अलग रहते ॥२॥ दयाकर दिया दरश मुझको, कहूँ मैं क्या क्या अब तुझको ॥ समझ ओती है समझे को, पहुँचा अब तेरे दरजे को ॥—

दोहा—जब से माशूक मिला, शोच अब रहा न मिलने का ।
दोनों की तबियत एक हुई, नहिं जिगर है हिलने का ॥

फेर अब उलटे नहिं फिरते ॥३॥ आशिक माशूक एक ही जान । जैसे घी चिकनाई ले मान ॥ इश्क यह हक्कानी पहिचान । सीखले गुप्त गुरू से ज्ञान ॥—

दोहा—गोवर्धन घनश्याम कृष्ण की, दिल से रखियो याद ।
जन्म धरेका सार यही है जगको कर बरबाद ॥

धुरूकर इश्क बिना सिरते ॥

२४१ लावनी

सिकारी हम हैं पूरे यार ॥ जिस तन के बन में चंचल मिरघा खेलत वही शिकार ।टेक। चरै जाई मिरघन की ढोली ॥ मारते बिन दारू गोली ॥ मिरघी दस एक मिरघा काला ॥ कि जिसके सिर पर वो भाला ॥—

दोहा—धरनी बिनु मिरघा चरै, बिन जामी खेती खाय ।
सूरदास को मारसी, नेत्र स दीखै नाय ॥
खाते नहिं चारा प्यार । जगत सब जिनको किया खुवार ॥१॥
मिरघा के नहीं बदन महिं गात ॥ खाने को खाता है दिन रात ॥
गिने नहिं संध्या अरु परभात । पैर बिन मारे सब के लात ॥
दोहा—बिनु अचरज की बात यह, करके देखो च्याऊ ।
सोई पूरा पारधी, जिन गेरा मिरघ पर आऊ ॥
बिन कर पकड़े दो सींग, पटकि बिनु धरनी दिया पछार ॥२॥
बिना कर पकड़ी हमें कमान खेंचि मिरघा के मारा बान ।
लगा बिन घरका जिसके तीर ॥ मिटी मिरघा की सगरी पीर ॥
दोहा—सुखी भया मिरघा चरै, ना करि राग न दोष ।
मारे ते सो अमर भया है, करिके देखो होस ॥
अजर अमर अब भया किसे नहीं सकता कोई मार ॥३॥ गप्प का एसा हो परमाव, चले नहिं जिस पर कोई दाव ॥ वही सुग मारन की युक्ती, इसी स पावत है मुक्ती ॥—

दोहा–वेदरदी व्हे मिरघा मारे, जब होवे आनन्द ।
जो कोइ रक्षा करे जीव की, सो पडे काल के फंद ॥
इस विधि सुधरे सब काज, आज हम कहते यही पुकार ॥४॥

२४२ लावनी

मान कही तजिदे भरम विकार । इस नरके तन को पाय कीजिये, इस से कछू विचार ॥टेक॥ कि यह तन ऐसा है नीका ॥ देव ब्रह्मादिक का टीका ॥ यही उद्धारन है जीका ॥ भक्ति बिनु क्यों रखता फीका ॥—

शैर–यह मानुप तन तोको मिला, कुछ करके देख विचार जी ।
यक पलक माहीं नाश हो, पछतायगा फिर यार जी ॥
दिल अन्दर करो विचार, फेर तुझे मिले न दूजी बार ॥१॥
करो अब अय इसमे कछू विचार, कौन मैं को यह सब संसार ॥
किसके यह रहता है आधार ॥ यही है सब सारन का सार ॥—

शैर–माला में मनका रहे, सब सूत्र के आधार जो ॥
सूत्र तिनमें एक है, सब मनिकों का व्यभिचार जो
ऐसेई जाग्रत् अरु सुषुपती, आतम के आधार ॥२॥ सोई है व्यापक ब्रह्म स्वरूप, फेर नहीं पड़ते हैं भव कूप ॥—

शैर–अगर जोतू चाहै एकताई, तो जुदाई तोड़दे ।
यक आव दिलमें समझ के, सब बुद बुदाई छोड़दे ॥
अब पंच-कोप अरु तीन-देह का, पटको शिर तें भार ॥३॥ रोग

की औषधि बतलाई, सेवन पथ से कीजे भाई ॥ दूर हो मनकी सब काई, बात यह वेदों न गाई ॥—

शेर-यह बक्त मौका सात है, कर लीजिये इस काज को ।

अब गुप्तसागर मार गोता, छोड़ जगकी लाज को ॥

इस तन का तज हंकार, चपरि के मत ना बन चमार ॥४॥

२४३ लावनी

पड़ा क्या गफ़लत में सोवे ॥ काया का काचा कोट काल की पड़े चोट रोवे ।टेक। काल का जग में माचा शोर, किसी का चले न उस पर जोर ॥ गिने नहिं साहूकार अरु चोर, आपना पर का मिलजा और—

शेर-इस काल ने खाली किये, सब लोक अरु लोकापती ।

निर्भय होकर मारता, बचता नहीं योगी यती ॥

कछु चाबि रहा मुख माहिं, कछुक तो रांधे कछु पोवे ॥१॥ सजै जो अधिभौतिक इंसार काल की पड़े न उस पर मार ॥ मोई है सब कामन का काल, काल का पड़े न उस पर जाल ॥—

शेर-अग्नि से वह जलता नहीं, जल नहिं सकता गला है ।

हवा स सूखे नहीं, क्या करे तिसका काल है ॥

कर दर्शन दिल में ध्यान ध्यान का क्यों विरथा खोवे ॥ २ ॥ कीजिये सत संगति को ओट दूर होवे मन तरे खोट । पहिर ॥ ज्ञान कवच का कोट यहां पर पड़े न यम की चोट—

शेर—चारों कहें पुकार के, ज्ञान विनु मुक्ती नहीं ।
तू समझ अपने जहन में यह बात हम तोसों कही ॥
मन तागा कर बारीक, ब्रह्म में क्यों ना अब पोवे ॥३॥ ज्ञान के सुन लीजे साधन, विवेक वैराग होय सम्पन्न ॥ विषय तें रोके इन्द्रिय मन, यही है सब पुन्यन का पुन ॥—
शेर—जब साफ अन्त कारण हो, नहिं रहे मल विक्षेप को ।
साधन कहे यह ज्ञान के, फिर पावे तिस से मोक्ष को ॥
यह पाया तुझ को वक्त, गुप्त को पाय मैल धोवे ॥ ४ ॥

२४४ लावनी

नीर बिनु चले कूप दिन रात, बिनु बैल चर्स बिनु लाव नहीं कोई, हाकनवाला साथ ॥टेक॥ कुवें पर पनघट लागे चार, नीर भरने को चली है नार । मार्ग में पड़ते विघन अपार, कूप पै पहुँचे कोई पनिहार ॥—
शेर—जिस मारग में विषयर सर्प है, दन्त बिनु सब को डसे ।
जहर सब तन में चढ़े, प्राण काया से नसे ॥
बिनु जल नहिं जावे प्यास, पास कुवें के कैसे जात ॥१॥ मिले कोई बाजीगर सूरा, सर्प का मन्त्र दे पूरा ॥ करै जब उस मन्तर का जाप, फेर नहिं चढ़ता विष का ताप ॥—
शेर—यह मन्त्र जिस के पास है, फिर सर्प का कुछ डर नहीं ।
उसको कछू संशा नहीं, वह कूप पर पहुँचे सही ॥

दूजा नहिं सकता आय, समझ हम कहते सच्ची बात ॥३॥
काइ नर आये नार के पास, दसकर मिट जावे सब प्यास ॥ पिवे
स होवे जीव का नास, मूठ जाने मुखो पियामास—
शेर-एसा जो अद्भुत नीर है पीवे सोई अरमाव है ॥
जिसने न पीया नीर यह, सो जग में गौता खात है ॥
कोइ मूरख समझे रमज बचन पानी स कहो नहिं ज्वाव ॥३॥
कूप है बिना धरणी आकाश, जहां पर कोई नहिं स्वाद ॥
सदा रहता है गुप्त प्रकाश, जगत से होकर देखा उदास ॥—
शेर-कूप अपने पास है, सतगुरु बिना समझे नहीं ॥
सब कहते सन्त पुकार के, यह बात वेदों मे कही ॥
अब करो बतन का यतन, नीर यों बही अमर सब आव ॥ ४ ॥

२४५ कवित्त (अलौकिक)

पायो नरतन यार यामें कीजिये विचार कछू सार औ असार कहा देखिये विचार के ॥ वृथा मत खोवे मूढ़ अन्ध नाहिं रोवे कैसे, भ्रम माहिं सोवे तुम्हे कहत पुकार के ॥ बार बार तोसों कही आयु जात सब बही, मानिजीजे मेरी कही टुक बात को निहार के ॥ जब पावेगा गुप्त तब होवेगा मुक्त, मूंठा जानिये जगत चित बीचे एही धार के ॥

२४६ कवित्त

काम विकराल यो तो करत है बुरो हाल, काहू से न करे

टाल सोचिये विचार के ॥ गज चींटी पर्यन्त करे सबहू को अन्त, ऐसे कहे सब सन्त काल गेरत है मार के ॥ यह काल भलो पायो नरतन यामे आयो, तज मोह और माया वैराग धार लीजिये ॥ जबलों नाहीं निरवेद तब लों पावत है खेद, यों पुकार कहे वेद गुप्तरूप जान लीजिये ॥

२४७ कवित्त

कछू कीजिये विचार नरतन को यह सार, आप-रूप को संभारकर अमिय रस पीजिये ॥ तत्वमसि को विचार देख सार वा असार, सार को विचार वा असार दूर कीजिये ॥ पावे वस्तू अनूप ताकी दीजिये न रूप कोई, आपनो स्वरूप सोई और ना पतीजिये ॥ द्वैत मन धरे सो तो गर्भ माहिं जरे, द्वैत दूर करे सो तो परमपद पाइये ॥

२४८ कवित्त

जामें हाड और चाम ऐसो वस्यो है यह गांम, करना जो काम सो तो याही माहिं कीजिये ॥ सुत दारा परिवार सब जानिये असार, तोसों कही वार वार छिन एकहीं में छीजिये ॥ कीजे काम कोउ ऐसा जामें लागत न पैसा, छोड़ दीजे ऐसा वैसा एक ईश चित्त दीजिये ॥ कहे गुप्त जो पुकार-ऐसा निश्चय धुरू धार, एक वा हजार वार यही सुन लीजिये ॥

२४६ कवित्त

पाव से चलत वस्तु कर से गहत, मुख से कहत शब्द श्रवण

दूजा नहिं सकता आय, समझ हम कहते सच्ची बात ॥२॥
कोइ नर आवे नार के पास, पलकर मिट जावे सब प्यास ॥ फिर
स होवे जीव का नाश, मूढ जाने युक्ते विश्वासास—

शेर—ऐसा जो अदृभुत नीर है, पीवे साईं मरजाव है ॥
जिसने न पीया नीर वह, सो जग में गोता खात है ॥

कोइ मूरख समझ रमत बचन वानी स कहो नहिं जाव ॥३॥
कूप है बिना धरणी आकाश, जहाँ पर कोई नहिं स्वाप ॥
सदा रहता है गुप्त प्रकाश, जगत से होकर देखा उदास ॥—

शेर—कूप अपने पास है, सतगुरु बिना समझे नहीं ॥
सब कहते सन्त पुकार के, यह बात वेदों मे कही ॥

अब करो यतन का यतन, मीर यों बही उमर सब जाव ॥ ४ ॥

२४५ कवित्त (अलौकिक)

पायो नरतन यार यामें कीजिये विचार कहा सार औ असार कहा देखिये विचार के ॥ वृथा मत खोवे मूढ, अन्त माहिं रोवे कैसे भ्रम माहिं सोवे तुझे कहत पुकार के ॥ बार बार तोसों कहो आयु जात सब बही मानिजीये मेरी कही टुक बात को निहार के ॥ जब पावेगा गुप्त तब होवेगा मुक्त, मूँठ जानिये जगत चित दीजे यही धार के ॥

२४६ कवित्त

काम विश्राम यो तो करत है बुरे हाल, काहू से न करे

२५२ कवित्त

चित्र यह विचित्र चित्र-मैन सैन संग लिये, तानके सुमन-बान जन उर मारे है ॥ मतीमान जो महान मति ताकी करैहान, मूरख अज्ञान को बखान कौन करै है ॥ ललना को लोभ देय तन धन हरिलेय, मनको संताप आप पाप माहिं डारे है ॥ ऐसो है अनंग अंग बिन संग जाय करै, मारके सुचेत मार मरेहुये मारे है ॥ गुप्त शिवको सरूप महिमा जाकी है अनूप, मार मारे चूप शिव भक्त ना निहारे है ॥ ध्रुवशिवरूप जान तासे होवे काम हान शिवके स्वरूप बिन सबको पछारे है ॥

२५३ कवित्त

देखिये सुजन जन देखने के योग्य आप, आपको निहार जाप देवका मिटाइये ॥ जाग्रत सुपन सुषोपति क्षीन मन, तिनको जो साक्षी सो तो तुरिया कहाइये ॥ ऐसा तुरिया स्वरूप तुहीं तुझ बिन और नहीं, वेद महावाक्य सही संत अनुभव से गाइये ॥ गुप्त रूप को पिछान कीजे माया मल हान, ध्रुव लक्ष जानि कहां जाइये न आइये ॥

२५४ सवैया

रूप अरूप सरूप हो भासत, देखिये चित्र विचित्र बने हैं ॥ पुत्र कलत्र मित्र आदि बहु, आख से देखत शास्त्र सुने हैं ॥ देह से आदि क्रिया जितनी, उतनी सबही पल माहिं हने हैं ॥ बांझ को

मुक्त है ॥ रूप नयन से छ्रवत रस रसना चखत, तथा शीत को सहत मन राग को धरत है ॥ देह को संघात स्पर्श देह स करत आप, देही तो असंग रंग और ना सहत है ॥ स्व से असत्य आपही को जाने मत, विचार यों करत जग-रूप ना परत है ॥ भास जो तजत गुप्त रूप को मिलत, होके चिदानन्द रूप बिनु विचरत है ॥ वेद यों मनत स्वरूप माहिं होय गत, गुरु अब पाय चुप आपही रहत है ॥

२५० कवित्त

मान अहिमान रूप आपनो पिछान, दृश्य नाशवान मान हट कैसो मेरा है ॥ कर्महीं के योग आप बनो है संयोग कर्म के वियोग भोग त्याग लेत गरा है ॥ मार्ते तूतो निष्कर्म सब वेद धर्म, सब कर्म पाप के करत नाहिं हेरा है ॥ ऐसो तत्त ज्ञान गुप्त जामें नाहीं बन्ध मुक्त, गुरु निश्चय युक्त जहां भेद ना बसेरा है ॥

२५१ कवित्त

ज्ञान सागर में न्हायो माया मलको बहायो, ऐसा राम नहीं पायो यह बात सुन लीजिये ॥ ऐसे जल माहीं न्हाये जब शांति चित आवे, तब और ना सुहावे कछु आपने में रीझिये ॥ आन्या आपने को आप जब मिट तीनों ताप, सबै कौनहू का आप क्यों काज कौन कीजिये ॥ करता मन्यो सब दूर गुप्त रूप है भरपूर, भोई आपना है पूर समझ यह लीजिये ॥

पुन्य अरु पाप करि ॥ सुख दुख भोगता, जन्मूं अरु मरूंहूं जीव अज्ञानी ॥ होश कर देख तू आपने आपको, तू कछु औरते और जानी ॥ शेरतूं केहरी भेड़ क्यों होरहा, आपनी सुधतें नाहिं आनी ॥ आपको भूल कर दुख भुगते सदा, रोवता फिरैगा चारि खानी ॥ नाकछु हुया ना है कछु होगया दीखे सुने सो भर्म मरु थल पानी ॥ जीव अरु ब्रह्म का भेद कहुँ है नहीं, सिंधू के माहिं जव बूंद सानी ॥ कहे गुप्त आनन्द सत चित आनन्द तू, गुरु औ वेद से हम यह जानी ॥

२५६ झूला

यह पाया मनुष शरीर, मास यह सावन का आया ॥ टेक ॥ दया धरम का रस्सा करिके झूला घलवाया ॥ प्रेम पटरिया रखि के जिस पर झूलन को आया ॥१॥ पांच सहेली संग में लेकर मंगल को गाया, मनुवा मगन भया डोलत है जब आप रूप पाया ॥२॥ ब्रह्म राग को गाने लाग्या, आनन्द झड़ लाया ॥ सब भरम करम मिटि गये, जहाँ पर रही नहीं माया ॥३॥ ब्रह्मानन्द को प्राप्त होकर गुप्त रूप पाया, ध्रू अब मरना दूरि हुआ नहिं फेर जन्म पाया ॥४॥

२६० झूला

झूलत है सन्त सुजान, देखि झूले की अजब बहार ॥ टेक ॥ ऐसा झूला सत झूलि कर होगये पल्ले पार ॥ भवसागर की

पुन्य अरु पाप करि ॥ सुख दुख भोगता, जन्मूं अरु मरूंहू जीव अज्ञानी ॥ होश कर देख तू आपने आपको, तू कछु औरते और जानी ॥ शेरतूं केहरी भेड़ क्यों होरहा, आपनी सुधतें नाहिं आनी ॥ आपको भूल कर दुख भुगते सदा, रोवता फिरैगा चारि खानी ॥ नाकछु हुया ना है कछु होगया, दीखे सुने सो भर्म मरु थल पानी ॥ जीव अरु ब्रह्म का भेद कहुँ है नहीं, सिन्धू के माहिं जब बूंद सानी ॥ कहे गुप्त आनन्द सत चित आनन्द तू, गुरु औ वेद से हम यह जानी ॥

२५६ झूला

यह पाया मनुष शरीर, मास यह सावन का आया ॥ टेक ॥ ्या धरम का रस्सा करिके झूला घलवाया ॥ प्रेम पटरिया रखि ् जिस पर झूलन को आया ॥१॥ पांच सहेली संग में लेकर ंगल को गाया, मनुवा मगन भया डोलत है जब आप रूप ाया ॥२॥ ब्रह्म राग को गाने लाग्या, आनन्द झड़ लाया ॥ सब भरम करम मिटि गये, जहाँ पर रही नहीं माया ॥३॥ ब्रह्मानन्द को प्राप्त होकर गुप्त रूप पाया, ध्रू अब मरना दूरि हुआ नहिं फेर जन्म पाया ॥४॥

२६० झूला

झूलत है सन्त सुजान, देखि झूले की अजब वहार ॥ टेक ॥ ऐसा झूला संत झूलि कर होगये पल्ले पार ॥ भवसागर की

मदियाँ गहेरीं, बह गये मूढ़ गंवार ॥ १ ॥ गगन मंडल में मू झाला, पवन चले यक तार ॥ इड़ा पिंगला सुषुम्नाद्वारा, दसवें द्वार ॥२॥ निर्भय होकर रहे जहाँ पर पड़े न काल की मार अजपा ताली लगी गगन में टूटत नाहीं तार ॥३॥ शुभ शुभ बाज बाजे महानन्द झंकार ॥ ढोलक झाँझ बजे हरमुनियाँ घुरू सितार ॥४॥

२६१ झूला

ना जानों कल क्या होय, मान कर लीजे सारो काम ॥टेक नर–नारायणों देह मिली है, सब शोभा का साज ॥ इसमें गफलत नहिं करनी मू । सभी समाज ॥१॥ काल सभी के सि पर खेल, क्या रइयत क्या राज ॥ पल में तोकों पकड़ि पवा ज्यों तीतर को बाज ॥२॥ सत संगति नौका में बैठो छोड़ की लाज ॥ वेद टेर कर कहता तोको, सब प्रमाण सिरताज॥ शुभ रूप को जल्दी पावे मिटै विषय की खाज ॥ महान मगन भए मनमें, भुव निश्चय भयो आज ॥४।

२६२ झूला

कहूँ तोहि समुझाय, चलो दुक झूल का आनंद ।टेक। झूल पर जा नर झूलन, कटि जाय जम फन्द ॥ आशा तृष्णा राग द्वेष जहाँ कोइ नहीं दुख द्वंद ॥१॥ जिन झूले पर झो पाया, पार भवभवसिंध ॥ जानत हैं कोई जानन हारे, क्या

मति मंद ॥२॥ झूला झूलत मिला पियारा, आनन्दन का कंद ॥ सभी जगह मे व्यापक ऐसे, जैसे गुलों में गंध ॥३॥ ब्रह्मानन्द भरा है सब में सोई गुप्तानन्द ॥ ध्रुव यह बात समझ के विचरत, ज्यों पूनम का चन्द ॥४॥

२६३ झूला

जगमें सोई बड़ भाग, सुजन जन झूलि रहे झूला ॥ टेक ॥ सुख दुख सभी एक सम जाने, ना कोइ प्रतिकूला ॥ सब कर्म भये जल छार, जल्या जब ज्ञान अगिन चूला ॥१॥ हुआ ज्ञान अगिन परकाश, अविद्या नाश-गई मूला ॥ हम रहते हैं वे खौफ कहा अब कर सकती तूला ॥२॥ सुख के सागर गोता मारा मिटि गई सब सूला । जब उघड़े ज्ञान कपाट, मोक्ष का दरवाजा खूला ॥३॥ उड़ी गुप्त खुसबोय, फूऊ यक ब्रह्मानन्द फूला ॥ ध्रुव निश्चय भयो अगाध नहीं कुछ जान्या नहिं भूला । ४॥

२६४ झूला

रहो सुरत हिंडोले झूल, मूल में भूल नहीं पाई ॥टेक। धुन सुन मनवा मगन भया है, सुरता मुसकाई ॥ एक अखडित ब्रह्म सुन्या जब, आप रूप पाई ॥१॥ द्वैत अद्वैत भूल गई सब ही, जहा कोइ जीव नहीं माई ॥ ज्यों लोन पुतरिया जाय समुद्र में उलट नहीं आई ॥ २ ॥ शुद्ध रूप को जिसने पाया, मिटि गई सब काई ॥ कहन सुनन में कछु नहिं आवै, बात यह समझन को

भाई ॥ ब्रह्मानन्द में मगन भई जब, आनन्द अधिकाई ॥ पाया है गुप्त जहाँ पर भेद नहीं राई ॥४॥

२६५ मूला (रसिया)

आयो सावन य मन भावन चाओ गुप्तेश्वर दरबार ।टेक चित्त का चंदन प्रेम की पाती, सुरत पुष्प ले हार ॥ भाव कर द्वधा और माखन, छुटत दूध की धार ॥ १॥ संयम का प्र याउ किया है ज्ञान धोपलियो मार ॥ गुप्तेश्वर की पूजा करो पाया भावम योहार ॥२॥ ज्ञान घटा जब चढ़ी उमड़ के, पड़ लगो फोहार ॥ मन चातक अब करने लागया, ब्रह्मानन्द पुका ॥३॥ ध्यानध्यान में चमक बिजली, चमक रही चमकार ॥ ब्रह्मान गुप्त भयो मतवार, करता मुक्त पुकार ॥४॥

२६६ मूला

कर दिलमें देखो स्याल आज क्यों बिरथा खोवे । टेक चक चौरासी भरमत आया फर क्या गफलत में सोवे ॥ म मानुष तन छुटि जाय, मूढ़ फेर सुबुक सुबुक रोवे ॥१॥ धन धाम समय और धाम देखिके इनको क्यों मोहे ॥ अन्त समय के माहिं तेरा यहाँ कोई नहिं होवे ॥२॥ भज परमातम एक वरे वह सब दुःख का नाशे ॥ जनम मरन का छुटि जाय चक्कर, आनंद जब होय ॥३॥ कर ब्रह्मानंद विचार, गुप्त में क्यों न मन माय ॥ पूरु निश्चय कर कीजै सुघरे, जब एक ब्रह्म आवे ॥४॥

२६७ झूला (रसिया)

तुझे कहता गुप्त पुकार, वखत यह तुझको पाया है ॥टेक॥ जगत शहर में जीव वेपारी, सौदे आया है ॥ अब सौदा कीजे समझ बहुत टोटे ने खाया है ॥१॥ जो सौदागर सौदे आया, रहने न पाया है ॥ यह काल शेर विकाराल, जिसे सब कोई खाया है ॥२॥ ज्ञान कवच को पहिर, सभी यह झूठी माया है ॥ लिया तत् का तेग बनाय, काल नियरे नहिं आया है ॥३॥ जिस को पाया है नफा, सोई ब्रह्मानन्द न्हाया है ॥ गोता गुप्त लगाय, धुर फिर उलट न आया है ॥४॥

२६८ झूला (रसिया)

रंग बरसै ब्रह्मानन्द, चन्द जहां सूर नहीं तारा ॥टेक॥ ना कोई परकाश जहा पर, न कोइ अन्धियारा ॥ हम देखा तराजू तोल नहीं, कछु हलका नहीं भारा ॥१॥ जहां नहीं पिंड नहि प्राण, नहीं कोइ आधेय आधारा ॥ जहाँ सूक्ष्म स्थूल, तहाँ कोइ म्हारा नहिं थारा ॥२॥ जहा एक नहिं दोय, वहाँ कोइ मिला नाहि न्यारा ॥ सब माया गई बिलाय, छूटि रही है चेतन धारा ॥३॥ जहा नहिं गुप्त नहिं प्रगट, जीव अरु ब्रह्म सभी जारा ॥ जहां नहिं ध्रुव नहिं चले, जहाँ पर मधुर नहीं खारा ४॥

२६९ झूला

घट में भया ज्ञान का घोट, पीसि लिये बुद्धि और आभास ।।टेक।। व्यापक ब्रह्म आपको आत्मा, पूरण स्वत प्रकाश ।। जीव ईश की मिटी उपाधी, कैसे अब करिये कर्म उपास ।। १ ।। स्वर्ग नरक एक करि जान्या, रही न यम की त्रास ।। भेद भरम सब दूर हुआ, सोई कुरखो सोई कैलास ।। २ ।। ब्रह्मपुरी अरु भंगी का घर, समझी एक नास ।। ऐसी बात समझ के प्यारे, सब छुटी जगत की आस ।। ३ ।। अन्धकार मिटि गया, दसों दिशि हुआ ब्रह्म उजिआस ।। गुप्त रूप भया परघट, ध्रुव अब करत आगे हास ।। ४ ।।

२७० झूला

जिसको समझी पद रमण त्रियों की दूरि हुई शंका ।।टेक।। उड़िगया कोट अज्ञान टूटी जैसे रावन की लंका ।। सब काम असुर हुये नाश काल रावन का किया फंका ।। १ ।। चढ़ि उतरे ज्ञान के सेत, जिज्ञासु रामचन्द्र बंका ।। अब पाई सीता मोक्ष जीत का बाजा है डंका ।। २ ।। ब्रह्मराज में अचल भया सब, खुशी भई रंका ।। चढ़ि सुरती पुष्प विमान, अवध का आनि किया टंका ।।३।। आनन्द में सब अवध बीतती, शोक सब दूरि हुआ मन का ।। ध्रुव

गुप्त ब्रह्म को पाय, फेर कछु शोच नहीं तन का ॥ ४ ॥

—०—

२७१ ख्याल (मस्ती)

कोइ हाल मस्त कोइ माल मस्त, कोइ मैंना तीतर सूये में ॥
कोइ खान मस्त पहिरान मस्त, कोइ राग रागनी धूहे में ॥
कोइ अमल मस्त कोइ रमल मस्त, कोइ सतरंज चौपड़ जूये में ॥
यक खुद मस्ती बिन और मस्त, सब पड़े अविद्या कूवे में ॥ १ ॥
कोइ अकल मस्त कोइ शकल मस्त, कोइ चचलताई हाँसी में ॥
कोइ वेद मस्त कत्तेब मस्त, कोइ सेवक में कोइ दासी में ॥
कोइ ग्राम मस्त कोइ धाम मस्त, कोइ मक्के में कोइ काशी मे ॥
यक खुद मस्ती बिन और मस्त, सब फँसे अविद्या फाँसी में ॥२॥
कोइ हाट मस्त कोइ घाट मस्त, कोइ बन परबत उजियारा में ॥
कोइ जात मस्त कोइ पांति मस्त, कोइ तात भ्रात सुत दारा में ॥
कोइ धरम मस्त कोइ करम मस्त, कोइ मजहब ठाकुर द्वारा में ॥
यक खुद मस्ती बिन और मस्त, सब बहे अविद्या धारा में ॥३॥
कोइ पाठ मस्त कोइ ठाठ मस्त, कोइ भैरों में कोइ काली में ॥
कोइ ग्रन्थ मस्त कोइ पन्थ मस्त, कोइ खेत पीतरंग लाली में ॥
कोइ काव्य मस्त कोइ ख्वाब मस्त, कोइ पूरण में कोइ खाली में ॥
यक खुद मस्ती बिन और मस्त, सब फँसे अविद्या जाली में ॥४॥
कोइ राज मस्त गज बाज मस्त, कोइ छपरे में कोइ पूले में ॥

कोइ युद्ध मस्त कोइ क्रुद्ध मस्त, कोइ खड्ग कुठार बसूले में ॥
कोइ प्रेम मस्त कोइ नेम मस्त, कोइ छींके में कोइ मूले में ॥
यक सुर मस्ती बिन और मस्त सब पड़े अविद्या भूले में ॥ ५ ॥
कोइ शाकि मस्त कोइ शाक मस्त, कोइ मल मल में कोइ खास में ॥
कोइ योग मस्त कोइ भोग मस्त, कोइ स्थिर में कोइ चपल में ॥
कोइ ऋद्धि मस्त कोइ सिद्धि मस्त, कोइ लेन देन की कलकल में ॥
यक सुर मस्ती बिन, और मस्त सब फँसे अविद्या दलदल में ॥६॥
कोई रतन मस्त कोइ पतन मस्त, कोइ पशु पक्षी के सावक में ॥
कोइ नैन मस्त कोइ बैन मस्त कोइ लकड़ी में कोइ चाबुक में ॥
कोइ सैन मस्त कोइ चैन मस्त, कोइ नइया में कोइ बावक में ॥
यक सुर मस्ती बिन और मस्त सब पड़े अविद्या पावक में ॥७॥
कोइ इस्त मस्त कोइ भ्रष्ट मस्त कोइ महिनी में कोइ माढ़े में ॥
कोइ नाम मस्त कोइ चाम मस्त, कोइ ईंटे में कोइ खम्बे में ॥
कोइ हुक्म मस्त कोइ चिलम मस्त, कोइ भाहर में कोइ पाणी में ॥
यक सुर मस्ती बिन और मस्त सब कटे अविद्या कांटी में ॥८॥
कोइ जीव मस्त कोइ सीव मस्त, कोइ पुस्तक में कोइ पानी में ॥
कोइ मूल मस्त कोइ तूल मस्त, कोइ शाखा में कोइ बढ़ने में ॥
कोइ लोक मस्त परलोक मस्त, कोइ ताने में कोइ बाने में ।
यक सुर मस्ती बिन, और मस्त सब कैद अविद्या खाने में ॥९॥
कोइ ऊर्ध्व मस्त कोइ अर्ध मस्त कोइ बाहर में कोइ अन्तर में ॥
कोइ देश मस्त परदेस मस्त कोइ औषध में कोइ मन्तर में ॥

कोइ धाम मस्त कोइ वाम मस्त, कोइ नाटक चेटक तन्तर में ।।
यक खुद मस्ती विन, और मस्त सब भ्रमे अविद्या जन्तर मे।।१०।।
कोइ पुष्ट मस्त कोइ तुष्ट मस्त, कोइ दीरघ में कोइ छोटे में ।।
कोइ गुफा मस्त कोइ सभा मस्त, कोइ तूबे में कोइ लोटे में ।।
कोइ ज्ञान मस्त कोइ ध्यान मस्त, कोइ असली मे कोइ खोटे मे ।।
यक खुद मस्ती विन और मस्त, सब घुटें अविद्या सोटे में ।।११।।
कोइ मजब मस्त कोइ गजब मस्त, कोइ कौड़ी में कोइ पैसे में ।।
कोइ एक मस्त कोइ दोय मस्त, कोइ गैया मे कोइ भैंसे मे ।।
कोइ मण्डल मस्त कोइ पण्डल मस्त, कोइ चेले मे कोइ चेली में ।।
यक खुद मस्ती विन और मस्त, सब चले अविद्या गैली में।।१२।।
कोइ टूक मस्त कोइ भूख मस्त, कोइ नगे में कोइ चगे में ।।
कोइ भवन मस्त कोइ गवन मस्त, कोइ मौन मस्त कोइ दगे मे ।।
कोइ नदी मस्त कोइ वदी मस्त, कोइ तीरथ में कोइ चेतर में ।।
यक खुद मस्ती विन और मस्त, सब जमे अविद्या खेतर मे ।।१३।।
कोइ टिकट मस्त कोइ विकट मस्त, कोइ घटो में कोइ सिगल में ।।
कोइ तार मस्त पलगार मस्त, कोइ कसरत कुश्ती दंगल में ।।
कोइ बूट मस्त कोइ कोट मस्त, कोइ टोपी में कोइ कुर्त्ते में ।।
यक खुद मस्ती विन और मस्त सब, कुटे अविद्या जूते में ।।१४।।
कोइ राग मस्त कोइ बाग मस्त, कोइ ढोलक झांझ सितारे में ।।
कोइ शैल मस्त कोइ महल मस्त, कोइ करते शयन चौवारे में ।।
कोइ ताल मस्त कोइ ख्याल मस्त, कोइ सारगी धोतारे में ।।

यक सुर मस्ती बिन और मस्त सब, घस अविद्या गारे में ॥१५॥
कोइ रूक मस्त कोइ संत मस्त, कोइ सन्यासी पन्थाई में ॥
कोइ कुम मस्त कोइ अंग मस्त, कोइ पटे महेलेटी रमाई में ॥
कोइ हिन्दु मस्त कोइ मुसल मस्त, कोइ काजी पंडित मुल्ला में ॥
यक सुर मस्ती बिन और मस्तसब, फंसि अविद्या गल्ला में ॥१६॥
ये लौकिक मस्त कहां लग बरनों, है माया के संग में ॥
करे कौन इनकी गिनती, सब अपने है रंग संग में ॥
यक छिन में हुए पुत्र यक, छिन में रिवत लगा अमंगल में ॥
यक सुर मस्ती बिन और मस्त सब, भूलि रहे अविद्या जंगल में ॥१७॥

दोहा—

वस्तु अनातम में फँसे, त्यागा आतम रूप ।
दुनियां में भटकत फिरे, ते मूढ़न के भूप ॥
आतम वस्तु त्यागि के, करें जगत की आस ।
मृग तृष्णा के नीर से, दूर न होवे प्यास ॥

२७२ छप्पय छन्द

सो मर जावे संत अंत जिन जागत कीना, करी अविद्या नाश आप परिपूरण चीना ॥१॥ रहो न भेदको मूल शुद्ध अज्ञान हिराना, अद्वय अमल अपार रूप जिन निश्चय आना ॥२॥ शंका रहान कोय माह व्यापे नहिं माया ना कोई चाह न भाव नहीं कोई कम्पी जाया ॥३॥

सदा अखंडित आतमा, चेतन पूरण शुद्ध ।
गुप्त गज़ी मे बैठ कर, कोइ लखे संत पर बुद्ध ॥ ४ ॥

२७३ छप्पय छन्द

जग तजे न माया मोह, नाम'अतीत कहावे। घर में लेहि कुलीद भीख पुनि माँगन जावे ॥१॥ कहें एकांत बनवास संग बहु द्वंद तचावें, सोवे निरंतर रात दिन, कहे हम ध्यान लगावे ॥२॥ सो धन मध मलीन मुख, भूप सेज कर पौल पर ॥ वन लिपस्या व्याकुल महा, सरमा पति समाइत पर ॥३॥ हर का पंथ सो दूर पंथ वह आप चलावें, रही फकीरी दूरमांगिकर पेट अघावें॥४॥ रैनि करें रति भोग दिने पुनि भस्म रमावै ॥ आप करें सब पाप और को धर्म सुनावें ॥५॥

इस भांति अतीत जो मैं लखे नख शिष तें अभिमान अति ।
निशि बासर दमड़े चहे कबहुँ न होवें राम रति॥ ६ ॥

दोहा—

चाम चिरड़ सब जगत है, चक चूंधर पढ़ी पुरान ।
षट शास्त्री पागल भये, वेदांती को उल्लू जान ॥
ये चारिहु अन्धे भये, बिना स्वरूप के ज्ञान ॥
गुप्त रूप में घट लखो, नित्य अनित्य को छान ॥

२७४ मराठी छन्द

जब तू भूला अपने आपको तब से पाप लगा भारी, जन्म

मरन का अन्त न आया, बहुत धरा सिर पर भारी ॥ कभी भया तू पुरुष नपुंसक, कभी भया है बल धारी ॥ बड़ बड़े योधा रण में जीते, युद्ध किया है अति भारी ॥ कभी भया तू राजा राणा, कभी भया आज्ञाकारी ॥ कभी तो दर दर फिरे माँगता, कहीं सन्यासी अरु ब्रह्मचारी ॥ कभी तू ब्रह्मा कभी तू विष्णू, कभी बना है त्रिपुरारी ॥ सब पुरीका अधिपति होकर, भोग भोग बहुत मारे ॥ जब लग अपना आप न जाना, तब लग विपति सही भारी ॥ अब तो कहूँ समझले प्यारे, मार अविद्या मंजारी ॥ ताकी मनको पकड़ि पछारो, वश कोजे पाँचो नारी ॥ तत्त्वमसीका अर्थ विचारो, छोड़ि जगत का सब यारी ॥ गुरु वेद का आशय समझो, श्रद्धा करिके अति भारी ॥ तत्त्व मसीका अर्थ बतावें ऐस गुरु पर बलिहारी ॥ वाच्य अर्थ का त्याग करो, अरु लक्ष्य अर्थ की कर त्यारी ॥ गुप्त रूप घट माँहि विचारो, यात कही सो सों सारी ॥

२७५ मराठी छन्द

जो तू सधा राम सनेही फेर जगत स नेह कहा ॥ जो तुमने घरबार तजा सब, फेर दुवारे में काम कहा ॥१॥ तुम रूप जान कर कुटुम्ब तजा फिर, सेवक सती में आराम कहा ॥ जाति बरण सब छोड़ि दिया, तब फेर मजब की दूकान कहा ॥ ॥ सो है मूर्ख रामसनेही जो इन बातों में अटकाया ॥ राम दुवारा में कथा सुनावे हाथ लिये बाणी गुटका ॥२॥ औरन को उपदेश बतावे आप फिरे जगमें भटका ॥ ज्ञान ध्यान की राह न पाई, कनक कामिनी

में अटका ।।४।। गुप्त मते की खबर नहीं फिर, क्या फेरे कंठी माला ।। चेला चेली फिरे मूंडता रामसनेही का साला ।।४।।

२७६ मराठी छन्द

पहलवान जग के बहु जीते, फते किये कुल ही सारे ।। मद हंकार मान मे धस गया, अन्दर लूट रहे सारे ।। ये नित्य झपट रहे हैं तो पर, चश्म खोल देखो प्यारे।। क्या मस्त हुवा तू फिरे जगत में, तेरे अन्दर पहलवान भारे ।। यक पहलवान मन चालीसा है, जिसके ये चेले सारे, दस शागिर्द संग में रहते, पंच करे न्यारे न्यारे ।। जो कोई इन से कुश्ती जीते, पहलवान होवे पूरा ।। कायर को ये पकड़ि पछारें, कोई जीतत है शूरा ।। जिन गुप्तानन्द को पाय लिया, उन कुश्ती जीतो दंगल में ।। हर्ष शोक सब मन के नाशे, अवध्य जात है मंगल मे ।।

२७७ त्रोटक छन्द

आतम नितही परकासत है, तत्व वेत्तनकों यों भासत है ।। जाग्रत में सबको जानत है, स्वप्नेके माहिं पिछानत है ।।१।। सुषुपति में सबका भोग करे, तुरिये मे साक्षी रूप धरे ।। यह आतम अनुगत एक रहे, सब देहन का व्यतिरेक रहे ।। २ ।। विश्व नहिं तेजस प्राज्ञ सभी, तुरिया तो कैसे होय जभी ।। ऐसा निज आतम रूप तुही ।। अस्ति भाति प्रिय रूप सही ।। ३ ।। सो व्यापक ब्रह्म अखड सदा, तिसको नर जाने मूढ जुदा ।। सत चेतन आनन्द शुद्ध तुही, धोखे महँ दुनिया जात वही ।।४।।

२७८ त्रोटक छन्द

सतसंगति नौका बैठत ना, सतगुरु केवटिया जांचत ना ॥ कैसे उतरे भव पार जना, दिन रात लगा धन धाम मना ॥ १ ॥ तरने का सकल समाज बना, वृथा डूबत है मूढ़ जना ॥ सतगुरु के शब्दा जागत ना य मोह नींद से जागत ना ॥२॥ नित चौकस यार जगावत है, फिर आलस कर सोजावत है ॥ अब घोर निशा में लूटत है, आग सब धातो कूटत है ॥ ३ ॥ अब परम सुखी है अन्दर की, सब वस्तु भरी मन्दिर की ॥ अब गुप्तरूप को पाया है, नहिं काल कर्म जहँ माया है ॥४॥

२७९ त्रोटक छन्द

जहाँ राम रहीम करीम नहीं । अल्ला ईश्वर की सीम नहीं ॥ जहँ रंग रूप का भेद नहीं । कोई स्थिरता अरु भ्रम नहीं ॥ १ ॥ जहँ कागज स्याही कलम नहीं । लिखना पढ़ना कोइ इल्म नहीं । जहँ वेद कतेब कुरान नहीं । कोइ देवल देव निशान नहीं ॥ २ ॥ जहँ चन्द्रम तारा भानु नहीं । कोइ साधन साध्य अरु ज्ञान नहीं ॥ अष्टाँग न योग समाधी है । कोइ सादो नाहिं अनादी है ॥ ३ ॥ चेतन चमकारा चमकत है । जहँ ज्ञान ध्यान सब कल्पित है ॥ जो इन गलियन में जावेगा । सो गुप्तरूप को पावेगा ॥४॥

दोहा—

जो दीखे सो है नहीं, नहिं दीखे सो जान ।
वृत्ति खपणा कीजिये, कर अनुभव परमान ।

२८० वैत (वार)

आदित्यवार निवार सब, संभार अपने आप को ॥ और भरम सब छोड़िकर, नर जपो असिमजाप को ॥१॥ सोमवार अब धार समता, जार दूजा भावने ॥ मनुप जन्म की मौज पाई, फेरन ऐसा दाववे ॥ २ ॥ मंगलवार निहार ले छवि चहूँ दिशि आनन्द भयो ॥ सत चित्त आनन्द एक लखि, सब ताप त्रय मन के गये ॥३॥ बुद्धवार विचार ले, अपार वार सरूप वे ॥ पारा वारकी गम्य नाहीं, नहिं जहं छाया धूपवे ४ ॥ बृहस्पतिवार उच्चारता गुरु, गम्य लखि वेहद गये ॥ हदका दरजा छोड़ि कर, तुह देख आनन्द नित नये ॥ ५ ॥ शुक्रवार पुकारि कहता, पश्चिम को मत जाइवे ॥ पश्चिम दिशा को शूल है, नर आवे पैर फोड़ाय वे ॥ ६ ॥ शनिचरवार जोहार गुरु को, करत हजारन वार वे ॥ पकड़ि भुजा जिन काढिया, जन बहे जात मझधार वे ॥७॥ सात वार विचार ले, नर सार सब तोसों कहा ॥ तत्वं पद को शोधिले, फिर गुप्त असिपद तुहि भया ॥ ८ ॥

दोहा—

वार वैत के अर्थ का, मन में करै विचार ॥
जीवन मुक्ति लहे वही, जन्म न दूजी वार ॥
साची पूरन एक है, डोगर डहर दयाल ॥
अधंऊर्ध अरु दसों दिशि, ना कहुं जोरा काल ॥
सो आतम कूटस्थ है, नहीं ब्रह्म से भेद ॥

भेद पाप को दूर कर, सदा पुकारे वेद ॥
भेद उपाधी कृत है, सो तू मिथ्या जान ॥
तू भूमा सुख रूप है, यही ब्रह्म का ज्ञान ॥
और ज्ञान सब ज्ञानकी, ब्रह्मज्ञान सोइ ज्ञान ॥
ऐसे गोला ज्ञान का, करता आप मैदान ॥

२८१ बैत

यदि जानि आतम सार वे, जो आवे कहन सुनन में सबहि को जान असार वे ॥१॥ लौ खाकिये हैं काल ने चौबीस पर भी मारके ॥ जो चक्रवर्ती राव थे, सब ही की नहि गई मारके ॥२॥ अनगिनत विष्णू चतुरमुख थे, अनगिनत शंकर गये ॥ इनके साथी और भी सब काल ने चटनी किये ॥३॥ आगे जो बाकी रहे, एक दिन सब को खायगा ॥ तारा धरा सुमेरू चारु, सब ही भस्म होय जाहि वे ॥४॥ यह समझ बात विचारके इस देह की क्या आस वे ॥ फँसि कर अविद्या जाल में, झूठ करे परपंच वे ॥५॥ भेद सत्यावी क्यों तिसकी जो मान नाहिं वे । सब झूठा नाम मय रूप है, क्यों उपजता तिस माहि वे ॥६॥ जिमि नाम नामी भासते है, ख्याल के मंझार वे ॥ पूज्य पूजक और पूजा दृश्य के आधार वे ॥७॥ सुन आप केवल गुरु परषद, करके दृढ़ अभ्यास वे ॥ सो समझ तेरा रूप है, सब कालहू का काल वे ॥८॥

२८२ सवैया छन्द

पिय से नाहिं मिली अबकी, सब गुरुजो के लोक सों लाजि रहो

है ॥ जब साज सज्या तब खेल तज्या, वह बाप के ताख मे मेलि गई है ॥ जैसे स्वप्ने मे देव बनाय लिया, तिस देवकी सेव में आयु गई है॥ जागि उठावत देखि रहा, तहाँ देवरु दास की गंध नहीं है॥

सोरठा—

गुप्त गली के माहिं, ना कोई देव न दास है ॥
दीजो भर्म बहाय, एक अद्वितीय आप है ॥

२८३ वैत

बदे जान आतम रूप वे, इस नर के तन को पाय कर क्यो पड़त है भव कूप वे ॥ भव तरन काया बाट है, सतसग नौका वैठ वे ॥ मिलि कर गुरू मल्लाह से, इस भवके सकट काटिवे ॥१॥ जो काज करना कालि है, कर लीजिये तिसे आजवे ॥ नहिं खबर क्षण एक की, यह बिगड़ी जावे साजवे ॥२॥ इस धोंखे में बहुत गये हैं, आनि पकड़े कालवे ॥ माटी मिलाये भूप भारे लुटगये धन माल वे ॥३॥ भक्ती करम निष्काम के अब, साज को तुह साज वे ॥ जिस करके पावे ज्ञान को, इस जगत से मत लाजि वे ॥ ४ । सब ही अविद्या जाल की, यह ईश ने भेपज रची ॥ 'अह-ब्रह्म' में आप हू, यह बात जिन के उर जची ॥५॥ जनम जिसका सफल है, पाया है अपना आप वे ॥ शांत होके विचरते, छुटि गये हैं तीनों ताप वे ॥६ । शका न माने लोक की, कछु समझते नहि वेद वे । गुरु वेद या भय मानते हैं, जिनके कुछ भेद

से ॥७॥ यह शुभ गुप्तानन्द है, जिनको नहीं दुख द्वन्द से ॥ यदि आप दिव्यानन्द है, नहिं पड़े भ्रम के फंद से ॥७॥

दोहा—

साबुन ज्ञान लगायकर, माया मल को धोय ॥
शीश शिला फटकारि के, फेर न मैला होय ॥

२=४ वैत तिथी

पूनम पूरण आतमा है, अस्ति भाति प्रिय सदा ॥ सच्चित् आनन्द एक है, सब से मिला सब से जुदा ॥१॥ एकम् एक निहार ले, नर क्या देखे दूर से ॥ इसके जन्मादिक क्यों कहा, सो समझ तेरा नूर से ॥२॥ दूज दुतिया दूरकर, तू सदा आपहि आप से ॥ जन्मा न मूआ है कभी कोइ नहीं माई बाप से ॥३॥ तीज तीनों से जुदा, तू कोल वरसे जाग से ॥ जाग्रत स्वपन सुषोपति, नहिं विश्व तेजस प्राज्ञ से ॥४॥ चौथा चौथा पद है तुरिया, सब कूटन का कूट से ॥ तू सर्व में अनुस्यूत है, नहिं कारण सूक्ष्म स्थूल से ॥५॥ पंचमी प पंचकोष तू नर, सर्व का परकाश से ॥ तू आप चेतन है सही, फिर करै किसकी आश से ॥६॥ छट ज्ञान देखो दूध पानी, हंस होकर आप से ॥ तू आप साक्षिक सुखस्वरूप फिर करै किसका जाप से ॥७॥ सातम सुख स्वरूप तेरा दुःख का नहिं लेश से ॥ तू क्या भूला भरम में, दुख देखना अपना देश से ॥ ८ ॥ आठम आठों पुरी खोजो, आपन आप सँभाल से ॥ भूत भविष्यत् वर्तमान, तहं सब काल्पन

का काल वे ॥९॥ नवमी नव द्वारन पुग्या यह, देही आतम आप वे ॥ करता नहीं करावता कछु, नहीं पुन्य न पाप वे ॥ १०॥ दसमी दम का खोज करले, देख आप संभाल वे ॥ यह जड़ हवा नहिं रूप तेरा, तुंह लालन का लाल वे ॥११॥ एकादशी का वर्त आया, कीजे ताहीं संभाल वे ॥ दस इन्द्रो मन रोकना, सब,छाडि जग जंजाल वे ॥१२॥ द्वादशी दसों दिशि आतमा है, व्यापक ज्यों नभ रूप वे ॥ दूजा हुया नहीं होयगा, किसकी दिये तहँ रूप वे ॥ १३ ॥ त्रयोदशी जहँ त्याग नाहीं, ग्रहण भी कछु नाहिं वे ॥ कर्ता क्रिया कर्म नाहीं, नहिं न्यारा नहिं माहिं वे ॥१४॥ चौदश चतुर्दशभुवन नाहीं, नहीं तीनों लोक वे ॥ राग द्वेश की गन्ध नाहीं, नहीं हर्ष न शोक वे ॥१५॥ पंचदशी पावन आत्मा जहं नहिं प्रकाशत चन्द वे ॥ बन्ध मोक्ष का भर्म तज, तुह आप गुप्तानन्द वे ॥ १६ ॥

दोहा—

तिथी बैत के अर्थ का, चित दे करो विचार ।
जो याको धारन करै, पहुचे भव के पार ॥

२८५ बैत (नैष्ठिक)

जिस कारन फिरा बन परवत मझार ॥ और देखे है हमको हजारों बजार ॥ पाया नहीं हमें उसका दिदार ॥ इस जग में हुया हूँ मैं अतिशय खुवार ॥१॥ मिले मुरशद हमें जब कीना विचार ॥ इस तन मे लखाया हमें वोही यार ॥ उस दिलवर को

देखो है दिल में बहार ॥ झलके सूर चन्द्र यहाँ लाखों हजार ॥१॥ नहिं तोल मोल नहिं हलका न भार ॥ नहीं दूर नेरे कछु नहीं वार पार ॥ सत गुरु लखाया है सबका जो सार ॥ आपे में दिखाया है अपना दिदार ॥२॥ नहीं वार मोमें नहीं कछु पार ॥ भीतर औ बाहर मेरा एक सार ॥ घर में न देखे यह जावे बहार ॥ वस्तु गुप्त इस काया मंझार ॥ ४ ॥

२८६ बैत

पाया है हमने अमोलक जो लाल ॥ मिले सतगुरु जो पूरे हमको दयाल ॥ काटा है जिनने सब माया का जाल ॥ कीनी मेहर किया हमको निहाल ॥१। झूठा जगत यह माया का ख्याल ॥ जैसा जहाँ का ये सारा मन पताल ॥ तीनों जगत का जो जाने है हाल ॥ जो जानन में आवे सो झूठा है कमाल ॥२॥ दौलत अरु दुनियाँ खजाना और माल ॥ सब रह जाय यहाँ ही जब पकड़ेगा काल ॥ देखो कर्मों को होवेगा हाल ॥ कोई साथ ना चले तेरी या नाल ॥३॥ नहिं रिश्वत को लेके यह करता है टाल । करता बखत पर यह सब की परताल ॥ विवेक अरु वैराग की कीजिये नाल ॥ गुप्त ज्ञान गोली से मारो न काल ॥ ४ ॥

२८७ बैत

इस मनस को रोके यह करता हैरान ॥ नित उठके करता विषयों का जो पान ॥ इस किया खुब गुन्डा और जो बेईमान ॥

कुछ देखो समझ के कर अपनी पिछान ।।१।। वन्दा नहीं अजव तेरी जो शान ।। तुहीं खुद खुदा है क्यों होता हैरान ।। टुक समझ के रमज को करदे मुकाम ।। जिस करके मिलेगा अव तुमको आराम ।।२।। और कीजे नहीं कोइ दूजा जो काम ।। खुद अहं खुद अहं कहो आठोहि याम ।।सव पानी में गेरो कितावो कुरान ।। कुछ इनते न होता है दिल में आराम ।।३।। यक सच्चा अलिफ आप मूंठा जहान ।। सव छोड़ो न यारो मजव की दुकान ।। तुम्हे कहता गुप्त यह नुसखा पिछान ।। करले दवाई होय रोगों की हान ।। ४ ।।

२८८ वैत

जैसे तिलो मे तेल है गुलो में सुगंध ।। त्यों काया में आतम सदा है निरवंध ।। जैसे जल मे दरियाव और कल्पित है सिंध ।। तैसे काया अरू आतम का जानो सम्बन्ध ।।१।। जैसे गुण में होय पन्नग का भान ।। तैसे आतम में करता कर्म ऐसे जान ।। जैसे पुंवे के खींचे से छूटे है तार ।। तैसेहि जानों सव जग का विस्तार ।।२।। वह तो परिणामी यह विवर्त पिछान ।। सुवर्ण और भूषण का एकहि मुकाम ।। जैसे मृदू मे मिथ्या घटादी असार ।। मन्दिर औ मसजिद सव झूठे वजार ।।३।। जैसे गगन में नीले का व्है भान ।। तैसे आतम में तू काया पिछान ।। जैसे लोहे में मिथ्या सभी हथियार ।। गुप्त आतम में ऐसेहि जानों संसार ।।४।।

रहो है दिल में महार ॥ झलकें सूर चन्दा वहाँ लाखों हजार ॥२॥ नहिं तोल मोल नहिं हलका न भार ॥ नहीं दूर नेरे कछु नहीं वार पार ॥ सत् गुरु लखाया है समझा जो सार ॥ आपे में दिखाया है अपना दिदार ॥३॥ नहीं वार मोमें नहीं कछु पार ॥ भीतर औ बाहर भरा एक सार ॥ पर मन न देखे यह आवे बहार ॥ वस्तु गुप्त इस काया मँझार ॥ ४ ॥

२८६ बैत

पाया है हमको अमोलक जो लाल ॥ मिले सतगुरु जो पूरे हमको दयाल ॥ काटा है जिनको सब माया का जाल ॥ कीनी मेहर किया हमको निहाल ॥१॥ झूठा लम्बा यह माया का जाल ॥ जहाँ जहाँ लग ये स्वर्ग अरु पताल ॥ तीनों वखत का जो माने हैं हाल ॥ जो आनन में आवे सो झूठा है ख्याल ॥२॥ दीन अरु दुनियाँ खजाना और माल ॥ सब रहजाय यहाँ ही जब पड़ेगा काल ॥ देखे कवीला जो होवेगा हाल ॥ कोई चाल ना चले तेरी का माल ॥३॥ नहिं रिशवत को लेके वह करता है टाल । करता वखत पर वह सब की परताल ॥ विवेक अरु वैराग की कीजिये नाल ॥ गुप्त ज्ञान गोली से मारो न काल ॥ ४ ॥

२८७ बैत

इस मनस को रोको यह करता सैतान ॥ नित उठके करता विषयों का जो पान ॥ इस किया दुख गुस्सा और जो बेइमान ॥

के शरने आवे होय अविद्या छारा ॥२॥ सतगुरु जाके बल्ली लगावे पार करे भव धारा ॥३॥ गुप्त मते की बात जनावे देवे मूल सहारा ॥ ४ ॥

२६२ शब्द

जगत् में सोई नर जानो सूरा। अहम्ब्रह्म शमशेर से जिनने काटि दिया दल पूरा ॥टेक॥ महाबली अज्ञान राव का, दल साजा है पूरा ॥ सेनापति कामादिक भट हैं, बाजे जिनके तूरा ॥१॥ दुसरा दल है ज्ञान बली को, सो योधा रणधीरा ॥ सेनापति शील है जाके, सो वीरन का वीरा ॥२॥ दोउ दल आनि जुड़े हैं सन्मुख, होरही घूरम घूरा ॥ चली तेग तलवार अरु बरछी, शब्द हुया है पूरा ॥३॥ कायर होय सो भगे उलटि के, पग रोपे सो सूरा ॥ आगे ही को पैर धरत हैं, मार करे चक चूरा ॥४॥ कायर का मुख पीला पड़ गया, मन में धरे न धीरा ॥ ॥ सूरा अडिग लड़े रण माहीं, जा मुख बरसे नूरा ।५॥ दोउ राजन का मन है मंत्री, काज करत है पूरा ॥ ताके दोय रूप तुम जानों, यक खाकी यक नूरा ॥६॥ खाकी को जिन पकड़ि पछारा, वश कीना है नूरा ॥ पाँच पचीसों अफसर मारे, जब बजे ज्ञान का तूरा ॥७॥ गुप्त खजाना मिला मूल से, जब सतगुरु मिलिया पूरा ॥ ब्रह्मराज में अदल जमाया, जीत लिया तम क्रूरा ॥८॥

२६३ शब्द.

जगत् में सोइ नर जानो सन्यासी ॥ वर्ण आश्रम मजब पन्थ

२८६ बैत

जो समझे हमारे जिगर की जो बात ॥ इस दुनियां में गोता सो कबहूँ न खात । तुही ब्रह्म व्यापक तुही सुख सुखा ॥ यही दुख भारी जो माने जुदा ॥१॥ तूसे स भय होकर देखो विचार ॥ यही कहते हैं वाईं और चारो पुकार ॥ इस मिथ्या पर दाता न कीजरे प्यार ॥ सब झूठे सौदागर और झूठे बाजार ॥२॥ यह आतम चेतन है सब का आधार ॥ दीखत सुन हैं सब झूठि आकार ॥ तूही आप व्यापक है पूरण जो ब्रह्म ॥ जो सुनिये और कहिये सो मूंठ है भर्म ॥३॥ सत गुरु स जिसको यह पाया है मर्म ॥ जिसको न होता है जग में भरम ॥ गुप्त रूप का पाया है जिसने आनन्द ॥ सो सदा सुखी शांत जैसे पूनम का चन्द ॥४॥

२९० शब्द

मन तू क्यों डूबे मझधारा, ले संतसंग सहारा ॥ टेक ॥ नर तन भव बारिधि के बेरे, या चढ़ि होउ पारा ॥१॥ कठिन समाज दुर्लभ सब पायो, फिर क्यों बहे गंवारा ॥ २ ॥ या नर तन को सुर चाहत है, सो तैं किया खुवारा ॥३॥ या तन मांहि गुप्त इक है, मूल फूल फल बारा ॥ ४ ॥

२९१ शब्द

मन तुम हरि भज उतरो पारा, और न कहूँ गुजारा ॥टेक॥ भवसागर में सतसंग नैया सतगुरु खेवन हारा ॥१॥ अब सतगुरु

नापैद काल मारत है घेरि घेरि ॥ समझै ना सैन तोको कहे कौन वेर वेर जी । तत्वमसी वाक्य याको कीजिये विचार । वाच्य अरु लक्ष याके दोनों लीजे निरधार ॥ लक्ष निज रूप लखि वाच्य ही को दीजे डार । फिर नहीं पड़ते भव कूप ॥३॥ सुनी यह बात जाके आय गयो एतवार । जाने पायो गुप्त ज्ञान सोई नर हुवे पार ॥ होती ना शरम कछु, लागे नाहीं यामें वार जी ॥ आत्मा अद्वैत लखि दूरी हुवा द्वैत ज्ञान' । जानि लई रज्जू, तब होत नासर्प भान । देह में अध्यास तैसा आतमा में अभिमान । यह अवधि ज्ञान सरूप ॥४॥

२६५ शब्द (चाल—डगरिया)

व्यापक ब्रह्म अचल अविनाशी, पूरण शुद्ध अनाम हो ॥टेक॥ जग इच्छित इच्छा जग रचियो, तन धरि धारत नाम हो ॥ ईश्वर जीवसीव सोइ धनिआ, संग माया करे काम हो ॥ १ ॥ यक बाधत यक छोडत जग में, यक बंधे धन धाम हो ॥ यक त्यागी बनि वन वन डोलत, यक उच्छित सुत वाम हो ॥ २ ॥ यक भक्ती कर संग संतन के देखत आतम राम हो ॥ विषयासक्त विषयसग बँधिया पेखत पामर चाम हो ॥ ३ ॥ सृष्टी प्रगट यह नष्ट होजावे, आखिर गुप्त मुकाम हो ॥ ध्रुव सत रूप सरूप उसी का, जा बिन सबहि अकाम हो ॥ ४ ॥

२६६ शब्द

क्यों फिरता भटका, अब तू छोड जगत का खटका ॥टेक॥

की काटि दई जिन फांसी ।।टेक।। कनक कान्ता पद कर आना, महण त्याग बुधि नासी ।। मन्दिर माझ नहीं कछु जिनके, ना छोड़ वास अरु दासी ।।१।। विधि निषेध नहीं कछु जिनके, लोक वासना फांकी ।। स्वयं इच्छा विचरत जग माहीं, क्या मगहर क्या काशी ।।२।। संपद का सब अर्थ विचारा, तब बुद्धि परकाशी ।। काम क्रोध अरु आशा तृष्णा, कारण सहित विनाशी ।।३।। व्यास पद का अर्थ यही है, हुये ब्रह्म के वासी ।। गुप्त प्रकाश भये घट अम्बर, हुये मूल अविनाशी ।।४।

२६४ छन्द सागीत

भजो एक्षी रखो निश्च आतम अचल अनूप । पंच कोष अरु तीन देह में व्यापक ब्रह्म सरूप ।टेक।। गुरु यो मर्म मारि मूझ, कछु कीजिये संभाल । घन घर माहीं बचि राखो, नहीं कछु तासों माल ।। बिना खबर जैसे कै राखो कंगाल की ।। अब कीजिये उपाव तोसों कहत हूँ हाल काया घर माहिं तेरा गड़ि राखो धन माल।।गुरु अरु वेद कीजे बुधि कुदाल, फिर है मुगन का भूप ।। पुकारि कह वेद यामें नाहीं मूठा बात ।। धन है असूट सो तो सदा रहे तेरी साथ ।। लूटें माहीं चोषाही खाता चहे दिन रात की ।। मूठे धन काज मूढ़ अज्ञान उपाय करे । तृष्णा धन खोजत नाहीं रच माहीं जाय मरे । औरहूं कठिन काम अतिशय अनक करे ।। सहे शीत अरु धूप ।।२।। सन्त जो सुजान तोसौं कहत है टेरि टेरि, वैद्य सो

२६८ (नवीन) होली

करलो मजन सिंगार अब, होली का दिन तो आगया ॥टेक॥ उस दिन से ये होली रचा, जिस दिन जनम को पागया ॥ रंग देखिकर इकरार भूलया, जग में गोता खागया ॥ १ ॥ इकरार अपना अदा कर, धोखे मे धोखा खागया ॥ गफलत मे कैसे सोवता, बाजे को काल बजागया ॥ २ ॥ बय जात बाजे झांझ डफ, दस २ पै मुरली सुना गया ॥ जागो भरम की नींद से, वोह राग मारू गा गया ॥ ३ ॥ होली उसी की सफल है, जो आतम तीर्थ न्हा गया ॥ गुप्त गोता लाय के, अज्ञान मैल बहा गया ॥ ४ ॥

दोहा—

होली हरि के नाम से, जलती होवे शान्त ।
जैसे जन प्रह्लाद को, लगी न तत्ती आंच ॥
हरदम होली जलरही, समझन है कोई धीर ।
कारज अपना कीजिये, छानो नीर अरु क्षीर ॥

२६६ धुलेटी

मौति होली फूंकि काया, धूल धूलेहटी मची ॥टेक॥ अब धाम वाम तजि कर चला, सब छोड़ि कर बच्चा बची ॥ हस्थी घोड़ा पालकी, दौलत रही दुख से सची ॥ १ ॥ मत्था हिलावे सैन लावे, नयन ले आंसू खिंची ॥ अब तो रहना ना बनैं, यह बात अंतर में जंची ॥ २ ॥ खरचा न खाया पुन्न लाया, रोवता लेले

या जग मांहीं फिरे भरमता, छोड़ि काम का फटका ॥ सिर से बोझा क्यों नहिं डारे, छोड़ि भरम का भटका ॥ १ ॥ नाना स्वांग धरेते जग में, जैसे नटका नटका ॥ कनक कामिनी को नित भावे, पीवे विषय रस गटका ॥२॥ सतसंगति की सार न जानी, फिरता सटका सटका ॥ जब सतगुरु के शरणे आवे, पावे मग ज्ञान का खटका ॥३॥ बाहर से टुक भीतर होकर, खोज करो इस मठ का ॥ गुप्त मूल की अजब मूरती, दरशन कर मोरमुकुट का ॥४॥

२६७ शब्द

मन तू सुख के सागर बसरे ॥ कहिं और न ऐसा बसरे ॥टेक॥ यह जग मग तृष्णा को गारो, या में मत फसरे ॥ आतम भीर निकट यहै निर्मल, तू आतम पथि बसरे ॥ १ ॥ यह संसार शीशा ओहर का, जग जल और शिखरे ॥ बहुत बेर तोका समझाया ॥ तू यामें मत फँसरे ॥ २ ॥ जनक बड़ाई पाय जगत में ॥ मान किया बड़ो भारे ॥ सक पर छोड़ि दिया है अपना ॥ है था घेरे और बसरे ॥ ३ ॥ या सागर पर गुप्त घाट है ॥ सोधि रही अई बसरे ॥ मूछपै ही पर पग धरि के ॥ तू गोता लगा हंस-हंसरे ॥ ४ ॥

दोहा—

इस सागर पर वे बसैं, जिनके विमल विवेक ।
को भक्तियो में फिरत हैं, मच्छी बुगल अनेक ॥

कोप अन्नमय, काहे मे मन लावता ॥ १ ॥ सत्रह तत्वका देह सूक्षम, लोकों में जाता आवता ॥ अवस्था है स्वप्न जाकी, कोप त्रयमय गावता ॥ २ ॥ अज्ञान कारण तीसरा, आनन्दमय समभावता ॥ अवस्था जाकी सुसोपति, तेरे में नहीं पावता ॥३॥ साक्षी है दृष्टा तीन का सो तेरा रूप लखावता । गुप्त परघट आप है, जाता नहीं कहीं आवता ॥४॥

३०२ पद

जान्या हैं अपने आप को, फिर जाप से क्या काम है ॥टेक॥ आतम विद्या जो पढा, उसको क्या वेद पुराण है ॥ जो आनन्द ब्रह्मानन्द मे, विषयो मे कहाँ आराम है ॥ १ ॥ जो न्हाये निरमल ज्ञान से, उनको कहा असनान है ॥ मिथ्या लख्या परपच को, उसको कहा धन धाम है ॥२॥ खुद मस्ती में जो मस्त है, उसको क्या मदिरा पान है ॥ व्यापक लख्या निज रूप को वह किसका धरता ध्यान है ॥३॥ जो आनि पकड्या काल ने, उसको क्या सुबह शाम है॥जो गुप्त आतम में जुड्या, उसको कहा सुत धाम है ॥४॥

३०३ पद (पूनम)

पूनम पुरुप तन पाय के, पूजन करो निज आपको ॥ टेक ॥ प्रीती के पुष्प चढाय के, चन्दन लगावो जाप को ॥ करनी केसर घोलि के, कर तिलक हरदम हाथ को ॥ १ ॥ जग पूर्णिमा के बीच में, जो चन्द पूनम भापतो ॥ त्यों काया मे गुरु आत्मा,

रची ॥ कौड़ी न साथ सब बचाई, आज तो यह ना बची ॥३॥ तन मन को सच्चा जानता, मरने की नहिं जाने सची ॥ सत गुप्त गोविंद को भजो, जिसने यह सब माया रची ॥ ४ ॥

दोहा—

धूलेहटी जग धूलसम, जाने कोइक सन्त ।
धूल नाम स्वरूप का, सभी मिरद में अन्त ॥
आतम चेतन शुद्ध में, जगत् नाम है धूल ।
सो तिससे न्यारा नहीं, मिल बसै सोई मूल ॥

३०० रसिया (ज्ञान घोड़ा)

अब तो चढ़ूं ज्ञान के घोड़े, तनक वेग बनाऊँगा ॥ टेक ॥ शुभ गुण बहुत बनाऊं असवार, शील संतोष का धारूं बक्तर ॥ विवेक वैराग के पहिरूं वस्तर, सत् संगति रंग चढ़ाऊँगा ॥१॥ प्रेम भक्ति की पाखर डारूं, सम, दम, दोय रकाब सुधारूं ॥ दया की दुमची निश्चल धारूं, सत्य लगाम लगाऊँगा ॥२॥ अज्ञान बली शत्रु को मारूं, युक्ति खड्ग बनाऊं ढालूं ॥ एक फेर में सब को मारूं, गुरु-नाम तोप चलाऊँगा ॥ ३ ॥ गुप्त रूप स्वराज को पाऊं, सब पर अपना हुकम चलाऊं ॥ एक कोस चलकर नहिं जाऊं, आप में आप समाऊँगा ।

३०१ पद

वही यार है दिलदार मेरा, सार का बतलावता ॥ टेक ॥ पचीस तत्त्व का देह यह, स्थूल मरता जानता । आत्म अवस्था

चेतन देव है, अपनी खबर कुछ न करें ॥ उस गुप्त का नहिं भेद जान्या, बुत्त की पूजा करे ॥

३०६ पद

लक्षण कहो उस धर्म का, जिसका कथन करने लगे ।।टेक।। सरूप कारण कौन है, विरधी को कैसे पावता । स्थिती कहाँ पर रहता है, अरु नाश को वरने लगे ।।१।। विपाक तिसका कौन है, सब ही कहो समझाय के ।। नाम मात्र वस्तु से, कुछ काज गहि करने लगे ।।२।। लक्षण बिना परणाम के, कोई वस्तु की सिद्धी नहीं ।। उत्तर सफाई से कहो, बिन मौत क्यो मरने लगे ।।३।। धर्म के समूह की, दस बात हैं वह कौन सी ।। कहते धरम यक अंग को, यह काम क्या करने लगे ।।४।। धर्म धर्मी से जुदा, उसकी खबर तुझको नही ।। उस गुप्त का नहिं भेद जान्या, धर्म में जलने लगे ।। ५ ।।

३०७ पद

करलो जतन उस वतन का, जहं जाके नहीं आना पड़े ।।टेक।। इस लोक की इच्छा तजो, परलोक नहीं जाना पड़े ।। वह लोक अपना रूप है, भगवान गीता में पढे ।।१।। सोई पुरुष है शूरमा, इस मोरचे ऊपर डटे ।। आना जाना भर्म तजि, निज रूप में नित ही लडे ।।२।। खाना तो ऐसा चाहिये, कछु फेरि नहीं खाना पड़े ।। न्हाना तो ऐसा चाहिये, कहिं फेरि नहीं न्हा पड़े ।।३।।

परकाश है परकाश को ॥ २ ॥ जो प्रेमी पूनम पूजता, सो खावे तीनों ताप को ॥ ऐसे को कैसे पूजता, जिसने पाया निज खाक को ॥३॥ गुप्त पूरण पूरि रहा, पूजन करो कोइ तासु को ॥ स्त्री न पुरुष आपता वह स्वास है सब स्वास को ॥ ४ ॥

३०४ पद

दीदार कर दिलदार का, काया शिवाले में सही । टेक ॥ जिसे आँख से देखा चहे, वह आँखि स दीखे नहीं ॥ देखनवाला आप है, तुक मानि ले मेरी कही ॥ १ ॥ जा स्वप्न माहीं देखता, जाग्रत में वह पाता नहीं ॥ दीखे सुन सा मर्म है, यह बात वेदों में कही ॥२॥ गोबर गऊ के उदर में, अरु दूध भी रहता वहीं ॥ ईश्वर ने कीना भिन्न वह, जिस माहिं तू गरे वही ॥३॥ वह गुप्त गोवर्धन गुरी, उसकी खबर तुझ को नहीं । फिरता है भेड़िया चाल में कछु सोचता मन में नहीं ॥४॥

३०५ पद

देव तेरा कौन ही है, जिसकी तू आशा करे ॥टेक॥ जो दान देवे हाथ से मुख से भजन हरि का करे ॥ ईश्वर की ऐसी नीति है, यह काम करता सो तिरे ॥१॥ अपने पुण्य-पाप का फल, सुख अरु दुख को भरे ॥ दूजा नहीं कोइ देव है, अपना करया आपहि भरे ॥२॥ कोइ काम तेरा आय के, वह देव कबहूँ ना करे ॥ जो आस करता देव की, वह मनुष गर्दभ स परे ॥३॥ सुर आर

चेतन देव है, अपनी खबर कुछ न करे ।। उस गुप्त का नहिं भेद जान्या, बुत्त की पूजा करे ।।

३०६ पद

लक्षण कहो उस धर्म का, जिसका कथन करने लगे ।।टेक।। सरूप कारण कौन है , त्रिरधी को कैसे पावता । स्थिती कहाँ पर रहता है, अरु नाश को वरने लगे ।।१।। विपाक जिसका कौन है, सब ही कहो समझाय के ।। नाम मात्र वस्तु से, कुछ काज नहि सरने लगे ।।२।। लक्षण बिना परणाम के, कोई वस्तु की सिद्धी नहीं ।। उत्तर सफाई से कहो, बिन मौत क्यों मरने लगे ।।३।। धर्म के समूह की, दस बात हैं वह कौन सी ।। कहते धरम यक अंग को, यह काम क्या करने लगे ।।४।। धर्म धर्मी से जुदा, उसकी खबर तुझको नहीं ।। उस गुप्त का नहिं भेद जान्या, धर्म में जलने लगे ।। ५ ।।

३०७ पद

करलो जतन उस वतन का, जह जाके नहीं आना पड़े ।।टेक।। इस लोक की इच्छा तजो, परलोक नहीं जाना पड़े ।। वह लोक अपना रूप है, भगवान गीता में पढे ।।१।। सोई पुरुष है शूरमा, इस मोरचे ऊपर डटे ।। आना जाना भर्म तजि, निज रूप में नित ही लडे ।।२।। खाना तो ऐसा चाहिये, कछु फेरि नहीं खाना पडे ।। न्हाना तो ऐसा चाहिये, कहिं फेरि नहीं न्हा पड़े ।।३।।

परकाश है परकाश को ॥ २ ॥ जो ऐसी पूनम पूजता, सो खावे दोनों ताप को ॥ मैले को कैसे पूजता, जिसन पाया निज साफ को ॥३॥गुप्त पूरण पूरि रहा, पूजन करो कोइ तासु को ॥ स्टी न मुष्टी आवता वह स्वास है सब स्वास को ॥ ४ ॥

३०४ पद

दीदार कर दिलदार का, काया दिवाली में सही । टेक ॥ जिसे आंख से देखा चहे,वह आंखि स दीखे नहीं॥ वचनवास्य आप है, तुझ मानि स मेरी कही ॥ १ ॥ जो स्वप्न माहीं देखता, जाग्रत में वह पाता नहीं॥ दोनो सुन सा मर्म है, यह बात वेदों में कही॥२॥ गोबर गऊ के उदर में, अरु दूध भी रहता वहीं ॥ ईश्वर ने कोनय भिन्न वह, जिस मांहि तू गेरे दही ॥३॥ वह गुप्त गोवर्द्धन धुरी, उसकी खबर तुझ को नहीं । फिरता है मेवाया पाज में कछु सोचता मन में नहीं ॥४॥

३०५ पद

देव तेरा कौन ही है, जिसकी तू आशा करे ।टेक॥ जो दान दवे हाथ से मुख स भजन हरि का करे ॥ ईश्वर की एसी नीति है, यह काम करता सो तिरे॥१॥ अपन पुन्य–पाप का फळ,सुख अरु दुख को भरे ॥ दूजा नहीं कोइ देव है अपना कर्या आपहि भरे ॥२॥ कोइ काज तेरा आय के, वह दव कबहूं ना करे ॥ जो आस करता देव की, वह मनुप गदभ स परे ॥३॥ सुर नर

३०६ स्तोत्राष्टक

मनुष्यो न देवो नहीं दैत्य यक्ष, पंडित न मूर्खो कवियो न दक्ष ॥ जाता न आता खोया न पाया, शिव केवलोऽहं निरमैल माया ॥१॥ आश्रम न वर्णा न कुल जाति धर्मा, नहीं नाम गोत्रं शर्मा न वर्मा ॥ जाग्रत स्वप्न नहीं प्राण काया, शिवः केवलोऽहं निरमैल माया ॥ २ ॥ देगो न कालो वृद्धो न बालो, तुरिया वितुरिया नहिं काल जालो ॥ जन्म्या न मूया जाता न आया, शिव' केवलोऽहं निरमैल माया ॥३॥ जीवो न सीवो न अज्ञान मूलं, सुखं न दुखं नहि पाप शूल ॥ कर्ता अकर्ता नही बिंब छाया, शिव' केवलोऽहं निरमैल माया ॥४॥ मौनी न वक्ता बधो न मुक्ता, रागं विरागं नहिं लक्ष लखता ॥ सब वाच्य अवच्य का सहल ढाया, शिव केवलोहं निरमैल माया ॥५॥ सादी अनादी नच में समादी, व्यास्ता न शास्त्रं नहिं बाद वादी ॥ नहीं पक्ष पातं जन्मी न जाया, शिवः केवलोऽहं निरमैल माया ॥६॥ योगं वियोगं नच मे समाधी, माया अविद्या नच में उपाधी ॥ शुद्धो स्वरूपं निरंजनं राया ॥ शिव केवलोऽहं निरमैल माया ॥७॥ गुप्ता न मुक्ता लिपता न छिपता ॥ लोका न वेदा तपता अतपता ॥ एको चिदातम् सब में समाया ॥ शिव केवलोऽहं निरमैल माया ॥८॥ पढ़े प्रात काले कटे यम जाले ॥ तजै आश तृष्णा संतोष पाले ॥ अष्ट स्तोत्रं में मन लगाया ॥ शिव केवलोऽहं निरमैल माया ॥

लेना हो ऐसा चाहिए, फेरि नहीं लेना पड़े ॥ जुड़ना उसी का सफल है, जो गुप्त आतम में जुड़े ॥४॥

३०८ राग—आरती (अष्टक)

जय शिव गुप्तानन्दे, जो कोइ भजन करे मन लाके ॥ कटि जाय भव फन्दे॥हर शिव गुप्तानन्दे। टेक॥ आरत जन की सुनों आरती, हे किरपा सिन्धे ॥ मोह जाल की फाँसी मांहीं, जीव फिरे बन्धे ॥१॥ हमो कहो समझाय, कौन मैं को यह जग बन्धे ॥ अब करो अविद्या नाश, तभी हम होवें आनन्दे ।२॥ को ईश्वर को जीव, कौन रहता तिनके सन्धे ॥ क्या माया का रूप, कहो मम सत् चित् आनन्द ॥३॥ आरति कैसे करूं तुम्हारी, तुम व्यापक जिन्दे॥जो कोई सुमरी करे आरती,वह सुखी के अन्धे । ४॥ (उत्तर की आरती) मैं मेरा यदि मोह हुआ, अर्जुन को रण मध्य ॥ क्या ज्ञान गीता का, सुन एक समधानी सन्धे । ५॥ शुद्ध चेतन भरपूर, हृदय मन जास भल बन्धे ॥ जब होय अविद्या नाश, मिलें तब सिधा के चन्द ॥६॥ करे शुभा शुभ कम, भोगता फल सुखदुख द्वन्दे ॥ शिव को कहते जीव, सीख कछु करे नहीं धन्धे ॥७॥ तत् त्वं पद में असि जो चेतन, दोनों का सन्ध ॥ त्रिगुणात्मक मिथ्या माया, गुप्तातम सत्‌चित् आनन्दे । ८।

दोहा—

पढ़े जो अष्टक आरती नाँक समय चितलाय ॥
कोइ काल अभ्यास ते, समुझे सहज सुभाय ॥

है ।।१।। ब्रह्मानन्द का कोई यक कतरा, सब तिरलोकी में छाया है ।।२।। जो आनन्द चक्रवर्ती का, अरु ब्रह्मा के तक गाया है ।।३।। ब्रह्मानन्द आनन्द के आगे, सब आनन्द-भास सुनाया है ।।४।। ब्रह्मलोक वैकुण्ड पुरी लग, सभी काल ने खाया है ।।५।। तन धन में आनन्द हो बैठे, यह स्वपने के सी माया है ।।६।। जिस आनन्द को प्रापत होके, और न आनन्द चाहा है ।।७।। गुप्तानन्द के गुप्तानन्द में जो नित उठि गोता लाया है।।८।।

३१२ रंगति-मजेदार

सो मजा न महंगा सस्ता है, जहं संत लाड़िला वसता है। टेक।। घाट वाट कुछ पावत नाहीं, वह विकट महल का रस्ता है ।।१।। नीम मडेरन नाहीं महल के, कोई कैसे उसमे फंसता है ।। २ ।। जो करते निष्काम कर्म को, अरु मन इंद्रिय को सकता है ।। ३ ।। साधन चार चले रस्ते में, सत गुरु के संग धंसता है ।। ४ ।। अक्कल का वक्कल सब फूटा, वे अक्कल सौदा जचता है ।। ५ ।। दूनी द्वैत पर आग लगी है, वह आशिक बैठे हंसता है ।। ६ ।। कहा कहूं शोभा अरु सुख की, लिया मुक्ति हाथ गुलदस्ता है ।। ७ ।। गुप्तानद को परघट जाना, सो घट घट माहीं लसता है ।। ८ ।।

३१३ रंगति-मजेदार

क्या मजा मिला जिन्दगानी में, सब खो दई उमर हरामी

३१० राग ब्रह्म अभ्यास

करो पूरी ब्रह्माकार, मजा कुछ अवपार ॥टेक॥ अजी एजी उठत बैठत ब्रह्म, ब्रह्म चलिकर जावे ॥ सोवत जागत ब्रह्म, ब्रह्म पीवत खावे ॥१॥ अजी एजी खेल दव है ब्रह्म, ब्रह्म झगड़ा ठावे ॥ देखत सुनता ब्रह्म, ब्रह्म नाचे गावे ॥२॥ अजी एजी मन बुद्धि आदिक ब्रह्म, ब्रह्म तारथ न्हावे ॥ उपवास करत है ब्रह्म, ब्रह्म पूजा लावे ॥३॥ अजी एजी कर्म उपासन ब्रह्म, ब्रह्म आवे जावे ॥ करत काज सब ब्रह्म ब्रह्म ही मरमावे ॥४॥ अजी एजी उपजन हारो ब्रह्म, ब्रह्म ही उपजावे ॥ पालन करता ब्रह्म, ब्रह्म ही व्यापि जावे ॥५॥ अजी एजी समासन हारो ब्रह्म, ब्रह्म ही समझावे ॥ खोजन हारो ब्रह्म, ब्रह्म ढूंढे पावे ॥६॥ अजी एजी त्यागी रागी ब्रह्म, ब्रह्म सब करवावे॥ जीव ईस सब ब्रह्म, ब्रह्मही गुणगावे॥७॥ अजी एजी गुरुर परचट ब्रह्म, ब्रह्म मई मन जावे ॥ यों अभ्यास जो ब्रह्म, ब्रह्म ही हो जावे ॥८॥

दोहा—

कीट भिरंगी होत है, पुन पुन अभ्यास ॥
सुनि भ्रंगा के शब्द को, भ्र ग होय सह जात ॥

३११ रगति मजेदार

कुछ मजा उसी को आया है, जो आप में आप समाया है ।टेक। ब्रह्मानन्द किसकी तुल्य बरनों, नहिं तिसकी अन्तर पाया

३१५ कुटुम्बजन्य दुःख; हरि—हर सम्वाद

दोहा—

मिले हरी हर परस्पर, हँसि पूंछी कुशलात ।
हरिही हर से यों कह्यो, किम विधि माड़ो गात॥

कुण्डलिया

सुनि के हरि के वचन को, हर हरषे उर माहिं ।
मोंसेती पूछन लगे, तुम क्या जानो नाहिं ॥
दिया बिरोधी कुटुम्ब, अहर्निशि उर को जारे ।
मेरा वाहन बैल, सती का शेर दहाड़े ॥
कार्तिक स्वामी के मारे, तुंडी को मूषक धारे ।
मोगल माहीं सर्प, डरें अरु बहुत फुंकारे ॥
कुटुम्ब बिरोधी देखि के, जलत रहूं दिन रात ।
हरही हरि सों यों कह्यो, इस विधि माड़ो गात ॥

३१६ पद—भजन

लखि निज आतम रूप अपारा, जिसमे मिथ्या ससारा । टेक॥ छोड़ि जगत परवाह समझ अब, न्हावो ज्ञान की धारा ॥ काल कर्म का छुटै मैल सब, जब होवे उद्धारा ॥१॥ आतम सदा असंग रहत है, लिपै न देह विकारा ॥ ज्यों जल माहीं कमल रहत है, जल स्पर्श से न्यारा ॥२॥ पच कोष अरु तीन देह में, व्याप रहा सारा ॥ कटे न सूखे जल से भींगे,अग्नि ने नहीं जारा ॥ ३ ॥

में ॥ टेक ॥ बचपन खाया खेल खेलाया, कुछ समझा नहीं नादानी में ॥ १ ॥ आई तरुनाई मस्ती छाई, सो गई काम अरु ग्लानी में ॥ २ ॥ खाया पानी खान पान हित, फिर मन नित फँसा गुलामी में ॥ ३ ॥ आवे बुढ़ापा दे गिर थापा, हो गया अशक्त सलामी में ॥ ४ ॥ काल आय तत्काल बिनाशे, गुम गये चारों खानी में ॥ ५ ॥ लाल अमोलक या नर तन को, खोय चला मैदानी में ॥ ६ ॥ ना कोई कर्म उपासन कीना, नहिं बैठा सत्संग ज्ञानी में ॥ ७ ॥ गुरुरूप को माना नाहीं, अतिशय होगया हानी में । ८॥

३१४ रगति मजेदार

कुछ मजा आप के ज्ञान से, क्या है फकरानी बाने से ॥ टेक ॥ जो आनन्द सूखे टुकड़े से, सो नहीं गिजा माल के खाने से ॥१॥ जो आनन्द हरि की भक्ती से, सो नहिं माल खजाने से ॥२॥ जो आनन्द वैराग में देखा, सो नहिं विषय कमाने से ॥३॥ जो आनन्द सन्तोष सबर में सो नहिं द्रव्य कमाने से ॥४॥ जो आनन्द अपने घर माहीं, सो नहिं परदेश घुमने से । ५॥ जो आनन्द अपने समाधान में, सो नहिं लोक रिझाने से ॥६॥ जो आनन्द एकान्त देश में सो नहिं मन के भरमाने से ॥७॥ सभी आनन्द गुरुआनन्द से, आप में आप समाने से ॥ ८ ॥

पड़ी जग जड़धि मे साजत ॥ गुप्त भेद सतगुरु से पावत, घट में ही आतम लाल वतावत ॥४॥

३१६ शब्द (भर्म नाशक)

लखि आपके तांई, दीजो भरम बहाई ॥ टेक ॥ योगी भरमि रहे योगन में, भोगी जाय फँसे भोगन मे ॥ रोगी नित रोवहि रोगन में, काल निरंतर खाई ॥१॥ पंडित पंडिताई मे भूले, काजी पडे कजा के चूल्हे ॥ धारापती मान में फूले,मूरख मूरखताई॥२॥ कोई विद्या वैराग त्याग में, कोई धूनीला जले आग में ॥ सार वस्तु के फिरे त्याग मे, नाहक उमर गमाई ॥३॥ कोई कोई जन उभरे चौरासी,नेम नहीं गृही सन्यासी ॥ जिसको लख्या गुप्त अविनाशी, सभी ठौर के माहीं ॥ ४ ॥

३२० पद (जैन धर्म प्रकाशक)

हुया मजहब दिवाना, करता फिरे व्याख्याना ॥टेक॥ सोई जैनी आप को जान्या भेद भर्म सब खोया नाना ॥ पाप पुन्य का मूल उडाना, तीर लक्ष में ताना ॥१॥ तन सराय मे असंग रहत है, सोई सरावगी सार गहत है ॥ मुख से बात बनाय कहत है. छोड़े नहीं वेईमाना ॥२॥ सोई ढुंढिया जानों सच्चा, जिसको घर ढूढा है पक्का ॥ वाकी और हरामी के बच्चा, बाँधहिं थानिक थान॥३॥ सोई योगी यती सन्यासी, मजहब पंथ की काटी फाँसी ॥ गुप्त रूप पूरण अविनाशी, भेष पथ को भाना ॥ ४ ॥

गुप्त अरु परघट सभी ठौर में, सो है रूप तुम्हारा ॥ जैसे घृत दूध में रहता, सभी जगह एक सारा ॥ ४ ॥

३१७ पद–भजन

शास्त्र सब सभी समझावें यह आतम सत्य बतावे ॥ टेक ॥ सुनि गुरु मुख से ज्ञान आपना, मन में क्यों ना लावे ॥ भर्म जाल कटि जावे तेरा, पूरण पद को पावे ॥१॥ बैठि एकांत विचार करो जो, सतगुरु राह बतावे ॥ तीरथ बरत धरम सब मन के, उपजि उपजि भरमावे ॥ ॥ तुही शुद्ध सच्चिदानन्द फिर, काहे को भ्रम भटकावे । जिसको अमृत पान किया, वह काहे को जल चावे ॥३॥ बाहर अन्तर रूप आपना, खोजन किसको जावे । गुप्त रु परघट सब चेतन मे अपना आप लखावे ॥ ४ ॥

३१८ शब्द (धनासरी)

आतम जोता सब घट माहीं, बिन सतगुरु नह सूझत माहीं ॥टेक॥ जैसे द्रव्य गड़्या घर भीतर, बिन भेदी नह पावत माहीं ॥ जैसे घृत दूध में रहता, बिन मंथन नह निकसत माहीं ॥१॥ ज्यों जड़ वृक्ष, वृक्ष में अगनी, काठ घस्या बिन प्रगटन माहीं ॥ ताकी चमक पड़ी जल भीतर, खोजि रहे नह पावत माहीं ॥२॥ कोइ एक चतुर पुरुष को निरख्या, जाउ पतादिया अजन ताहीं ॥ त्यों जग जालमें सब नर काया अन्त करण झलका दिखलाया ॥३॥ तामें आतम लाल विराजत चमक

रही जग जलधि में साजत ॥ गुप्त भेद सतगुरु से पावत, घट में ही आतम लाल बतावत ॥४॥

३१६ शब्द (भर्म नाशक)

लखि आपके तांई, दीजों भरम बहाई ॥ टेक ॥ योगी भरमि रहे योगन में, भोगी जाय फँसे भोगन में ॥ रोगी नित रोवहि रोगन में, काल निरंतर खाई ॥१॥ पंडित पंडिताई मे भूले, काजी पडे कजा के चूल्हे ॥ धारापती मान में फूले, मूरख मूरखताई ॥२॥ कोई विद्या वैराग त्याग में, कोई धूनीला जले आग में ॥ सार वस्तु के फिरे त्याग मे, नाहक उमर गमाई ॥३॥ कोई कोई जन उभरे चौरासी, नेम नहीं गृही सन्यासी ॥ जिसको लख्या गुप्त अविनाशी, सभी ठौर के माहीं ॥ ४ ॥

३२० पद (जैन धर्म प्रकाशक)

हुया मजहब दिवाना, करता फिरे व्याख्याना ॥टेक॥ सोई जैनी आप को जान्या भेद भर्म सब खोया नाना ॥ पाप पुन्य का मूल उडाना, तीर लक्ष में ताना ॥१॥ तन सराय मे असंग रहत है, सोई सरावगी सार गहत है ॥ मुख से बात बनाय कहत है, छौड़े नही बेईमाना ॥२॥ सोई ढुंढिया जानों सच्चा, जिसको घर ढूढा है पक्का ॥ बाकी और हरामी के बच्चा, बाँधहिं थानिक थाना ॥३॥ सोई योगी यती सन्यासी, मजहब पंथ की काटी फाँसी ॥ गुप्त रूप पूरण अविनाशी भेष पथ को भाना ॥ ४ ॥

३२१ शब्द

अब तज मिथ्या हंकार, मार से तू क्यों मोह मरे ॥ टेक ॥ कारण सूक्ष्म स्थूल तनरे, इनका तज हंकार ॥ तू चेतन भरपूर हैरे, छिपे न वेद विचार ॥ १ ॥ पंचकोष में मत फँसेरे, तेरा रूप अपार ॥ मर्म माहिं क्यों भरमतारे, अन्तर करो विचार ॥ २ ॥ सांचे सतगुरु से मिलोरे, जब पावोगे सार ॥ झूठ गुरु के आसरे रे, कबहुँ न होय उद्धार ॥३॥ गुप्त रूप परघट आप हैरे, जामें नहीं संसार ॥ त्रिकुटी की दुई त्यागदे रे, आशा तृष्णा मार ॥ ४ ॥

३२२ पद

हमकि रहा इस माहीं रतन अमोली लाल ॥ टेक ॥ कटे न सूखे भीगता रे, करके देख सँभाल ॥ अग्नी से जलता नहीं रे, जावे न विसको काल ॥ १ ॥ देख क्यों ना खोज केरे, घर में है सब माल ॥ जो पावे उस निधी कोरे फेर न होय कंगाल ॥२॥ मन मँजूर को लाय दरे, खोज करो सँभाल ॥ चित की चकमक झाडि दरे बुधि का करो कुदाल ॥ ३ ॥ सावधान इनको रखारे, करता रहे रखवाल ॥ गुरू जौहरी, गुप्त खजाना बतलावत ततकाल ॥४॥

३२३ पद

हमारे सतगुरु अमर निहाल वारद म्हारो दूर कियो ।टेक॥ कोटि युगन युग भर्मियोरे दुख नहिं दूरिहुयो ॥ एक पलक की

झलक मे रे, मोहि निहाल दियो ॥१॥ झूठे धन के कारनेरे, भटकि भटकि के मुयो ॥ सांची दौलत सतगुरु दीनी, जन्म सुफल म्हारो हुयो ॥२॥ मैं निर्धन कंगाल कोरे, प्रेम प्रीति से लियो ॥ खरचा खाया बहुत लुटाया, पानी के ज्यों पियो ॥३॥ गुप्त आतमा लाल मिला जब, सुख साथी सोयो ॥ आवन जावन खेद मिट्यो सब, जीव आनन्दित हुयो ॥ ४ ॥

३२४ शब्द

काहे में करै अनुराग, मन तू मोह नींद से जाग ॥ टेक ॥ जिन के संग लाग्या तू डोले, वह सब जावे तोहि त्याग ॥ १ ॥ सभी पदारथ दृष्ट है, अब इन से मत लाग ॥ २ ॥ परमेश्वर का शरणा पकड़ो, छुटैं करम के दाग ॥ ३ ॥ गुप्त गली में जो कोइ आवत, सुखभर खेलत फाग ॥ ४ ॥

३२५ शब्द

खोदई उमर अब सारी, नहि सुमिरे करतार ॥ टेक ॥ जब गर्भवास में आया, नौ मास तहाँ दुख पाया ॥ किया भगती का करार ॥ १ ॥ फिर बाहर निकल के आया, योनि यन्तर मे दुख पाया ॥ करन लग्या हाहाकार ।२॥ मूढता में बालपन खोया, जब भूख लगी तब रोया ॥ करे माता प्यार ॥ ३ ॥ फिर तरुण अवस्था होवे, तरुणी के संग मे खोवे ॥ काम की पडगई मार ॥ ४ ॥ वह तरुण अवस्था जावै, जैसे बिजली छिप जावे,

३२१ शब्द

अब तज मिथ्या हंकार, मार से तू क्यों बोझ मरे ॥ टेक ॥ कारण सूक्ष्म स्थूल तनरे, इनका तज हंकार ॥ तू चेतन भरपूर हैरे, छिपे न देह विकार ॥ १ ॥ पंचकोष में मत फँसिरे, तेरा रूप अपार ॥ भर्म मांहि क्यों भरमतारे, अन्तर करो विचार ॥ २ ॥ सांचे सत्गुरु से मिलोरे, अब पावोगे सार ॥ झूठे गुरु के कारणे रे, कबहुँ न होय उद्धार ॥३॥ गुप्त रूप परमात्म आप हैरे, जामें नहीं संसार ॥ चित की दुई कामवे रे, आशा तृष्णा मार ॥ ४ ॥

३२२ पद

चमकि रहा घट मांहीं रतन अमोलक लाल ॥ टेक ॥ कद न सूझे भीगता रे, करके देख सँभाल ॥ अग्नी से जलता नहीं रे, पावे न विसको काल ॥ १ ॥ देख क्यों ना खोज करे, घर में है सब माल ॥ जो पावै वस निधो कोरे फेर न होय कंगाल ॥२॥ मन मंमूर को लाय धरे, खोज करो संभाल ॥ चित की चकमक झाडि धरे, बुद्धि का करो कुदाल ॥ ३ ॥ सावधान इनको रखारे, करता रहे रखवाल ॥ गुरू जौहरी, गुप्त खजाना पलआवत तत्काल ॥४॥

३२३ पद

हमारे सतगुरु नजर निहाल दारिद्र म्हारो दूर कियो ॥टेक॥ कोटि युगन युग भटकियोरे, दुख नहिं दूरि हुयो ॥ एक पलक की

करैगा आगे ॥ ३ ॥ अपने हाथ से करी कमाई, जोड़ि जमी में रखता ॥ नंगे हाथो चला मुसाफिर, खाख अन्त को चखता ॥४ ॥ लोक बड़ाई में फूल्या, फिरता करे बहुत चतुराई ॥ काळ कटारी पडी कंठ पर, भूलि गया लपराई ॥५॥ कैतो रहिजाय पड़ा जिमी में, कै खावेंगे भाई ॥ क्या तो जप्त राज में होवे, क्या ले जाहिं धोह जमाई ॥६॥ विद्या पढ़ो सार नहिं जान्या, जग में करी ठगाई ॥ बाँचि सरोदा स्वर को सोधा, वैदंग खूब फैलाई ॥७॥ सौदा किया नफे के कारन उलटा टोटे खाया ॥ गुप्त रूप को समझा नाहिं, पढी रही सब माया ॥८॥

दोहा—

सौदा कीजे समझि के, फेर न ऐसा दाव ।
पुन्य पुंज करके मिल्या, बृथा नहीं गंवाय ॥

३२८ राग तरंग।

अरे रमिगया रमजाती, तोड़ गया है सब नाता ॥ टेक ॥ तन सराय से निकलि चल्या है, कोट किला नहिं ढाता ॥ किस मारग व्हे गया मुसाफिर, कौन ठिकाने जाता ॥ १ ॥ चाची ताई और भोजाई, बहन भानजो माता ॥ दादी भूवा मामी नानी, त्रिया कूटे माथा ॥ २ ॥ चाचा ताऊ दादा बाबा, जीजा फूफा भ्राता ॥ देह उठाय जमी मे फूंक्या, सिर फोड़ दिया है ताता ॥३॥ आप किया स्नान सभाने, करने लागे बाता ॥ दे तिलाजली चले

बोका भया गँवार ॥ ५ ॥ अब कफ वाइ ने घेरा, कर दिया पौर में डेरा ॥ पड़ा यहाँ कूकर मार ॥ ६ ॥ अगड़ पड़ोसी सब दुखियारे, अब मुँह भर पापी हत्यारे ॥ दैत बड़े किये ख़ुवार ॥७॥ तन में फैली बीमारी, चढ़ि आइ काल असवारी ॥ सुन नहिं गुप्त पुकार ॥ ४ ॥

३२६ सवैया

पुत्र कलत्र सभी तुमको त्यागत, तू जिन के संग लागहि डोल ॥ स्वारथ हेत से प्यार करैं सब,बिन स्वारथ कोइ मुख से नहिं बोल ॥ मूढ़ अपनी आयू सब खोवत, अम्बर बिचार कछू नहिं तोले ॥ देह दिया हरि को हरि सुमरन, वा हरि स पड़दा नहिं खोले ।१॥

दोहा—

देखि रहा है आँखि से सुनता है सब काम ॥
लोभी नर चेते नहीं, मम ऐसा बेईमान ॥

३२७ राग तरगा

सौदागर प्यारे, सौदा तो करिले हरी नाम का ॥ टेक ॥ नर तन पाया जग में आया, करले सुघर कमाई ॥ काल बसरा मुख पर लाग, मूढ़ि जावे चतुराइ ॥ १ ॥ गर्भ माहिं इकरार किया था क्यों भूलत है उमको ॥ जो उस को नहिं अदा करेगा, क्या जवाब दगा तिमको ॥२॥ धन के काज मारा यहु माम हरि स कबहुँ न लाग ॥ यहीं पै रहजाय माल खजाना यम पर्मी

फैला ॥ अब तो हाट बजार लगे हैं, फिर बिछुर जायगा मेला ॥३॥ घर से निकस्या भजन करन को, देखत डोलै मेला ॥ पुत्र भ्राता छोड़ि दिये हैं, अब गुरुभाई अरु चेला ॥४॥ ज्ञान ध्यान अध्ययन को भूल्या, करने लाग्या खेला ॥ उस दरगेह की खबर नहीं, यम मर्कड़ि निकालै तेला ॥५॥ माँगे माल उड़ाने लाग्या, बनि गया मोटा खेला ॥ तन पुष्टे मन पुष्ट हुया, करता कश्मीर का सैला ॥६॥ ब्रह्म ज्ञान का लक्षण करता, खावे सब के भेला ॥ मन माने जित तित सो जावे, क्या उत्तम क्या मैला ॥७॥ गुप्त भेद को समझत नाहीं, पड़यो अविद्या झोला ॥ कभी तो मौन कभी लपराई, कभी बनि बैठत है भोला ॥८॥

३३१ कुण्डलिया

फक्कर के मक्कर नहीं, और नहीं धन माल ॥ राजी रहते उसी में, जो कुछ बीते हाल ॥ जो कुछ बीते हाल, ख्याल दूजा नहिं करते ॥ सब होय अदृष्ट आधीन मौज अपनी में चरते ॥ गुमानन्द में आनन्द, खावे चहे घी अरु शक्कर ॥ प्रारब्ध के वेग नहीं कुछ करते मक्कर ॥ १ ॥

३३२ भजन

नरपति चले काया कोट से, सजिगई जिसकी असवारी ॥ टेक ॥ हस्ती अरु घोड़ा सब छोड़े, काठ के तामजाम में पौढ़े ॥ कसिकर बाधि दिये दो गोडे, अब कैसे बचे यम चोट से ॥ हुया

मगर को, तोड़था नींव का पाता ॥ ४ ॥ लेकर धोता चौके में पोथा, पंडित जी चढ़ि आता ॥ कर्मकांड की बात सुनाके, अपनी ठीक जमाता ॥ ५ ॥ पाट ऊपर कुद्दा आवे, वह भी फैल मचाता ॥ पांव धुवावे भोजन खावे, सय्या पर सो जाता ॥ ६ ॥ उनके हाल की खबर नहीं, कुछ अपना आप बताता ॥ बचो मरवा कूटिके रोवें, यह माल मजे में खाता ॥ ७ ॥ वहतो होयगया गुप्त, किसी को उसका पता न पाता ॥ ठगि ठगि माल पापड़ा खावे, कैसे उसपास पहुँचाता ॥ ८ ॥

३२९ सवैया

मैंढ़कों की चाल में चालि रहे नर, नाहीं विचार करें पद अन्तर ॥१॥ मूये का शोक पड़था अतिशय मन, खूब पोप मचा दिया दुंदर ॥२॥ सपने समान यह खेल बन्या, काहे पै चुनावत ऊँचे से मंदिर ॥ ३ ॥ गुप्त की बात न समझत मूरख, नाचि रहे ज्यों मदारी को बंदर ॥ ४ ॥

३३० राग तरगा

अरे गफलत के माते चील्या जात है यह वेला ॥टेक॥ कोई न तेरा संगी होगा, चल जाया जाय अकेला ॥ घड़ी पलक की खबर नहीं है, चलणा काल का रेला ॥१॥ यह नर देही भजन करन का पाया हरी का गेला ॥ हाथ न हिले पैर नहिं चलन्य पास धना नहीं पैसा ॥२॥ सौदा तो नफे का करले, छोड़ पाखड़ भर

लटकावत है ॥ यह० ॥ ऊंचे मकान बनावे है, फीके पकवान करावे है ॥ यह० ॥ छापे अरु तिलक लगावत हैं, लंबीमाला लटकावत हैं ॥ यह० ॥ ठाकुर को पूजा राखत है, दिन भर परसाद ही चाखत है ॥ यह० ॥ नाना विधि के भोग लगावे, ठाकुर जी का नाम बतावे ॥ यह० ॥ दुकान लगावे टके कमावे, बैठि मजे में खावे ॥ यह० ॥ दोने चट्टा करें बड़ाई, बड़ा सिद्ध आया है भाई ॥ यह० ॥ कोइ पढे पढावे ज्ञान सुनावे, दमड़ों के वह ढंग लगावे ॥ यह० ॥ गली बजारों करे व्याख्याना, विद्या पढ़ी मर्म नहीं जाना ॥ यह० ॥ लई फकीरी तत्तन जाना, खाने लगा विर्पोका खाना ॥ यह० ॥ टूक मागिके भरते पेट, रहें गावके गोरें लेट ॥ यह० ॥ पोखर ऊपर कुटी बनावे, तकिया और बिछौना लावे ॥ यह० ॥ मोर छड़ी से झाड़ू लावे। जानि का दूध मागिकर लावें ॥यह०॥ तीरथ उपवास को करते फिरते,फिर आकर काशी में मरते ॥यह०॥ करते सथारा मूढ गवाँरा, तन सुका सुका के सारा ॥ यह० ॥ घर छोड़ि बसाया रामदुवारा, माला वेचिकर करे गुजारा ॥ यह० ॥ मागि मागि कर कौडीलावे, म्हपी केश में कुटी बनावे ॥ यह० ॥ गगाके तट सिद्ध विचरते, घाटों ऊपर आसन करते ॥ यह० ॥ कटीमें बाँधे लाल लंगोटे, फिरे मुकेरे जंगल झोटे ॥ कोई काशी में विद्या पढ़ि आवें, मंडली बाँधे शिष्य बनावे ॥ यह० ॥ कोई पढ़ै पढावे लोक रिझावे, कोइ कविता खूब बनावे ॥ यह० ॥ कोइ कानों माहीं डाट ठुकावे, आखि मींचकर

पुन्य पाप सब भारी ॥१॥ हाहाकार बाजत बाजे साम सभी चलने के साथे ॥ बहुत सम्बन्धी आये राजे यह बात करे नहीं हाठ से ॥ होगई पुरिमष्टक न्यारी ॥२॥ कहाँ से आय पाइकी ठाई, पड़ी रही सबही ठकुराई ॥ जिनके वास्ते करी कमाई, शिर फोड़न लगा सोच से ॥ जो प्यार करते थे भारी ॥३॥ यह जीने के धोखे में रहत, काल आय तत्कालहि गहता ॥ गुप्त भेद कछु नाहीं, कहता नहिं बचता यम की चोट से ॥ कर राम भजन की त्यारी ॥ ४ ॥

३३३ भजन (झगड़ा)

यह भी सब झगड़ा है, झगड़े से न्यारा रगड़ा है ॥ झगड़ा कैसे बान्या रे, इमें आतम जाय पिछानारे, ॥ झगड़ा पेख बान्या रे ।टेक। पहिला झगड़ा तोहि सुनाऊँ, शास्त्रों की बात दिखाऊँ ॥ यह भी० ॥ कोई साव पदारथ गावत है, कोइ सोलह में समझावत है ॥ यह० ॥ कोई पचीस तत्त्व विवेक करे, कोइ कर्म योग में पाँव धरे ॥ यह० ॥ कोइ ज्ञानहि ज्ञान पुकारे है, पत्थर का तिलक धारे है ॥ यह० ॥ इस विधि पट दरशन कठिन रहे ॥ अपना अपना शिर फाक रहे ॥ यह० ॥ घर छोड़ि के आप छकोरी हर्ष॥ धार्वे करता है ज्यों बही ॥ यह ॥ सबहि छिपी लावत है॥ वैसे कम्यार कमावत है ॥ यह० ॥ मौनमाहिंमभूतो लगा । है, सिर सीने केश बढ़ावत है ॥ यह० ॥ कोइ घोटम घोट करावत है, दाढ़ मूंछ बढ़ावत है ॥ यह० ॥ गेरू का रंग लगावत है, सीरी गाने

दस प्रस्थान बनाये, अज्ञानी के मन परचाये ॥ यह० ॥ नाम रूप माया की रचना, दीखे सुनिये गुनिये तितना ॥ यह० ॥ और तरह झगड़ा नहिं टूटे, जहाँ जाय तहं कूकस कूटे ॥ यह० ॥ झगड़ा गुप्त गली मे गेरे, व्यापक एक आत्मा हेरे ॥ यह भी सब झगडा है, झगड़े से न्यारा दगड़ा है ॥ झगड़ा कैसे जान्या रे, हमे आतम ब्रह्म पिछान्या रे ॥ झगड़ा ऐसे जान्या रे ॥

३३४ तरज तान

मत लगे विषय की चाट, मन को डाट डाट डाट ॥ टेक ॥ मन हीं सब कारज सारे, विषयों ते तोहि निवारै ॥ निज बोध रूप में धारै, शुभ गुन का लावो ठाठ ठाठ ठाठ ॥ १ ॥ मनकी चलती रे दो धारा ॥ कैयक डूबे दूजी पारा ॥ कुमारग करो निवारा, सत संगति नौका बाठि बाठि बाठि ॥ २ ॥ यही अनुष्ठान करवावो, निज ब्रह्मरूप में लावो, अब अपना काम बनावो, मन का दफ्तर जा फाटि फाटि फाटि ॥ ३ ॥ यह गुप्त भेद लख प्यारे, इस मनने बहुत उधारे, अब गिने कौन ते सारे, टुक मोह जाल को काट काट काट ॥ ४ ॥

३३५ शब्द

अब कीजेरे यारों ज्ञान गोष्ठी, सब छाडों जगत की दोस्ती ॥ टेक ॥
बड़े भाग से नर तन पाया, याके पीछे फिर रही लोपटी ॥ १ ॥
ब्रह्म विचार करो इस तन में, बात तजो सब फोकटी ॥ २ ॥

ध्यान लगावे ॥ यह० ॥ कोइ २ करते योग समाधी कोइ बनें हैं आसन धारी ॥ यह० ॥ कोइ २ नाच कोइ गावे, कोइ मौन गहे रहि जावे ॥ यह० ॥ माँगहिं माल करे भंडारा, बनि गया महंत बड़ा भारया ॥ यह० ॥ कोश मांहि से पत्था पाया, बांधि कमर में झोला पोथा ॥ यह० ॥ पंचांग बांधि के फिरे जगमध, माल सदा ठगि ठगि के खावे ॥ यह० ॥ शंख बजाय कूदते पीतल, कभी नहीं मन होवे शीतल ॥ यह० ॥ गंडा ताबीज मंतर जंतर, करे कीमिया पढ़ि पढ़ि मंतर ॥ यह० ॥ पूजन लाग बली दुरगा, काटे बकरा मारे मुरगा ॥ यह० ॥ कोइ बाबन लाग सगोधा, रंग रूप तपन का सोधा ॥ यह० ॥ स्वर को साधि बतावे परशन, मूरख का मन करे आकर्षन ॥ यह० ॥ जो कुछ होनहार सोइ होवे, भटकि भटकि के वृथा रोवे ॥ यह० ॥ कोई बन यती सन्यासी, घर को छोड़ हुए बनवासी ॥ यह० ॥ गल में है रुद्राक्ष की माला, खाक रमाय किया मुख काला ॥ यह० ॥ ब्रह्मचारी का भेष बनावे, कौड़ी से लक्षण बतावे ॥ यह० ॥ जब ईश की कथा उपाधी, माया अविद्या सारी अनादी ॥ यह० ॥ ताते यह दो भेद बतावे, भिन्न भिन्न कर दोनो गावे ॥ यह० ॥ महावाक्य वेदों में भाखे भेद उपाधी त्याग जो नाखे ॥ यह० ॥ भाग–त्याग की सैन बताई, वृत्ति–लक्षणा करि समुझाई ॥ यह० ॥ रचे व्यास इतिहास पुरान साधन सांख्य ज्ञान अरु ध्याना ॥ यह० ॥ काया-

इस प्रस्थान बनाये, अज्ञानी के मन परचाये ॥ यह० ॥ नाम रूप माया की रचना, दीखे सुनिये गुनिये तिलना ॥ यह० ॥ और तरह झगड़ा नहिं टूटे, जहाँ जाय तह कूकस कूटे ॥ यह० ॥ झगड़ा गुम गली में गेरे, व्यापक एक आतमा हेरे ॥ यह भी सब झगडा है, झगड़े से न्यारा दगड़ा है ॥ झगड़ा कैसे जान्या रे, हमे आतम ब्रह्म पिछान्या रे ॥ झगडा ऐसे जान्या रे ॥

३३४ तरज तान

मत लगे विषय की चाट, मन को डाट डाट डाट ॥ टेक ॥ मन ही सब कारज सारे, विषयों ते तोहि निवारै ॥ निज बोध रूप मे धारै, शुभ गुन का लावो ठाठ ठाठ ठाठ ॥ १ ॥ मनकी चलती रे दो धारा ॥ कैयक डूबे दूजी पारा ॥ कुमारग करो निवारा, सत संगति नौका बाठि बाठि बाठि ॥ २ ॥ यही अनुष्ठान करवावो, निज ब्रह्मरूप में लावो, अब अपना काम बनावो, मन का दफ्तर जा फाटि फाटि फाटि ॥ ३ ॥ यह गुप्त भेद लख प्यारे, इस मनने बहुत उधारे, अब गिने कौन तें सारे, तुक मोह जाल को काट काट काट ॥ ४ ॥

३३५ शब्द

अब कीजेरे यारों ज्ञान गोष्टी, सब छाडो जगत की दोस्ती ॥ टेक ॥ बडे भाग से नर तन पाया, याके पीछे फिर रही लोपटी ॥ १ ॥ ब्रह्म विचार करो इस तन मे, आल तजो सब फोकटी ॥ २ ॥

खाते खाते बहुत दिन बीते, अब छोड़ो मजिया आपनी ॥ ३ ॥ मजानन्द को मान्य हाकर, दूर करा सब छोकरी ॥ ४ ॥ व्यापक रूप ढलो निज आतम फिर रहे न यम की खोपरी ॥ ५ ॥ गुप्त मूल के बैठ चौबारे, अब पावेगा पोसटी ॥ ६ ॥

३३६ शब्द

इस दुनिया में दो दीन, लगी है इन दोनों की बाजी ॥ टेक ॥ इनको नाम धरा है मंदिर, उनको मसजिद साजी ॥ इनके नाम धरा ठाकुरजी, उनको धरा खुदाजी ॥ १ ॥ इनको नाम धरा पंडितजी, उनको रख लिया काजी ॥ वो सन्ध्या गायत्री पढ़ते, वो होगम नमाजी ॥ २ ॥ वे करत उपवास करम को, वे रोजा में राजी ॥ वे काशी गंगा को जाते, वे होम चल हैं हाजी ॥ अपनी अपनी बँधे पक्ष में, छूटें कौन उपाजी ॥ गुप्त मूल है, एक सभी का, जिन यह रचना साजी ॥ ४ ॥

३३७ शब्द

देखो देखो तमाशा दीदार का रे ।टेक। सभी अनातम झगड़ा छोड़ो, सौदा करल निज आतम बजार का रे ।।१।। लागे प्यास बुझा लम मन की पानी तू पीले बजार का रे ।।२।। सब संगति नौका में बैठो खेला करल परलपार का रे ।३।। भवसागर में फेरि न आने, चान लगो नहीं मार का रे ।।४।। निजानन्द को

प्रापत होके, झगडा मिटे संसार का रे ॥५॥ गुप्त गली मे वाजे नाजे ध्रुव उठे झकार का रे ॥६॥

३३८ शब्द

बाबा भोले ने रगडा लगा दिया रे ॥टेक॥ तन की कुडो मन का सोटा ज्ञान का घोट मचा दिया रे ॥१॥ संशय सोंफ अरु कर्म कासनी, माया का मिर्च झुकाय दिया रे ॥२॥ ममता मगज इलायची केशर, लुगदाघोट वनाय लिया रे ॥३॥ सत की साफी में भंगिया छाने, जग फोगट काढ़ि वगाय दिया रे ॥४॥ प्रेम के प्याले में बिजयापीके, अंखियाँ मे जोश उगाय दियारे ॥५॥ गुप्त गली में शकर घूमत, जग भर्म का भूत उड़ाय दियारे । ६॥

३३६ शब्द

यक वेर वशी फेर बजाय, बंशी के बजाने हारे रे ॥टेक॥ तेरी वंशी ने मेरा मन मोहा, तुझे ऐसी वजाइदइ कारेरे ॥१॥ तेरी वंशी ने सारा जग मोहा, मोहे चन्द्र सूर अरु तारे रे ॥२॥ यक वेर वंशी बाजी ब्रज में, तुझे नख पर गिरवर धारेरे ॥३॥ यक वेर वशी बाजी अवध में तू सन्तन सुख कारेरे ॥४॥ यक वेर वंशी बाजी जनकपुर, उस रंगभूमि के मन्झारेरे ॥५॥ यक वेर वशी बाजी लंका में, तुझे असुर खपादिये सारेरे ॥६॥ गुप्त वसुरिया घट में ही बाजे, कोइ सुनते सुनने हारेरे । ७॥

३४० गुरू शिष्य सम्वाद, शिष्य प्रश्न

चौपाई—

कोउ एक शिष्य आयो गुरु सरना । हाथ जोड़ि मेल्यो शिर चरना ॥
हे भगवन् तुम जानो मरमा । सो कछु कहो मिटै जिस मरना ॥
मैं आयो तुम्हरी शरनाई । प्रभु कीजे अब मोर सहाई ॥
जन्म मरन का काटो फन्दा । जाकर पावहुँ परमानन्दा ॥
दुखि डरयो मैं यह संसारा । ताते अब मोहि कीजे पारा ॥
या जग माहीं दुख अनेका । सुख सुपने कबहूँ नहिं एका ॥
आशा तृष्णा चिन्ता व्यापैं । काम क्रोध मद मोह डरावें ॥
कुमति सुमति नित करैं लड़ाई । ममता डाकिन नित उठ खाई ॥
दंभ कपट ठग रहे लुभाई । मद मत्सर अरु मान बड़ाई ।
तापर नित गरव ये फन्दा । बिन सतगुरु क्या जानूँ मैं अन्धा ॥
अब इनसे कीजे उद्धारा । भवसागर से कीजो पारा ॥
देहु युक्ति जा हो सो कहिये । तुम्हरो कृपा परम पद लहिये ॥
तुम बिन और न करे सहाई । डूबत हौं भवसागर माहीं ॥
मात पिता भ्राता सुत दारा । ये सब स्वारथ के हैं यारा ॥
जिन के दंभ कपट नहिं माया । सो करते दीनन पर दाया ॥
अब मोहिं कीजे यह उपदेशा । जासों छूटे सकल कलेशा ॥

दोहा—

शिष्य ने सकल संदेह कहि, दीन्ही बात सुनाय ।
अब गुरु ऐसा कीजिये, सकल भरम मिटि जाय ॥

भरम बराबर जगत में, नाहीं दूसर खेद ।
सब कहते सन्त पुकार के, यों कहैं शास्त्र अरु वेद ॥

३४१ गुरु उत्तर

चौपाई—

सुन आरत की गिरा विनीता । सुनहु शिष्य अब होहु अभीता ॥
जो तुम कही सकल मैं जानी । सुन शिष हो जाते दुख हानी ॥
दुख नाशन का कारण एहू । याते मिटे सकल संदेहू ।
तत्व मसी का अर्थ सुनीजे । भाग त्याग लक्षणा यक कीजे ॥
जीव ईश की मिटे उपाधी । चेतन शुद्ध सरूप अनादो ॥
तामें भेद गंध ना होई । अपना रूप जानिये सोई ॥
यह गुरु मुख से स्रवन करिके । मनन करो युक्ती चित धरके ॥
काल पाय व्है दृढ अभ्यासा । फिर छूटे मन की सब आसा ॥
निश्चल होय भयो मन थीरा । जैसे मिल्यो नीर में नीरा ॥
आतम ब्रह्म रूप यक जाना । अभेद निश्चय यह ज्ञान बखाना ॥
सो जानो मुक्ती का हेतू । जैसे जल पारन को सेतू ॥
या विधि उतरे बहुते पारा । ले सेतू सत संग सहारा ॥
बिन सत संग तरया नहि कोई । हुये अरुहैं अरु आगे होई ॥
सत संगति महिमा सब बरनीं । अज्ञान नाश इमि पावक अरनीं ॥
सुन शिष हो याते दुख नासा । यह आप रूप का अजब तमासा ॥
जो तुम पूछा सो हम भाखा । आगे कहो संशय जो राखा ॥

दोहा—

जो भाख्यो उपदेश यह, ताको सुन चित लाय ।
संशय शोक रहै नहीं, भरम विलय हो जाय ॥
हमहीं नाहीं कहत हैं, यो कहैं सयाने संत ।
निगमागम यों कहत हैं, इमि होय भरम का अन्त ॥

३४२ सध्या आरती

दोहा—

ऐसी सध्या आरती, लिखते सबका सार ।
सांझ समय याको पढ़ै, समुझै सार असार ॥
पढ़ै सुनै अति प्रीति युत, अरु पुनि करै विचार ।
ज्ञान भानु दिन २ उदय, लहै आतम दीदार ॥

चौपाई—

ऐसी आरती तोहि सुनाऊं । जन्म मरन को पोच बहाऊं ॥
ऐसी आरती कीजे हंसा । छूटे जाति बरण कुल बंसा ॥
काया माहिं देव है ऐसा । दूजा और नहीं कोइ तैसा ॥
काया देवल आतम देवा । बिन सतगुरु नाहिं पावे भेवा ॥
पहिले गुरु सेवा चित लावे । तास सकल विधी को पावे ॥
जो मुक्ती गुरु देव बतावे । तामें अपना मन ठहरावे ॥
माया का सब झूंठ पसारा । सत् है चैतन रूप तुम्हारा ॥
पांच अंश सबही में जानों । अस्ति भाति प्रिय रूप बखानों ॥

नाम रूर भूंठे व्यभिचारी । तिनसे भूलि न कीजे यारी ॥
तीन सच्चिदानन्द पिछानों । तिनको ब्रह्म रूप करि मानों ॥
सो है ब्रह्म आपना रूपा । ऐसे वेद कहत मुनि भूपा ॥
दो झूठे माया कृत देखै । तिनको सत्य कबहु नहिं पेखै ॥
माया नाम कहत मुनि उसका । परमारथ से रूप न जिसका ॥
अचिन्त्य शक्ति कर ताहि बतावे । युक्ती आगे रहन न पावे ॥
सो युक्ती अब कहूँ बताई । जाते माया रहन न पाई ॥
सत्य असत्य नहीं कछु भाई । नहिं दोनों पद मिलकर गाई ॥
नहि वह कहिये भिन्न अभिन्ना नहिं दोनों पद भिलि उत्पन्ना ॥
नहिं सावेव नहीं निरवेवा । दोनों मिलि नहि होय अवेवा ॥
यह नव युवती जिसने जानो । तिनके माया भरतो पानी ॥
यह सब युक्ती गुरु से जानें । फिर कीजे निज आतम ध्यानें ॥
आतम पूजा बहु विधि कीजे । जातें सकल अविद्या छीजे ॥
सोह थाल बहुत विधि साजे । स्वास स्वास पर घटी बाजे ॥
सयम ओट करे दिन राती । ज्ञान दीप बाले त्रिन वाती ॥
जस दीपक का होय उजाला । अन्धकार नशिजाय तत्काला ॥
झाझ झनक चेतन को झनकी । मूल अविद्या सारी छिनकी ॥
मन मिरदग तान कर टूटा । धृक् धृक् कहन लगा मैं झूठा ॥
चित का चन्दन घसि कर लाया । तब हीं देव निरंजन पाया ॥
बुद्धी ताल बजावन लागी । कोट जन्म की सूती जागी ॥

अहंकार का बाजा पैंगा । बहुत काल का टूटा टंटा ॥
चिदाभास ने जीव बनाया । अपना रूप हमें भ्रम पाया ॥
चिदाभास का कीना त्याग । कूटस्थ रूप में कीना राग ॥
आभास रूप को त्यागा जब ही । रूप अक्रिय पाया तबही ॥
तब साक्षीकर सदा अभेदा । ब्रह्म रूप यह गावत वेदा ॥
जिमि मठाकाश अरु घटाकाशा । महाकाश में सबका बासा ॥
यह दृष्टान्त बिचारे मन में । ब्रह्म रूप पावे या तन में ॥
ऐसी कीजे आतम सन्ध्या । याते जीव छुटे यह बन्ध्या ॥
ऐसी सन्ध्या आरती कीजे । जाते देव निरंजन रीझे ॥
इंद्रिय अरु चितके सब देवा । करन लगे हैं आतम सेवा ॥
भये मुदित सब करें बिचारा । आतम अपना रूप निहारा ॥
कोई नाचे कोई गावे । कोइ मौन गहे रहि जावे ॥
कोई वाद्य बजावन लागे । आतम-माहिं हुये अनुरागे ॥
प्रीती-पुष्प चढ़ावन लागा । ध्यान-धूप को खेवन लागे ॥
बुद्धी करे ब्रह्म का गाना । और नहीं कछु मानत आना ॥
एस कहि के ब्रह्मसमाई । भेद भरम सब दिया उड़ाई ॥
कौन पुतरी आवे भोरा । कछु बात कछु कहै न बोरा ॥
आप रूप सब दिया गँवाई । होय अरुक एक माहिं समाई ॥
जो कुछ सूक्षम या स्थूला । जो कारण या तिनका मूला ॥
सबही बचन थे परकाशा । द्वैत अद्वैत सभी कहं नाशा ॥

सन्ध्या आरती करो विचारा । छूटे भरम करम संसारा ॥
लोक वेद की छाँड़ो आशा । तब देखोगे ब्रह्म तमासा ॥
ऐसी सन्ध्या आरती गावे । बहुरयो जगत् जन्म नहिं आवे ॥
टूटे बन्धन होय खलासा । जन्म मरन का मिटिजाय सासा ॥
बन्ध मुक्त याते सब जानें । दोनो भरम कर मिथ्या मानें ॥
बन्ध विहीन एक नहिं दोई । ताकी मुक्ति कौन विधि होई ॥
बध मुक्त माया कृत जानें । आतम शुद्ध रूप पहिचानें ॥
ध्यान अरु ज्ञान नहीं कोई जामे । साधन साध्य नहीं कोई तामे
द्वैत अद्वैत नहीं कछु झगड़ा । ना कछु बन्या नहीं कछु विगड़ा ॥
अजर अमर आतम अविनाशी । चेतन शुद्ध रूप परकाशी ॥
सजाती विजाती न ता में कोई । स्वगत भेद फिर कैसे होई ॥
नहिं वह वृद्ध नहीं वह बाला । स्वेत पीत हरता नहिं काला ॥
नहि वह पुरुष नहीं वह नारी । नहि सन्यासी नहिं ब्रह्मचारी ॥
लक्ष अलक्ष नहीं कछु तामें । वाच्य अवाच्य बने नहि जामे ॥
सब कछु है अरु कुछ भी नाहीं । तन विकार कुछ परसत नाहीं ॥
नहिं वह हलका नहिं वह भारा । ना कछु मधुर नहीं कछु खारा ॥
रूप रंग जामें कछु नाहीं । ऐसा आतम सबके माहीं ॥
सम रस रहे गगन की नाईं । काल कर्म की पड़े न छाईं ॥
सदा अक्रिय निरभय देवा । कहा करै को तिसको सेवा ॥
ना कछु मौन नहीं कुछ बोले । ना कहीं स्थिर ना कहिं डोले ॥

निश्चल सदा अक्रिय देवा। बिन सत् गुरु नहीं पावे भेवा ॥
नहिं परिच्छेद तासु में कोई। देश काल बस्तु नहिं होई ॥
सन्ध्या आरती की सिरखी चौपाई। जग को मिथ्या कहे अनाई ॥
आतम ब्रह्म रूप करि मान। सत् चित आनन्द एक परकासे ॥
जैसे गुन में भासत भोगी। त्यों आतम में जग प्रति योगी ॥
सुरती में रूपा भ्रम होई। त्यों आतम में जग है सोई ॥
स्थाणु माहिं पुरुष कहं जैसे। रवि किरनन में नीर कहे वैसे ॥
आकाश माहिं ज्यों गंधर्व गामा। त्यों आतम में जगत् अभिरामा ॥
मिरची में तीक्षणता जैसे। जलके माहिं शारता वैसे ॥
फूलन माहिं गंध जिमि होई। आतममें ऐसे जग सोई ॥

दोहा—

सभी भरम कर भासता, करता किरिया कर्म ।
आत्मा सदा असंग है, कोई जानत बिरला मर्म ॥

३४३ छन्द

सतगुरु बिना नहिं भेद पावे, कहत वेद पुकारि के ॥
हाचार नहिं पारा पक्ष हम चारों वैठे हारिके ॥
पद् मान शैली सिमरती वस्तु अनातम को कहे ॥
कौन साखी सासुश्री जो आत्मा को वह लहे ॥
निरअय चेतन शुद्ध निरमल एक हो की गम नहीं ॥
ऐसे शब्द करके वेद कहता, और कछु जाने नहीं ॥

दैसिक कही यह शिष्य को, तुहि ब्रह्म व्यापक रूप है ॥
जो समझता इस रमज को, पड़ता नहीं भव कूप है ॥
मत खाय भटका भरम में, तुहीं आप चेतन है सही ॥
टुक समझ अपने जेहन में, यह बात हम तोसों कही ॥
तत्वमसि आदि महा वाक्य, कीजे ताहि विचार को ॥
मत फंसे किरिया कीच में, अब छाड़ि जग आचार को ॥
यह पढ़े संध्या आरती, चारों पदारथ जो लहे ॥
जो धारे इसके अर्थ को, फिर बात उसकी को कहे ॥
चाहे अमोलक रतन को, बैठे गुम दरियाव में ॥
यह वक्त बीता जात है, फिर रोउगे इस दाव में ॥

दोहा—

तम नाशत परकाश तें, कहों तोहि समुझाय ।
और न काहू से नशै, चाहें लाखों करो उपाय ॥
अज्ञान विरोधी ज्ञान है, लीजे बात विचार ।
नाश न होवे औरतें, चाहें धारो बृत्त हजार ॥

दोहा—

मधू भैया प्रागदत्त, गोवर्द्धन पशवन्त ।
मिश्र मैपदास है, सब मण्डली महन्त ॥
कृष्ण गुरू श्री शिवरतन, बाबू ओंकार ।
गुप्त ज्ञान गुटका बना, तिन आज्ञा अनुसार ॥
सारदूलसिंह वंशीधर, तीजे गंगाराम ।
इनसे आदि और जो, भक्त मण्डली नाम ॥
साधू जिते समाज में, तिनके लिखते नाम ।
ब्रह्मानन्द केसरपुरी, गौरीशंकर जाम ॥
सम्वत की संख्या लिखें, सुनियो करके कान ।
ग्रह वागी है ब्रह्म पै, मुनिशिर मुकुट पिछान ॥
पक्ष प्रकाशित भादवा, तीज तिथी बुधवार ।
मन्दसोर पूरा हुवा, शिवनपुरी दरबार ॥
॥ ॐ शान्ति शान्ति शान्ति ॥

* नवीन अनुभवी छन्द *

३४४ शब्द-भजन

मन की बात रहे सब मनमे । तेरा साज बिगड़ जाय छिन में ।। टेक ।। एक तिहाई खेल गवाँई । भूल्या बालापन में ।। आई जवानी चढ़ी मस्तानी । मुख देखै दर्पन में ।। १ ।। मूछ मरोरे टेढ़ी पगड़ी । बाँधत सो बेर दिन में ।। तेल फुलेल लगावत तन में बात करत पंचन में ।। २ ।। आया बुढ़ापा सब तन काँप्या । मन पुत्तर अरु धन में ।। पड्या खाट में मसके मारे । बीमारी सब तन में ।। ३ ।। हरि की भक्ती कबहुं न कीनी । भूल्या तीनों पन में ।। गुप्त रूप को जान्या नाहीं । पड्या अविद्या वन में ।। ४ ।।

दोहा—

लोक बड़ाई में फंसे, करते बहुत बिख्यान ।।
जासे भव सागर तिरे, बिसर गया वह काम ।।

३४५ शब्द-भजन

मन तू कैसा भया दिवाना । नहिं अपना रूप पिछाना ।।टेक।। काल अनादि का बिगड़्या पापी । सूझत ना निज धामा ।। सुत दारा धन प्यारे लागे । इन मे फंसि लपटाना ।। १ ।। जगत माहिं नित भाग्या डोले । बनता ताना बाना ।। नाम धनी का कबहु न

दोहा—

नथू मैया मागदास, गोवर्द्धन पद्यचन्द ।
मिश्र मैयादास है, सब मण्डली महन्त ॥
कृष्ण धुरू औ शिवरतन, बाबू ओंकार ।
गुप्त ज्ञान गुटका बना, तिन आज्ञा अनुसार ॥
सारदूलसिंह बंशीधर, तीजे गंगाराम ।
इनसे आदि और जो, भक्त मण्डली नाम ॥
साधु जिते समाज में, तिनके लिखते नाम ।
ब्रह्मानन्द केसरपुरी, गौरीशंकर जान ॥
सम्वत की संख्या लिखें, सुनियो करके कान ।
ग्रह लगी है ब्रह्म पै, मुनिशिर मुकुट विधान ॥
पक्ष प्रकाशित भाद्रवा, तीज तिथी बुधवार ।
मन्दसोर पूरा हुआ, विशनपुरी दरबार ॥
॥ ॐ शान्तिः शान्ति शान्ति ॥

३४७ शब्द—भजन

जो कोइ सुख के सागर न्हावे। वह फेरि जन्म नहिं पावे ॥टेक॥ चंचल मनुवा अचल होय जब, एक ब्रह्म में लावे। लोकरु वेद लगे सब झूंठे, भरम जाल उड़ि जावे ॥ १ ॥ 'अहं ब्रह्म' यह जाप करे सो, यम की चोट बचावे। काल बली का जोर न चलता, जो यह ध्यान लगावे ॥२॥ अस्ति भाति प्रिय सत्य रूप है, नामरूप छिटकावे ॥ जब यह रमज समझ मे आवे, सच्चा सत् गुरु बतलावे ॥ ३ ॥ गुप्तरू परघट आप रूप है। भेद भरम मिटि जावे ॥ अब के औसर मत ना चूके। फेर दाव नहिं आवे ॥ ४ ॥

३४८ शब्द—भजन

कर मन पुरुषोत्तम असनाना ॥ सब मिटिजाय आना जाना ॥टेक॥ तीरथ बरत करे बहुतेरे, खोया बहुत जमाना। अब की बार समझ मन मूरख। फिर पीछे होय पछताना ॥१॥ ब्रह्म रूप निज आतमा जानो। पकड़ो ठीक ठिकाना ॥ अबके औसर चूकि जायगा। चौरासी को जाना ॥२॥ वाच्य अर्थ का त्याग करो अब, येही मैल छुटाना ॥ ब्रह्माकार करो अब बिरती। लावो लक्ष निसाना ॥३॥ गुप्त गलीचे सुख से बैठो, खावो ब्रह्म रस खाना ॥ अखण्ड की ज्योति पिंड के माहीं। आपमें आप समाना। ४॥

छोना । मूरख्या खास निराला ॥ २ ॥ अब तो चेतन रूप हम्यो निज अब होवे कल्याना ॥ मैल जनम के धोय बहायो । पायो पद निर बाना ॥ ३ ॥ गुप्तरूप परगट तुही विराजे । भेद सभो अब नाना ॥ ज्ञान गली में गुरु से पौहो मिटि आम आना जाना ॥ ४ ॥

दोहा—

सुख हित बाहर भरमता, करता बहुत अचार ॥
सुख सरूप तुहि आप है, करके देख विचार ॥

३४६ शब्द–भजन

पीले राम नाम रस प्याला । तेरा मनुवा होय मतवाला ॥टेक॥
जो कोई पीवे युग युग जीवे । बृद्ध होय नहिं बाला ॥ चौरासी के बंधे फेरते । कटिजाय यम का जाला ॥ १ ॥ इस प्याले के मोल न लागे । पकड़ हरी की माला ॥ जन्म जन्म के दाग छुटें सब नेक रहे नहिं काला ॥२॥ सत संगति में सौदा करले । बहाँ मिले सब लाला । गुरु वेद का शस्तर पकड़ो । खोल भरम का ताला ॥ ३ ॥ गुप्त ज्ञान का दीपक बालो । सब होवे उजियाला ॥ सब ही दु मारि गिराओ । कर पकड़ि ज्ञान का भाला ॥ ४ ॥

दोहा—

राज्य बसि किये राव ने, खुला मचाया जंग ॥
निरभय होकर सोवता, भूपति सुख के संग ॥

३४७ शब्द-भजन

जो कोइ सुख के सागर न्हावे। वह फेरि जन्म नहिं पावे ।।टेक।। चंचल मनुवा अचल होय जब, एक ब्रह्म मे लावे। लोकरु वेद लगे सब झूंठे, भरम जाल उड़ि जावे ।। १ ।। 'अहं ब्रह्म' यह जाप करे सो, यम की चोट बचावे। काल बली का जोर न चलता, जो यह ध्यान लगावे ।।२।। अस्ति भाति प्रिय सत्य रूप है नामरूप छिटकावे।। जब यह रमज समझ में आवे, सच्चा सत् गुरु बतलावे ।। ३ ।। गुप्तरू परघट आप रूप है। भेद भरम मिटि जावें ।। अब के औसर मत ना चूके। फेर दाव नहिं आवे ।। ४ ।।

३४८ शब्द-भजन

कर मन पुरुषोत्तम असनाना।। सब मिटिजाय आना जाना ।।टेक।। तीरथ बरत करे बहुतेरे, खोया बहुत जमाना। अब की धार समझ मत मूरख। फिर पीछे होय पछताना ।।१।। ब्रह्म रूप निज आत्मा जानो। पकड़ो ठीक ठिकाना ।। अबके औसर चूकि जायगा। चौरासी को जाना ।।२।। वाच्य अर्थ का त्याग करो अब, येही मैल छुटाना ।। ब्रह्माकार करो अब बिरती। लावो लक्ष निसाना ।।३।। गुप्त गलीचे सुख से बैठो, खावो ब्रह्म रस खाना ।। अखण्ड की ज्योति पिंड के माहीं। आपमें आप समाना। ४।।

३४९ शब्द भजन

तुई तो चेतन है अविनाशी । अब तोड़ मरन की फाँसी॥टेक॥ कारण, सूक्ष्म, स्थूल, देह इन सब ही का परकाशी॥ पंच कोष अरु देश काल में घट घट माहिं निवासी॥१॥ बद्रीनाथ केदारनाथ में मथुरा में और काशी॥ रामेश्वर अरु जगन्नाथ में तुही द्वारिका वासी॥ ॥ स्वर्ग नरक बैकुण्ठपुरी में तुहि ईश्वर यम फाँसी॥ तुही ब्रह्मा तुही विष्णु, तुही ईश कैलासा॥३॥ तुही गुप्त तुही परगट, तुही रोवै तुही हाँसी॥ तुम से बिना नहीं कछु खाली, कर के देख तलाशी॥४॥

३५० शब्द भजन

मन जो कुछ है सो आपै आप। आपहि जन्मे आपै मरता आपहि तपता तीनो ताप॥टेक॥ आपै पंच भूत दस इन्द्री, मन बुद्धि चित अहंकारहि आप॥ आपहि पंच भूत को रचना, आपहि है सब पाप अपाप॥१। आपही देव आपही पूजा, आप आपका करता जाप॥ आपहि नेम धरम को धारे, आपहि करै पुन्य और पाप॥२॥ आपहि संपद् आपहि तत पद, आपहि असि पद पूरन आप। आपहि ब्रह्मपद आप ब्रह्म है, आपहि जाप अजपा आप॥३॥ आपहि गुप्त आपही परगट, सब ही खेल खिलारी आप॥ आप बिना कोइ दूजा नाहीं आपही सब पसारे आप॥४॥

३५१ शब्द भजन

अब राम भजन को कर तैयारी ।। क्या भूल्या दुनियां के सुख में, अन्त समय होगी ख्वारी ।।टेक।। क्या जबाब देगा साहब को, जब होगी पेशी थारी ।। सुबुक सुबुक कर रोवे मूरख, जब होवे डिगरी जारी ।।१।। यहाँ तो भोग विलास किये थे, वहा विपत भुगते भारी ।। यम दूतन से आनि छुटावे, सुमिरे क्यो ना गिरधारी ।।२।। सोवे मे मत भूले मूरख, क्यों खोवे आयू सारी ।। हरि की भक्ती क्यो नहिं करता, बिगड़ी बात सुधारे सारी ।।३।। गुप्त गली मे जल्दी आवो खोज करो सब नर नारी ।। अब के औसर चूकि जायगा, पूजा होय अतिशय भारी ।४।।

३५२ शब्द भजन

भला मुक्त दुवारे पर आया ।। अब तो चेत मुसाफिर प्यारे, क्यों फसता झूठो माया ।टेक।। काल बली का बजे नगारा, राजा रैयत सब खाया ।। घड़ी पलक की खबर नहीं है, अमर नहीं तेरी काया ।।१।। मुट्ठी भीचे जगत् मे आया, अपने संग कछु नहीं लाया ।। यहा पै देख्या माल पराया, हक नाहक को अपनाया ।।२।। सौदा करो समुझि सौदागर, जिस सौदे को तू आया ।। सुकृत करले राम सुमिर ले, भला वखत तुझको पाया ।।३।। सभी जगत से नाता तोड़ो, ईश्वर में मन को लाया ।। लोक वेद सब झूठे लागे, गुप्त रूप जब ही पाया ।।४।।

३५३ शब्द भजन

मत्र म्रय ज्ञान की सुनी बानी ॥ पंच कोश में व्यापक आतम, ब्रह्म रूप है निरबानी । टेक॥ सो है व्यापक रूप आपना, खोज करो मन सब मानी॥ जो कोई आतम बिद्या पढ़ता, पढ़ता नहीं बारो खानी ॥ १ ॥ वेद शास्त्र कथन करत हैं, समझत नाहीं अज्ञानी ॥ पोथे बांचत कथा सुनावे, मरमि रहा पुस्तिक सानो ॥ २ ॥ भेद बाद की फिरे गली में, पूजत है पत्थर पानो ॥ प्रेम मोह के फन्दा फन्द में, नहीं मूर्ख माहि तत् ज्ञानी ॥ ३ ॥ जो नर गुप्त ज्ञान पाता है, विषय वासना सब मानी ॥ पद्म पत्र ज्यों जग में रहते, तिनको नहीं होत हानी ॥ ४ ॥

दोहा—

ब्रह्म ज्ञान यहि जानना, आतम ब्रह्म सरूप ॥
वेद कहे नित टेरि के, सब भूपम का भूप ॥

३५४ शब्द भजन

हंसा भूल्या निज घाम को, जग से भटकत डोले है ॥ टेक ॥ मान सरोवर छूट गया न्हाना, भूल गया मोती का खाना ॥ बुगलों में मिलि हुवा दिवाना खाता है मच्छी मास को, बुगली बोली बोले है ॥ १ ॥ छूटि गये निज आतम धर्मा भूलि गया कुल के सब कर्मा ॥ बनवा बोले धर्मा धर्मा करता नहिं आप संभाल को, कुछ और और बोले है ॥ २ ॥ पगलों में मिलि हो गया पागल, है

तो हंस बोलता बगला ॥ पराक्रम भूलि गया है सगला, भूल्या है देश अरु काल को, जड़ ग्रंथी नहीं खोले है ॥ ६ ॥ गुप्त रूप पूरन है ज्योती, बात तजो बुगलों की थोथी ॥ अहं ब्रह्म यह खावो मोती, दूरि करो यम काल को, परवत तृण के ओल्हे है ॥ ४ ॥

३५५ शब्द भजन

तुहिं हाजिर सदा हजूर है, फिर किसका जाप करे है ! टेक॥ सब के शामिल सब से न्यारा, जाग्रत स्वप्न खेल विस्तारा ॥ सुषपती में है यक तारा, तुरिये में भर पूर है, क्यों झूठा नाच नचे है ॥१॥ तीन अवस्था जाननहारा, ऐसे है तीनों से न्यारा ॥ क्यों फिरता है मारया मारा, नहीं नेरे नहीं दूर है ॥ फिर किसका ताप तपे है ।२॥ व्यापक है सो रूपतुम्हारा, ना कछु हलका ना कछु भारया ॥ ना वह मधुर नहीं वह खारया, ज्यों का त्यो भरपूर है ॥ यह क्यों ना जाँच जंचे है ॥ ३ ॥ गुप्त भेद को नहिं लहता है, कछु और और हि कहता है ॥ याही से भवसागर बहता है, तुझको कछु नहीं सहूर है ॥ भवसागर नहीं तिरे है ॥ ४ ॥

३५६ भजन

बात यह कहते वेद पुरान, ब्राह्मण सोई ब्रह्म पिछाने ॥टेक। सम दम शौचरु तप को करता, हिंसा रहित शांति को धरता ॥ ज्ञान विज्ञान आस्तिक चरता, यहि ब्राह्मण का लक्षण जाने ॥ निज आतम रूप को जाने ॥ १ ॥ सोई क्षत्री छहूँ को जाने, दिनकर

तेज धार्यता ठाने ॥ युद्ध से उल्टा हटि नहिं जाना ॥ क्षत्रिय होवे चतुर सुजान ॥ सब दान विधी को जाने ॥ ॥ वैश्य सोई जो वणिज बढ़ावे, खेती करता गऊ चरावे ॥ ईश्वर में भा मा मन लावे, तब होवे कल्यान ॥ नित्य तीन धर्म को ठाने ॥३॥ एक धर्म शूद्र का वरन्या, तीन वर्णों की सेवा करना ॥ शुभ ध्यान ईश्वर का धरना, ऐसे धर्म भावना जान ॥ गीता में कृष्ण बखाने ॥४॥

३५७ भजन

जग नहीं वन्ध्यापुत्र समान है, फिर ईश कौन का करता ॥टेक॥ साक्ष्य बिना साक्षी सिद्ध होवे, दृश्य नहीं नेत्र क्या जोवे ॥ भरम नींद में कैसे सोवे ॥ नहीं रूप नहीं नाम है ॥ फिर क्यों जन्मे की मरता ॥ १ ॥ दोष अज्ञान को ज्ञान नशावे, बंध होयतो दुःखी पावे ॥ वेद शास्त्र नित्यही गावे, झूठे हम झूठ अज्ञान है, क्यों झूठा झगड़ा धरता ॥ २ ॥ वेद वृक्ष का जो फल चखते, सो करता पुनी नहिं रखते ॥ निश्चय की निजरूप में अंचते, इस में अनुभव परमान है, गुरु निश्चय सदा अकरता ॥ ३ ॥ गुप्त भेद कोई छल बल का, जिसके लेन नहीं रह स्वद कम ॥ झूठा झगड़ा विधि निषेध का, मूर्ख का विश्वान है ॥ ज्ञाता इन सबसे तरता ॥ ४ ॥

३५८ भजन

जो कछु भासत है निस्सार ॥ बिरली का मत है सारा ॥टेक॥ अन्तःकरण अविद्या द्वार ति का भिड़ि परिणाम जो होए, विषम

का परकाश सोई ॥ रूप समान विचार, सोई सब जग का आधारा ॥१॥ ईश-ज्ञान माया की विरती ताते सर्वज्ञता को धरती ॥ जीव-ज्ञान अन्तःकरन विरती, अविद्या रूपा सर्प निहारी, सो सत्य असत्य रूझारा ॥ २ ॥ भरम यथार्थ ज्ञान कहावे, दोनो संस्कार उपजावे ॥ जिसतें ज्ञान सिमिरती पावे, अन्दर करो विचार, अनुमान ज्ञान से न्यारा ॥ ३ ॥ गुप्त ज्ञान है सबसे न्यारा, विरती ज्ञान को देत सहारा ॥ परमारथ अरु होय वेवहारा, यहि फल है तिसका सार, कर देखो ज्ञान विचारा ॥ ४ ॥

३५६ कव्वाली

यक भूप सैया पर सोये, स्वप्ने में चिल्लाने लगे ॥ टेक ॥ पैर पकड्या स्यारनी को, तिससे घबराने लगे।। योधा खड़े चौफेर को वह उनको बुलवाने लगे ॥ १ ॥ योधारु हथियार सब कछु, काम नहीं आने लगे । स्वप्ने का डंडा हाथ ले, वह उससे छुटवाने लगे ॥ २ ॥ पग छूटि कर लंगड़े हुये, जर्रार को जाने लगे ॥ फोहा न दोना तासु को, फिर रहचते आने लगे ॥३॥ मिल गये मुनि यक स्वप्न में, वह जड़ी को लाने लगे ॥ नहीं राज धन कछु काज आया, गुप्त समझाने लगे ॥४॥

दोहा—

राज विभूति नृप के, कोऊ न आई काम ।
स्वप्ने के मुनि दंड ने, सभी संमारथा काम ॥

तेज चारोंसा ठाने ॥ गुरु से उल्टा हटि नहिं जाने ॥ आस्तिक होवे चतुर सुजान ॥ सब दान विधी को जान ॥ २ ॥ वैश्य कोई जो बनिज बढ़ावे, खेती करता गऊ चरावे ॥ ईश्वर में मन ला मग्न समावे, जब होवे कल्यान ॥ निज तीन धर्म को ठाने ॥३॥ एक धर्म शूद्र का वरन्या, तीन वर्ण की सेवा करन्या ॥ गुप्त ध्यान ईश्वर का धरन्या, सबै धर्म आपना जान ॥ गीता में कृष्ण बखाने ॥४॥

३५७ भजन

जग नहीं सपुष्प समान है, फिर ईश कौन का करता ॥टेक॥ साम्य बिना सामग्री छांहिं होवे, रूप नहीं सेवतर क्या आवे ॥ भरम नींद में कैसे सोवे ॥ नहीं रूप नहीं नाम है ॥ फिर को जन्मे को मरता ॥ १ ॥ होम अज्ञान जो ज्ञान नसावे बंध होयतो मुक्ती पावे ॥ वेद शास्त्र मिथ्या गावे, मूंठे हम झूंठ बखान है, क्यों ईश्वर झगड़ा धरता ॥ २ ॥ वेद ईश का जो फल पावते, सो करता पुरुषी नहिं रखते ॥ निश्चल ब्रह्म निजरूप में संचते, इस में अनुभव परमान है, गुरु निश्चय सदा अकरता ॥ ३ ॥ गुप्त भेद कोई ब्रह्म वद का, तिसके लेश नहीं रह खेद का ॥ मूंठा झगड़ा विधि निषेध का मूर्ख का विख्यान है ॥ ज्ञानी इन सबस तरता ॥ ४ ॥

३५८ भजन

जो कछु भासत है विस्तार ॥ विरती का खेल है सारा ॥टेक॥ अन्तःकरण अविद्या दोई, तिनका मिलि परिणाम जा होई, विषयन

दोहा—

जो पावे सत् रूप को, मिटि जावे सब शोक ॥
सब कहते वेदरु शास्तर, और महाजन लोक ॥

३६२ शब्द

सब झूठे गुरु और चेला, वेद गुरु कहे पुकार ॥ टेक ॥ झूठयों का झूठा नाता, क्यों कूटे भरम में माथा ॥ करो आतम में निरधार ॥ १ ॥ गुरु वेद सत्य जो कहते, सो द्वैत माहिं बँध रहते,—नहीं अद्वैत मझार ॥ २ ॥ भव दुख मिथ्या गुरु वेदा, यों करे वेद गुरु छेदा ॥ मिथ्या जग का परिहार ॥ ३ ॥ यह ज्ञान लखो गुसाईं, झूठे की धूलि उडाई ॥ तजो तिसका हंकार ॥ ४ ॥

३६३ शब्द

गुरु वेद कहे समझा के, जगत् सब स्वप्न समान ॥ टेक ॥ यह जगत जाल छिटकावो, झूठे झगड़े क्यों ठावो । बात तिनकी सो मान ॥ १ ॥ तुह कहता हम सन्यासी, फिर क्यों फंसे लोभ की फासी ॥ धर्म अपने को पिछान ॥२॥ तीरथ पर चढ़े भंडारा, दमडयों का ढग है सारा ॥ बाचते कथा पुरान ॥ ३ ॥ नहीं गुप्त भेद को जान्या, काहे को लगावत बाना । लोभ हित करैं विख्यान ॥ ४ ॥

३६४ शब्द

कम तौले झूंठ को बोले, रहे कैसे धर्माचार ॥ टेक ॥ तकड़ी का खेंचे काना, तेरा सभी कपट हम जाना। लेवे पासंग को

३६० क़व्वाली

मैं तो विषयों के सुख में सोया पड़या गुरु ज्ञान ने आन जगाय दिया ॥ अब जागि उठ्या सब भ्रांति तज्या मेरा मानस मोह छुड़ाय दिया ॥ टेक ॥ गुरु ज्ञान कलेजा फोड़ि गया, ईश्वर से नाता जोड़ि गया ॥ सब जग से यारी तोड़ि गया, निज आतम माहिं समाय दिया ॥ १ ॥ जब जानि लिया निज रूप सही, मेरी करोड़ जन्म की भूल बही ॥ ज्ञानाग्नि से सबहि अविद्या दही मेरा आतम तत्त्व दिखाय दिया ॥ २ ॥ जैसे निद्रा गये से गया सपना, तैसे आतम ज्ञान से जगत् हुआ ॥ नभ नील समान लखान भया, मेरे दिल का भ्रम धोवाय दिया ॥ ३ ॥ गुरुदेव ने फन्दा काटि दिया, मेरा टूट्या नाता जोड़ि दिया ॥ अब सफल हुआ है जन्म लिया, सब समझाया गुप्त बुझाय दिया ॥ ४ ॥

३६१ राग तरंगा

रे मुसाफिर प्यारे, काहे पर भया है दीवाना ॥ टेक ॥ झूठा ही यह ख्याल रचा है, झूठे राजा राना ॥ झूठा है सब लश्कर, झूठे पुरे निशाना ॥ १ ॥ पंचभूत की झूठी रचना, स्वर्ग पताल बखाना ॥ झूठे ही सब स्वर्ग नर्क हैं, झूठे ही तिनका पाना ॥ २ ॥ झूठी काया झूठी माया झूठे पिंड प्राना ॥ जीव ईश दोऊ हैं झूठे, सोइ सबका जिन जाना ॥ ३ ॥ सोई चेतन रूप तुम्हारा यही ज्ञान यही ध्याना ॥ तास भिन्न जो दीखे सुमिन, मिथ्या सकल भुलाना ॥ ४ ॥

दोहा—

भगत वही है जगत् में, पर धन करते घात ।
घात बनावें धर्म की, लोगों को दरसात ॥

३६६ ग़ज़ल

लगे हैं लोभ के मारे, यहाँ पंडित वहां काजी ॥ नीर नहीं क्षीर को छाने डोब दई दोनों की बाजी ॥ टेक ॥ गला वह रूह का काटें, खून और मांस को चाटें ॥ कैसे उस खुदा के नाटें, जिसने यह रचना सब साजी ॥ १ ॥ पत्थर पानी को पुजवाते, मन्दिर में रंडी नचवाते ॥ राग रसिकों के वे गाते ॥ बने हैं लोभ के पाजी ॥ २ ॥ राखते ग्यारस और रोजा, ढावते मजर का बोझा ॥ नहीं सब घट खुदा सूझा, कौन करनी से है राजी ॥३॥ बेद क़ुरान को जानें, लोभ वश तिनकी नहीं मानें ॥ गला चेतन का वह भानें, गुप्त गावे गजल ताजी ॥ ४ ॥

३६७ गजल

अंत में होय पछिताना, हाथ दोऊ जायगा खाली ॥ कहा गफलत में सोता है,गये बड़े मुल्क के वाली ॥टेक॥ जिनों के चले थे चक्कर,तिनों की कोई नहीं सरवर॥ काल जिन राख्या अपने घर, लगाकर कैद में ताली ॥१॥ हरी की भक्ति नहीं पाई, मार उन सब ही को खाई ॥ खोज जिनका नहीं राई, रह्या नहीं मूल अरु डाली ॥२॥ चेत अब छोड़ि के हंकार, हरी की भक्ति कर होय

मार ॥ १ ॥ शुद्ध मूंठी देव गवाही, गंगाजी सभा में आई ॥ दूर किया कुल परिवार ॥ २ ॥ चोखी करे अधिक कमाई, हम सुने महाजन भाई ॥ लेवे पच्चीस हजार ॥ ३ ॥ सुन गुप्त बात को भाई, तुम सच्ची करो कमाई अभी होवे उद्धार ॥ ४ ॥

दोहा—

नाम महाजन कहत हैं, करते बड़े अकाज ।
मोल करें बाजार में, नेक न आवे लाज ॥
कन्या बेच धन खाहिंगे, सो भर क्यों नहिं जाहिं ।
भोजन नाहीं समझना, खून मांस को खाहिं ॥

३६५ गजल

बच्चा छौकिक बड़ाई पर, पड़ी गल मजब की फांसी ॥ करे बाजार व्याख्याना पुत्री कुरमों की हांसी ॥ टेक ॥ ममत की माया फैलावे, जानवर भांति छंस खावे ॥ अपनी गरज को गावे, बुद्धि निज रूप से नासी ॥ १ ॥ सभा बह बहुत सी लावे, नम भर बरत करवावे ॥ कमती बोलना न सुहावे, झूठ बोलना न छुटवासी ॥ २ ॥ ओपथे भीखती खाना, तजें नहीं कन्या बिकराना, बहुत सुनते हैं व्याख्याना । करें नहिं धर्म उदासी ॥ ३ ॥ कथ्य कथनी करे भारी, तीस हजार के बांके ॥ रही नहिं मनमें बाकी, गुप्त कहता है कैलासो । ४ ॥

को तकते डोलें, हाथ तिना के डालो है ॥२॥ तोड़हि फूल मूल मे फाड़े, करते बहुत कुचालो है ॥३। गुप्त ताब फूलन के लावे, खैंचि फुलेल करे खालो है ॥४॥

३७१ शब्द

गुल सूखा हरा नहिं होता है ॥टेक॥ पिड ग्रान का योग है जब लग, क्यो न पाप को धोता है ॥१॥ कोटी जनम जग भरमत हो गये, क्यों ना मूल अविद्या खोता है ॥२॥ काल आय तत काल बिनासे, क्या गफलत मे सोता है ॥ ३ ॥ गुप्त उपाय कियो नहिं पहिले, अन्त काल क्या रोता है ॥४।

३७२ शब्द

इस दम का कुछ नहीं ठिकाना है ॥टेक॥ भूलि रह्या धन धाम धाम में, तिनके हाथ बिकाना है ॥१॥ घड़ी पलक की खबर नहीं है, कब कर चले पयाना है ॥२॥ खानपान विषयों के सुख में, होय रह्या मस्ताना है ॥३॥ गुप्त गली में कबहुँ न आया, अत रसातल जाना है ॥४॥

३७३ शब्द

रंग लाग्या है सतसग रेनों का ॥टेक॥ घट ही भीतर देव दरसवा, दरशन माधोवेनी का ॥१॥ अलख की झलक नैन बिच छाई, घाट न्हाये तिरवेनी का ॥२॥ कहना और करै कछु औरा, क्या फल होवत कहनी का ॥३॥ गुप्त भेद का फंदा टूट्या, जब घर पाया रहनी का ॥४॥

को तकते डोलें, हाथ तिनां के डालो है ॥२॥ तोड़हि फूल मूल से फाड़े, करते बहुत कुचालो है ॥३॥ गुप्त ताव फूलन के लावे, खैंचि फुलेल करे खालो है ॥४॥

३७१ शब्द

गुल सूखा हरा नहिं होता है ॥टेक॥ पिंड प्रान का योग है जब लग, क्यों न पाप को धोता है ॥१॥ कोटी जनम जग भरमत हो गये, क्यों ना मूल अविद्या खोता है ॥२॥ काल आय तत काल विनासे, क्या गफलत में सोता है ॥ ३ ॥ गुप्त उपाय कियो नहिं पहिले, अन्त काल क्या रोता है ॥४।

३७२ शब्द

इस दम का कुछ नहीं ठिकाना है ॥टेक॥ भूलि रह्या धन धाम बाम में, तिनके हाथ बिकाना है ॥१॥ घड़ी पलक की खबर नहीं है, कब कर चले पयाना है ॥२॥ खानपान विषयों के सुख में, होय रहा मस्ताना है ॥३॥ गुप्त गली मे कबहुँ न आया, अत रसातल जाना है ॥४॥

३७३ शब्द

रंग लाग्या है सतसग रेनों का ॥टेक॥ घट हो भीतर देव दरसता, दरशन माधोवेनी का ॥१॥ अलख की झलक नैन विच छाई, घाट न्हाये तिरवेनी का ॥२॥ कहना और करै कछु औरा, क्या फल होवत कहनी का ॥३॥ गुप्त भेद का फंदा टूट्या, जब घर पाया रहनी का ॥४॥

❀ ॐ ❀

तत्वज्ञान-गुटका

द्वितीयावृत्ति की प्रस्तावना

श्रीमत्परहंस परिव्राजकाचार्य, ब्रह्मश्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ट, अवधूत श्रीकेशवानन्द जी महाराज (ब्राह्मीभूत श्री केशव भगवान्) रचित इस "तत्वज्ञान-गुटका" का द्वितीयावृत्ति प्रकाशित करते हुए परमहर्ष होरहा है ।

प्रथमावृत्ति "श्री भुवनेश्वरी प्रिंटिंग प्रेस-रतलाम" से सं० १९८२ में रा० रा० पं० कान्तिचन्द्रजी श्री निवासजी पाठक द्वारा प्रकाशित हुई थी, जो कि छोटे आकार (२०×३०=३२) में थी, परन्तु इस आवृत्ति में आकार परिवर्तन के साथ ही अनन्त श्री गुप्तानन्द जी महाराज रचित "गुप्तज्ञान-गुटका" के पीछे इसे आबद्ध कर दिया गया है । एवं-- श्री गुप्तानन्द जी महाराज रचित कुछ भजन और कवित्त जोकि इसकी प्रथमावृत्ति में संयुक्त होगये थे, वह सब यथास्थान "गुप्तज्ञान गुटका" में ही रख दिये हैं ।

यद्यपि—इस आवृत्ति में सशोधन पर विशेष ध्यान दिया गया है; तथापि-जो त्रुटियाँ रहगयीं, वा-होगयी हों, वह सब आगे श्री केशव भगवान् उसी प्रकार सुधारते का अनुग्रह करें,-जिस प्रकार कि-इस आवृत्ति में ॐ ॥

प्रकाशक—

प्रथमावृत्ति की प्रस्तावना

श्रीमत् परमहंस परिव्राजकाचार्य ब्रह्मश्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ अवधूत स्वामी श्री केशवानन्दजी महाराज (श्री केशव भगवान्) विरचित पद पद संग्रह रूपी "तत्त्वज्ञान-गुटका" विवेकी जनों के हितार्थ उनकी आज्ञा से प्रकाशित करने में आया है। इसके अन्त में परम पूज्यपाद महात्मा श्री १०८ श्री स्वामी गुमानन्दजी महाराज कृत कवित्त पचीसी आदि कुछ अति उत्तम भजन भी सम्मिलित किये गये हैं।

तत्त्वज्ञान तथा आत्मज्ञान सम्बन्धी उपदेश-अनेक-पद संगीत-श्रृंखला में होने के कारण जनता के अन्तःकरण को उत्तम सिद्धान्तों की ओर आकर्षित करने में विशेष उपयोगी प्रतीत होते हैं। इस गुटके में नीति, धर्म और सदाचार के भाव भी इस प्रकार प्रगट हैं; जिनकी ओर श्रद्धा पूर्वक मन लगाने से "गूढ़-तत्त्वों का बोध" सहज ही होसकता है।

सच्चे सन्तों की इस प्रकार प्रेममय और मनोहारिणी-वाणीरूपी-अमृत से भली भाँति भरा हुआ, यह "तत्त्व-ज्ञान-गुटका" यथार्थ स्वाद लेनेवाले धर्म प्रेमी तथा जिज्ञासु-जनों को सदा के लिये सुखी करने में समर्थ है।

प्रकाशक—

❀ ॐ तत्सत् ❀

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

अथ तत्व ज्ञान गुटका प्रारम्भः

मङ्गलाचरण ।

ग्रन्थ के आदि में मङ्गला चरण लिखते हैं। सो मङ्गला चरण तीन प्रकार का होता है। एक "वस्तु-निर्देशरूप" दूसरा "नमस्कार रूप" तीसरा "आशीर्वाद रूप" मङ्गला चरण होता है।

—०—

अथ "वस्तु-निर्देशरूप" मङ्गलाचरण।

दोहा—

निर्गुण सगुण परमात्मा, वस्तु ताहि पिछान ।
भिन्न भिन्न कीर्तन का, निर्देशहि ले जान ॥

—०—

अथ 'नमस्कार रूप' मङ्गलाचरण।

चौपाई—

असुरन को जो करै संहारा। तिनको नमस्कार है म्हारा॥
लक्ष्मी पारवती पति होई। भजतन को संतत भजै सोई।१॥

—०—

अथ "आशीर्वाद रूप" मङ्गलाचरण।

सोरठा—

शिष्य वांछित स्वय वांछि, करत प्रार्थना जो नर।
याते दूर व्है भ्रान्ति, आशीर्वाद ताको कहत ॥२॥

—o—

अथ "अनुबन्ध"।

ग्रन्थ के आदि में अनुबन्ध होता है, जिस के जाने बिना जिज्ञासु पुरुष की ग्रन्थ में प्रवृत्ति नहीं होती है इस कारण से अनुबन्ध कहते हैं—

दोहा—

१ २ ३ ४
अधिकारी सम्बन्ध ये, विषय प्रयोजन जान।
कोविद कहत अनुबन्ध इन, ग्रन्थ आदि में ज्ञान ॥३॥
निज आतम अज्ञान से, भूले थे बहु काल।
कृपा भई गुरु गुरु की, पाया घर में माल ॥४॥
विघन हरन मंगल करन, गणनायक भी भूप।
मम हिरदे आयो बसो, सत्य दरश अनूप ॥५॥

१ भैरवी।

लागत म्हाने प्यारा गुरू जी ना बाम ॥टेक॥ जिनकी बानी से तपनी बुझानी होत न कष्टों मन जोड ॥ १ ॥ 'मर्द मद्यारिम'

मत्र दियो है, उठ गई चित्त की पोल ॥२॥ मिट गये काम, क्रोध, मद, ममता, वज गये दशो दिशि ढोल ॥३॥ पाचों को बस करि, पचीसों को दूर कर, होत न जग मॉहि झोल ॥ ४ ॥ सत् गुरु किरपा भई केशव पर, पायो है रतन अमोल ॥५॥

२ भैरवी ।

गुरू जी मोहि प्यायो सुधा रस वैन ॥टेक॥ सत के पात्र धर्म के प्याला, अमृत रस सुख दैन ॥१॥ मिटि गया तिमिर उदय भये भानु, मिलि गया ज्ञान रतन का ऐन ॥२॥ मिलि गये माल दूरि भये दारिद्दर, हो गया चित्त को चैन ॥३॥ उठि गई चाह मिटि गयी तृष्णा, दूरि भये भव दुख भैन । ४ । कीन्ही कृपा गुरु जी केशव पर, लखायी है ब्रह्मानन्द सैन ॥५॥

३ भैरवी ।

लाग्यो म्हारो, चित्त गुरूजी की ओर ॥टेक॥ यह संसार फूल सीमर को, तासे दिल उठि गयो मोर ॥१॥ सुन्दर तिरिया विष से भरिया, करती है मोक्ष मार्ग में खोर ॥२॥ तात मात अरु सुत वनितादिक, अन्त चले कोई नहिं छोर ॥३॥ काम क्रोध और मद ममता, ज्ञान बिना फिरत जैसे ढोर ॥४॥ यह तनु है चौसर की बाजी, अब तो भूलो मत भोर ॥५॥ तीनों लोक भोग सब तज कर, केशवानन्द आये शरनवामे तोर ॥६॥

अथ "आशीर्वाद रूप" मङ्गलाचरण।

सोरठा—

शिष्य वांछित स्वप वांछि, करत प्रार्थना जो नर ।
यासे दूर व्है भ्रान्ति, आशीर्वाद ताको कहत ॥२॥

—०—

अथ "अनुबन्ध"।

ग्रन्थ के आदि में अनुबन्ध होता है, जिस के जाने बिना जिज्ञासु पुरुष की ग्रन्थ में प्रवृत्ति नहीं होती है इस कारण से अनुबन्ध कहते हैं—

दोहा—

अधिकारी[1] सम्बन्ध[2] ये, विषय[3] प्रयोजन[4] जान ।
कोविद कहत अनुबन्ध इन, ग्रन्थ आदि में ज्ञान ॥३॥
निज आतम अज्ञान ते, भूले थे बहु काल ।
कृपा भई गुरु गुप्त की, पाया घर में माल ॥४॥
विघन हरन मंगल करन, गणनायक श्री भूप ।
मम हिरदे बाणी बसो, तत्त्व दरश अनूप ॥५॥

१ भैरवी।

अनोखे म्हाने प्यारा गुरू जी ना बोल ॥टेक॥ जिनकी बानी से वचनी पुरानी, हाव न कच्चो मन बोल ॥ १ ॥ भई अभ्यासिन

चाकरी मन जमाई है ॥ १ ॥ कोई लिखते भरे पानी, कोई रोटी बनाई है। गले मे धार जनेऊ विप्र, दासी-पति कहाई है ॥२॥ छत्र को छोडकर क्षत्री, टोप माथे लगाई है। वदन में कोट पग में वूट, घड़ी पाकेट में आई है ॥३॥ छाँड़ कर नीति अरु तप को, स्वाद इन्द्रिय भ्रमाई है। न देखे दु ख परजा को, चोरलापन वढ़ाई है ॥४॥ है छोडा धर्म वैश्यो ने, अधिक तृष्णा समाई है। खरीदेंरु वेचते दूना, करे लालच सवाई है ॥५॥ वेचें वेटी करें खोटी, जरा नहिं लाज आई है। हैं चलते चाल अति उजली, कृती जिनकी कसाई है ॥६॥ छाँड़ कर चाकरी को शूद्र, जप तप मन वसाई है। लगाते छाप तिलकादिक, सहज माला गटकाई है ॥७॥ भूले हैं साधना साधू, वहुत परपच फँसाई है। कोई धाम कोई चाम, कोई दाम हाथ लफाई है ॥८॥ वनाये भेख रँग रँग के, कथे कथनी सफाई है। निजातम रँग ना रँग कर, फक़ीरी यों गमाई है ॥९॥ मन्दिर मे गुनी पति को छांड़, अन्य से करे यारी है। सास का कहा माने नहिं, करे पति से रिसाई है ॥१०॥ सुहागिनि हीन भूषण से, विधवा सिंगार रचाई है। भूलकर लोक अरु परलोक, करे हाँसी चोलाई है ॥११॥ त्याग के संग सज्जन का, नीच से प्रीति लगाई है। करे उपदेश जो सच्चा, उसी से मुंह फुलाई है ॥१२॥ करे उपकार जो जिसका, उसी की करे बुराई है। समझ ऐसी पड़ी उलटी, होवे कैसे भलाई है ॥१३॥ लिखे लक्षण यह थोड़े से, वहुत समझे चतुराई है। वजाते बीना

४ गजल

बलिहारी गुरु ईश्वर, अजब गाड़ी बनाई है। लगायीं कलें रँग रँग की, तिस होती सराई है॥ टेक। बनाई पंच भूतों से, मिला गुण से सजाई है। है चलती जोर से भारी, भेद जिसको कठिनाई है॥ १॥ शरीर सूक्ष्म बना इंजन, स्थूल डब्बा लगाई है। सड़क कर पाप पुण्यों की, कि जिस पर छम चलाई है॥२॥ लोक संयोग छगी पहिया, सत्व नामी जमाई है। क्षमा आर्जव बनो नाली, भाम तिस पर चढ़ाई है।३॥ चार संकल्प विकल्प है, लवर जल्दी से लाई है। समझकर कर्म मन मास्टर, दिया झण्डी बजाई है।४। छुटी संचित से गाड़ी,प्रारब्ध स्टेशन आई है। आगामी आने को तैयार मुसाफिर जीव बिठाई है॥ ५॥ गार्ड हंकार की संगी, बुद्धि ड्राइवर चलाई है। स्वास धुआँ चली जोर से, शब्द सीटी बजाई है॥ ६॥ टिकट ले कोई सुरपुर को, कोई बैकुण्ठ जाई है। है जिसके पास में पूरा, वही निज घर को जाई है॥७। नहीं लेना नहीं देना, नहीं करनो कमाई है। केशवानन्द खुली रस्ता जहाँ आकर न जाई है॥ ८॥

५ गजल

आया कलियुग सुनो संतो, धर्म की राह भुलाई है। है त्यागा धर्म वर्णों ने, करें उल्टी कमाई है॥ टेक॥ भुलाकर विद्या विप्रों ने क्षेम दिल माहिं लाई है। तजा निज कर्म सन्ध्यादिक,

तव ज्ञान परकाशी । मिटें सब ताप या मन के, छुटे सब भर्म की राशी ॥२॥ जपो निज जाप शिवोहं का, यही है ज्ञान सुख राशी । यही है ध्यान अरु पूजा, यही अज्ञान का नाशी ॥३॥ छाड सब मैं अरू मेरा विचारो कोई नहीं तेरा । मिटाया केशव सब खेड़ा, लखा निज आप को खासी ॥४॥

८ ग़ज़ल

भूलो मत काम धन्धे में, पडोगे जग के फन्दे मे । जपो निज जाप अन्दर में, मिटें सब ताप पल भर में ॥टेक॥ भूले थे माया आसी में, लगाये गुरू निराशी में । लगा है मन उदासी में, कटा सब भर्म काशी मे ॥१॥ जिसे हम जानते बन में, वो पाया आपके घर मे । छुटी सब आश या मन में, लगा है चित्त चिद्घन में ॥२॥ यही है धर्म सन्तों में जमाया वुद्धि नूरों में । जराया कर्म या वपु में, न आवे फेर या भव में ॥३॥ वहो मत मृग तृष्णा में, मिथ्या ज्यों पुष्प गगनों में । गु[illegible] जव मिला तन में, रहा नहिं काम इस जग में ॥४॥

९ ग़ज़ल

राम रस प्याला [illegible] त्या जम का भाला है । धरम [illegible] रस, विचा[illegible] पियाला है ॥टेक॥ झूमे निज [illegible] ब्रह्मानन्द [illegible] । उठी वृत्ति प्रवाहों की, [illegible] है ॥ [illegible] फक्कड़ों का, लकारों को

भैंसी पास भास भावे पगुराई है ॥१४॥ छिमा छपण कलियुग का, माम इसका तो कर जुग है । करे इस हाथ पावे वस हाथ, यही वेदों न गाई है ॥१५॥ जो काइ करे रक्षा धरम, उसी से कटे कर य भरम । केशवानन्द वो पावे ब्रह्म, न इस में मूंड राई है ॥१६॥

६ गज़ल

बिना सत संग सुन प्यारे, गती नहिं होयगी तेरी । मूला क्यों फाउ माया में, छुटेगा फल के फेरी ॥टेक॥ बड़े भाग्यों से है पाया, मनुष के तन में जो आया । भड़ी पल छिन में है खोया, नाचता काल शिर नेरी ॥१॥ बांध सब मैं और मेरी, बिचारो ब्रह्म को सवेरी । ये हैं सब काल के चेरी, जरा टुक आप को हेरी ॥२॥ करो सत संग संजन स, मिटे सब भरम अन्दर से । लखो निज आप अपन को, कटे सब काल की बेरी ॥३॥ जब सत् गुरु मिले पूरे, सुझे सब हीय क पूर । पाया केशव गुप्त इसी तन में, करे जगजाल की इरी ।

७ गजल

लखा जब आप अविनाशी, कटी सब कर्म की फांसी । मिटा सब जन्म चौरासी, हुआ मन ब्रह्म में वासी ॥टेक॥ नहीं है आल नहीं परलोक का भासी । है सब ही ठौर में वासी, मन ... काशी ॥१॥ करो दिल साफ अन्दर से, होय

तव ज्ञान परकाशी । मिटें सब ताप या मन के, छुटे सब भर्म की राशी ॥२॥ जपो निज जाप शिवोहं का, यही है ज्ञान सुख राशी । यही है ध्यान अरु पूजा, यही अज्ञान का नाशी ॥३॥ छाड सब मै अरू मेरा, विचारो कोई नहीं तेरा । मिटाया केशव सब खेड़ा, लखा निज आप को खासी ॥४॥

८ ग़जल

भूलो मत काम धन्धे मे, पडोगे जग के फन्दे में । जपो निज जाप अन्दर में, मिटे सब ताप पल भर में ॥टेक॥ भूले थे माया आसों में, लगाये गुरू निराशी में । लगा है मन उदासी में, कटा सब भर्म काशी मे ॥१॥ जिसे हम जानते वन में, वो पाया आपके घर में । छुटी सब आश या मन मे, लगा है चित्त चिद्‌घन में ॥२॥ यही है धर्म सन्तों में जमाया बुद्धि नूरों में । जराया कर्म या वपु में, न आवे फेर या भव में ॥३॥ बहो मत मृग तृष्णा में, मिथ्या ज्यों पुष्प गगनों में । गुप्त केशव मिला तन में, रहा नहिं काम इस जग मे ॥४॥

९ ग़ज़ल

पिया है राम रस प्याला, करे क्या जम का भाला है । धरम के पात्र शान्ती रस, विचारों का पियाला है ॥टेक॥ झूमे निज नैन में आनन्द, ब्रह्मानन्द है मस्ताना । उठी वृत्ति प्रवाहों की, निजानन्द में समाला है ॥१॥ यही है काम फक्कड़ों का, लकारों को

ठाया है। नकार है बार बार जिसको, इकारों से निराला है ॥२॥ गली है जिनका हंसों की, व नारों को निकाला है। पिया है क्षीर ज्ञानों का प्रपंचों को निकाला है ॥३॥ है बसते दश व्यंजन में, निरंजन एक समाला है। कहे केशव मिटा माना, घटा मम ज्ञान-भाला है ॥४॥

१० गजल

घटहि में ढूंढ ले प्यारे, तू बाहर क्यों भटकता है। भवारा है ज्योति जिस मणि की हमेशा जो चमकता है ॥टेक॥ बस बिन तेल बाती के, पवन से नाहिं बुझता है। पाइ जिसके सहारे से, जो सूरज भी चमकता है ॥१॥ छुप तम नाश आप घट के, जहाँ पर दीप जरता है। विरोधी ज्ञान बाहर के, न अन्तर वृत्ति करता है।२॥ मिटे अज्ञान से मूला, काम तूल में होता है। जरे संचित तथा क्रियमाण, एक प्रारब्ध रहता है ॥३॥ छूटे प्रारब्ध फूटे घट, तबहिं महाकाश मिलता है। कहे केशव इसे जब ही, गुरु की शरण बसता है ॥४॥

११ गजल

अगर है चाह ईश्वर का, बुरे कर्मों से दूर रम कर। छोड़ कर आस विषयों से बहिर इन्द्रिय सदा दम कर ॥टेक॥ करो सत्संग सदा मन से, गुरु वाक्यों में श्रद्धा कर। तजो सब मान अपमाना पियो प्रेम ज्ञान रस भरकर ॥१॥ दुनिया दुख रूप है

धन्धा, माया किरातिनी का फन्दा। फंसा है जीव मृग अन्धा, छुटे कोइ बीर जोरावर। २॥ है बैठी मक्खि जब गुड़ पर, लिपट गये तबहि दोनों पर। रोती है शिर को धुन धुनकर, लालच में प्राण गये लड़ कर। ३॥ कुटुम्ब परिवार सुत दारा, केतकी फूल सम प्यारा। सुवा ये छूतेही भौंरा, केशवानन्द छोड़ा सब झगर ॥४॥

१२ ग़ज़ल

करम के भोग भोगे बिन, कभी फुरसत न होती है। टेक। गुरु वशिष्ट से ज्ञानी, धरा है राज का मुहूरत। सजा सब साज गादी के, लगन सब लोग जोता है ॥१॥ तीनों लोकों के मालिक थे, देव जिनके हुकुम में थे। निमित्त जब आये भोगों के आखिर बनवास भोक्ता है॥ २ ॥ हुवे परीक्षित हरिश्चन्द, जिनो ने कलि को रोका था। निमित जब आया भोगों का, डोम घर पानी भरता है ।३। किया है विचार जिस नर ने हुवा है पार या जगमें। कहे केशव विना धीरज, वो शिर धुन धुन के रोता है ।४॥

१३ ग़ज़ल

सुनले ये बात प्यारे, दुनिया से होजा न्यारे। ये सब हैं झूठे व्यवहारे, जैसे मृगनीर सारे॥ टेक॥ अरुनी-फल देख पक्षी, खाता है माँस अच्छी। मारत है चोंच सम्हर कर, टूटे दोऊ ठोर हारे॥१॥ सेमर को देख सूवा, लगावे है आस जूवा। मारत

उठाया है। नकार है बार बार जिनको, दकारों से निराला है ॥२॥ गती है जिसकी हंसों को, ये नारों को निकाला है। पिया है क्षीर ज्ञानों का प्रपंचों को निकाला है ॥३॥ हैं बसते देश व्यंजन में, निरंजन एक समाला है। कहे केशव मिटा भाना, पड़ी गल ज्ञान-माला है ॥४॥

१० गजल

पत्थर में ढूंढ से प्यारे, ये बाहर क्यों भटकता है। भराएक है ज्योति जिस मणि की हमेशा वो चमकता है ॥टेक॥ जले बिन तेल बाती के, पवन से नाहिं बुझता है। पाइ जिनके सहारे से, वो सूरज भी चमकता है ॥१॥ रूप सम माया सब घट के, जहाँ पर दीप जलता है। विरोधी ज्ञान बाहर के, न अन्तर वृत्ति जलता है ॥२॥ मिटे अज्ञान से मूल, अय तूला में होता है। जरे संचित तथा क्रियमाण, एक प्रारब्ध रहता है ॥३॥ छूटे प्रारब्ध फूटे घट, तबहिं महाकाश मिलता है। कहे केशव तभी जब ही, गुरु की शरण बसता है ॥४॥

११ गजल

अगर है चाह ईश्वर का, बुरे कर्मों से डर दम भर। छोड़ कर आस विषयों से बहिर इन्द्रिय सदा दम कर। टेक॥ करो सत्संग सदा मन से, गुरु वाक्यों में श्रद्धा कर। तभी सब मान पियो य ज्ञान रस भरकर ॥१॥ दुनिया दुःख रूप है

सुख दाहै ॥ २ ॥ करा जव दिलका अन्दर में दमकतानूर चमकाई । छुटे सब आस या जग से, हुवे सब दूर भरमाई ॥३॥ मिटा बन्ध-मोक्ष केशव का, लखा जग मिरग तृष्णाई दरीद्र दुःख सब नाशे गुप्त ने जबहि अपनाई ॥ ४ ॥

१६ दादरा ग़ज़ल

विनाये ध्यान ज्ञान के जोना न काम का । जोना पिछाने ब्रह्म को, वो तन है स्वान का ॥ टेक ॥ भटकता द्वार २ को ये टूक के लिये । सहता है अपमान को, यक पेट लिये । भूला क्या अजार में निवार आपका ॥ १ ॥ छाँड भरम के फाँस को विचार कर हिया । वो हरदम है तेरे पास में, जरा दिल में कर दया ॥ जराले कर्म ढेर को मिटाले ताप का ॥ २ ॥ जग है मृग नीर जैसे, जाल है नट का, मिथ्या है शश शृंग तैसे, पुष्प कास का ॥ उठाले हिर्स जग से, भूलना न नाम का ॥ ३ ॥ वोही है तनु धर्म लखा, जो है एक ब्रह्म । न साया काल जाल को, वहाया सर्व भ्रम कहे ताहे है केशवानन्द अब भयो समान का ॥ ४ ॥

१७ दादरा ग़ज़ल

मैं ही हुँ ब्रह्मानन्द मुझे वेद गाता है । मात तात भ्रात सभी झूठा नाता है ॥ टेक ॥ हू अविनाशी नाश रहित, जहां काल नहीं है । पंच कोस शरीर त्रय स्वप्ने दिखाता है ॥ १ ॥ हूँ आकाश वत् व्यापक, भीतर अरु बाहर नित्य शुद्ध नित्य मुक्त तीनों, गुन अतीता

है टोंच सूवा, वह पड़ा अंत पछतारे ॥२॥ वैसे ही सुत नर नारा, माने है बहुप्यारा। आखिर तो होगा न्यारा, पसोना धमी समारे। ३॥ आलस को छोड़ भाई, करले तू कुछ कमाई। यहां चले न जोर राई, केसव कहे बिचारे। ४॥

१४ गजल

मरम की भंगा पीकरके, सत-चित-आनन्द भुलाया है। टेक। अज्ञान सिला अरु मोह की कोढ़ी, तृष्णा घोट मचाया है। राग सोक अरु द्वेष कासनी, ममता मिरच मिलाया है ॥१॥ काम इलायची क्रोध की केसर, छेम बदाम घुटाया है। माया के छोटे में ईष्या अरु, अहंकार से भर मंगवाया है। २॥ चित्त की साफी विषय का गोला, कुबुद्धि भर छनवाया है। बकास मतों की शक्कर मिलाकर, सब भैंगड़ी को पिलाया है ॥३॥ हुआ बदमस्त भुलाया चेतन, सारी आब गमाया है। कहे केशवानन्द पड़ी नहीं गम, चौरासी में भरमाया है ॥ ४ ॥

१५ गज़ल

घटहि में गंगा है प्यारे, नित्यजले मन को तू न्हाई। छुटें सब पाप या विध के, होय अन्दर में उजलाई ॥ टेक ॥ कमी नहिं थाह या जल की बहुत है यामे गहराई। नहरे है हंस मस्ता चित्त, सभी उस में मिलै जाई ॥ १ । बना है घाट चतुष्टय का, हैं जामें समताई। नहावै कोई बिरलेजन जो पावें पद हैं

सुख दाहै ॥ २ ॥ करा जब दिलका अन्दर मे दमकतानूर चमकाई । छुटे सब आस या जग से, हुवे सब दूर भरमाई ॥३॥ मिटा बन्ध-मोक्ष केशव का, लखा जग मिरग तृष्णाई दरीद्र दुःख सब नशे गुप्त ने जबहि अपनाई ॥ ४ ॥

१६ दादरा ग़ज़ल

विनाये ध्यान ज्ञान के जोना न काम का । जोना पिछाने ब्रह्म को, वो तन है स्वान का ॥ टेक ॥ भटकता द्वार २ को ये टूक के लिये । सहता है अपमान को, यक पेट लिये । भूला क्या अजार में निवार आपका ॥ १ ॥ छांड भरम के फाँस को विचार कर दिया । वो हरदम है तेरे पास में, जरा दिल में कर दया ॥ जराले कर्म ढेर को मिटाले ताप का ॥ २ ॥ जग है मृग नीर जैसे, जाल है नट का, मिथ्या है शश शृंग तैसे, पुष्प कास का ॥ उठाले हिर्स जग से, भूलना न नाम का ॥ ३ ॥ वोहो है तनु धर्म लखा, जो है एक ब्रह्म । न साया काल जाल को, बहाया सर्व भ्रम फदे ताहे है केशवानन्द अब भयो समान का ॥ ४ ॥

१७ दादरा ग़ज़ल

मैं ही हुँ ब्रह्मानन्द मुझे वेद गाता है । मात तात भ्रात सभी झूठा नाता है ॥ टेक ॥ हू अविनाशी नाश रहित, जहां काल नहीं है । पंच कोस शरीर त्रय स्वप्ने दिखाता है ॥ १ ॥ हूँ आकाश वत् व्यापक, भीतर अरु बाहर नित्य शुद्ध नित्य मुक्त तीनों, गुन अतीता

है ॥ २ ॥ क्रिया—शक्ति नहीं जिस में ज्ञान शक्ति है ॥ उसी गेबार है नहीं क्षेम कहाता है ॥ ३ ॥ ऐसे निश्चया पाय के करतव्य तजा है, कहता है केशवानन्द वाही साधू कहाता है ॥ ४ ॥

१८ दादरा

करले दया भय जो, पाना है निरवान । जोवखावे वेद गुरू, साहिब को पिछान ॥ टेक ॥ कहते हैं गरू टेर के, रब घट में है भगवान । वो मिलता है सत्संग से, जो कथा सुनावे कान ॥ १ ॥ भटकता है जो बाहर को, वो होता है हेरान । जैसे मृगा मार बिना देता है य प्रान ॥ २ ॥ चमक तरी पाई के, चमकता है य जहान । अख है जब आप को, तब होता नहीं भान । ३ ॥ गुरू-सागर गोता मारा, पायी रतन खान । कहे केशवानन्द अब भयो है समान ॥ ४ ॥

१९ दादरा

दुखी क मारे आके तू करता है क्यों विराम । औसर न ऐसा आवेगा फिर, होजाय तू निरवान ॥टेक॥ लख चौरासी भरम के अब आया है ठिकाना । और भरम सब छांड प्यारे, हिरदे माहीं आन ॥ १ ॥ वेद गुरू भी यही बतावे, व्यापक है एक समान । बोही है सब का आत्मा फिर होता है क्यों हैरान ॥२॥ अन्दर से तू मन बस करले कर तू चतुर्थ ध्यान । कहे अध्यात्मि आप अपना पद ही है ब्रह्म ज्ञान ॥३॥ विषय पांचो बस करले यही हैं दुःख की खान । कहे केशवानन्द य वचन हैं परमान ॥४॥

२० दादरा

सोता है गाफिल क्यों मुसाफिर, जाग जागरे । होजा हुशि-यार माल बचानें लाग लागरे ॥टेक॥ इस नगरी मे नो दरवाजे खुले पडे हैं किवाडे सारे, घुसे हैं पांचो चोर ताके भाग भागरे ॥१॥ स्वधर्म की तोप करले डाट वेराग की वारूद भरले, मारदे गोला ज्ञान के तू ताक ताकरे ॥२॥ सोता सो खोता है प्यारे, वचता रे नहीं मालरे । अब तो कहूँ जागले प्यारे, छाँड़ विषय के राग रागरे ॥३॥ गुरू वेद के आशय समझो, छाँड़ भस्म के फासरे । कहें केशवानन्द मिटा जो जन्म की आग आगरे ॥४॥

२१ दादरा

उठ चलेगा पलमे कोई, काम न आवेगा ॥ कुटुम्ब कबीला छूटेगा, एक जान जावेगा ॥टेक॥ लगावे नहीं देरी, कपड़ा मगावेगा । चढ़ावे घोड़ा काठके, सत नाम बुलावेगा ॥१॥ धरे मसान मे जायके बंधन छुडावेगा, नीचे ऊपर से लकड़ी, फिर आग लगा-वेगा ॥२॥ राख होयगा छिनमें फिर, गगा नहावेगा । देकर तिलां-जलि जलकी, कोई नाम न लेवेगा ॥३॥ करले दया धर्म को, जम जाल मिटावेगा । कहता है केशवानन्द हरी का नाम बचावेगा ॥४॥

२२ दादरा

चामके इस गाव में, रहना किसी को नाहे ॥टेक॥ राज करते राजा गये, खेती करत किसान, बड़े२ जोधा राख होगये,

स्थिर रहा कोई नाहे ॥१॥ जाना है जरूर प्यारे, होता है क्यों अजान दया धर्म हिरदे राखो, बसु मानुष के माहे ।२॥ जब एक किया पाप कमाया भजन किया कछु नाहे । अन्त में यमराज भू का छूटे मारा जायेगा क्या है ॥ ३ ॥ कुटुंब कबीला कोस क सम्पा, राम पिछाना नाहे । कहता है केशवानन्द चेरा, वृथा जमाना जाहे ॥४।

२३ दादरा

जप से जाना है भेद, माया का कान काट दिया ॥ टेक ॥ बना कर मूर्ति ज्ञान की विचार हाथ से । सत्संग और योग के निपात कर दिया ॥१॥ विचरते मौज में सदा, निःशंक होय कर, भरम का पर्दा तोड़, कर्म को जला दिया ॥ २ ॥ योनहिं जाना है भेद, उन के सिरमोर होयकर नचाता है निशीदिन मन को, आधीन कर लिया ॥ ३ ॥ करले विचार पक्का, तू ही सरजोर है । समझ कर केशवानन्द उस को बन्ध काट दिया ॥ ४ ॥

२४ दादरा

निकल जायेगा स्वास, जैसे पुष्प बास है ॥टेक॥ सामग्री भरी पार, जैसे दीपक बात है । आप में बूंद २ तैसे, फल नाश है ॥१॥ चार दिन की चाँदनी फिर तो अंधियारा है । भूला है क्यों संसार में तू स्वर्ग मक्कारा है ॥२॥ पंचकोष शरीर में, वृथा हंकार है । मात तात भ्रात सब स्वप्न साथ है ॥३॥ एकान्त विचार करके, तूही आधार है य सब ही नाश होयेंगे, जैसे य पास है ॥४॥

करले दया धर्म को, सम्हार खास है ।कहता है केशवानन्द छांड़, जगत् आस है ॥५॥

२५ दादरा

राम नाम छोड़ के, तें काम क्या किया । धन धाम काम धाम में अपना ये मन दिया ॥ टेक ॥ किया काम वेईमान तूने, विषयों में दिड़ दिया । पारस मनी को खोय के तू, दीन होगया ॥१॥ पाया अमोल देह को, विचार कर हिया । बिना ये ध्यान ज्ञान के वृथा ही तू जिया ॥२॥ दिया था मनुष देह को, एक भक्ति के लिये । फँस पंचकोष त्रम शरीर आपना किया ॥३॥ खायेगा बहुत मार तब, कोइ ना करे दया । हाय २ करम को मार केशव ने है यूं किया ॥४॥

२६ आसावरी

काहे को सोच रहा रे । मूरखनर; काहे को सोच रहा रे ॥टेक॥ कीरी कुंजर सब को देत है, जिनके नहीं व्यापाररे । पशु अनेक को घास दियो है, कीट पतग को सारे ॥१॥ अजगर के तो खेतनहीं है, मीन के नहीं गौरारे । हंसन के तो बनिज नहीं हैं, चुगत मोती न्यारारे ॥ २ ॥ जिनके नाम है विष्णु विश्वंभर उनको क्यों न संभारारे । छांड़ दे काम क्रोध मद ममता, मानले कह्य हमरारे ॥३॥ निशदिन चिन्ता करत है मनमें, सब धन होइ हमारारे । भाग लिखा है उतने पईहै, यही केशवानन्द विचारारे ॥४॥

२७ आसावरी

भजन बिन काहे करत है ख्वारी ॥टेक॥ आठमास रह जब, उदर माहिं दुःख सहा अति भारी। ऊपर पग औंधे मुखमूलम, कीड़ा काटे हमारी ॥१॥ जठरा आग से आँच लगत है, आग स बंधी तनु सारी। असंख्य जन्म की याद करत है, अब न भूलें प्रभुवारी ॥२॥ भीतर स जब बाहिर आय, रहा न एक विचारो। यह संसार की हवा लगी है दस भये भ्रमि नारी ॥३॥ मानुष तनको सुर बाँछत हैं, सुनो प्रभु अरज हमारी। यह तनु सबहीं साधन करके, हो जाय रूप तुम्हारी ॥४॥ गुरु वेद के आसय समझकर होजा जगत स न्यारी। कहे केशवानन्द अब मूरखमत, खोजे रूप निहारी ॥५॥

२८ आसावरी

मूरख नर, पाप करम से डरोरे ॥ टेक ॥ जैसे शरीर है अपनो प्यारो, तैसे पशु पक्षी रे। अपने २ भोग भोगन का सबको वपू ध्यारोरे ॥ १ ॥ अपने तनु मक्खी न बैठन दे, दूजे को करे तिरस्कारो। चार अंगुल जिव्हा स्वाद के कारन, मारे बन्दूक समारोरे ॥ ॥ जैसे शरीर है अपने पूत के तैसे बकरा मातीरे, जरा विचार न करता गवाँरा खात है मूढ़ पकोरोरे ॥३॥ अब तक किया पाप कमाया, दया किया कछु नहिंरे। अब यमराज कंठ में घेरे, बाँध चल घर ओरोरे ॥४॥ जनको सम जाने परनारी,

पधन विपके समरे । दया धरम हिरदे में राखो, केशवानन्द वेद पुकारोरे ।.५॥

२६ आसावरी

फूलरही फुलवारी । इस तनुमे, फूलरही फुलवारी ॥ टेक ॥ चारो साधन कोट खडी है, श्रवण मनन सम्हारी। निज निर्दिध्यास उत्तुग चहुँ पासा, चारों द्वार किमारी ॥१॥ नाभि कमल से सड़क बनी है, ताके बगल में क्यारी । रंग विरंग के फूल खिले हैं, छवी अजब है न्यारी ॥२॥ विचार विवेक की–खुरपी करके, विषय वासना उपारी । सुमन माळी सनेह जलसे, सींचत लोचन चारी ॥३॥ कहीं मौगरा गुलाब खिली है, कहीं चमेली की झारी । कहे केशवानन्द चित्त भ्रमर कर, चूस गये रस सारी ॥४॥ इस तन में, फूलरही फुलवारी ॥

३० आसावरी

चेतन स्वयं प्रकासा । जानेरे कोई चेतन स्वयं प्रकाशा ॥टेक॥ आगनी तोयाहि जराइ सके ना, पवन से नहीं उड़ेना। जल तो याहि भिंगाइ सकेना, सूरज नाहीं सोसा ॥१॥ घटके जोग आकाश चल दीखे, जलधारा चन्द्र चलेला ॥ घंड जोगते घट फूटत है, आकाश का होइ न नासा ॥२॥ सत आधार से स्थूल खड़ा है, चेतन आसरे चलेला ॥ आनन्द से है प्रकाशित सबही ज्ञानिन को अस भासा ॥३॥ नाहीं कहीं से ये है आया, नाहीं कहीं है जाना । व्यापक रूप मे आना न जाना, केशवानन्द झूठ तमाशा ॥४॥

३१ गजल (ताल चलत)

तृष्णा को पीके निकाल । निकाल मेरे प्यारे, तृष्णा को पीके निकाल ॥टेक। तृष्णा की कुम्भ पसो विस मरमाय तृष्णा हो कीने बेहाल ॥१॥ बेहाल ॥ दस सो होय पचास को मांगे सहस्र अरब न नाल ॥२॥ नाल ॥ तीनोंलोक में डोलत फिरे कबहुँ न होवा निहाल ॥३॥ निहाल मेरे ॥ कहत केशवानन्द एक संतोष बिन, कबहुँ ना मिटे जग जाल ॥४। जाल मेरे प्यारे ॥

३२ गजल (ताल चलत)

निकाल २ मेरे प्यारे भवजल स कीन्हा निहाल ॥टेक॥ दुस्तर यह भगम की धारा, तासे पद कीन्हो संभाल ॥१॥ संभाल ॥ मोह की धार कठिन बहु जासे, सर्प कच्छ बहु ब्याल ॥२॥ ब्याल ॥ ज्ञान का जहाज लियो है दया करि, मार दियो जम काल ॥३॥ काल मेरे ॥ सम्पूर्ण मैया ऊपर बिठा के, पार किया किरपाल ॥४। पार ॥ कहत केशवानन्द गुरु कीन्हा आनन्द ऐसे भक्त प्रतिपाल ॥५॥ पालमेरे ॥

३३ गजल (ताल चलत)

जाल २ मेरे प्यारे, क्यों है फँसा जग जाल ॥टेक॥ जगत की जाल बहुत ही भीनी तामें फसाय काल ॥१॥ काल ॥ मन ? पर जोर हैं फसगये और फँसे मरपाच ? पाछ इस जाली के पाँच रूप हैं तासे बचे कोई भ्रम ॥३॥ भ्रम ॥ केशवानन्द एकहि उपाय है, एक ही मन संभाल ॥४। संभाल मेरे प्यारे ॥

३४ ग़ज़ल (ताल चलत)

काहे को होता बेहाल । बेहाल मेरे प्यारे ।।टेक।। घर मे तेरो चित्त गडो है, बाहर ढूंडे क्या माल ।।१।। माल ।। जैसे गले मे होती ये माला, रोता फिरे बिल लाल ।।२।। लाल।। तैसे विद्या, आदि जुगादि से, भुलाइ रह्यो जैसे बाल ।।३।। बाल ।। केशव अहं-ब्रह्म बिन जाने, कबहुँ न मिटे जगजाल ।।४।। जाल मेरे ।।

३५ प्रभाती

कहूँ लक्षण अवधूत साधो, कहूँ लक्षण अवधूतरे ।।टेक।। दशो दिशा अम्बर हैं जिन के, आठो अंग विभूतरे । कर है पात्र उदर है झोली, दस इन्द्रिय पकडी मजबूतरे ।।१ आशा पास दूर भये जिनके, वासना को किया निपूतरे । रहते मस्त स्वरूप आपने, दूर की कर्मों की करतूतरे ।२ ।। दूर किया पाचो विषयों को, चेष्टा बहिर अनूपरे । लखा जब भोतर बाहर एक रस, सोई योगी अवधूतरे ।।३।। तत्वज्ञान मे निश्वय करके, माया को दिया है जूतरे । कहे केशवानन्द सुनो भाई साधो,यह लक्षण गुप्तपूतरे ।।४।।

३६ कजरी

छाय–आये २ छाय आयेरे, देखो गगन मंडल में । टेक । काली बदलिया मे चमके बिजुलिया, अमृत की झरना झराय रहेरे ।।१।। जाव ये मोर और दादुरिया, पाय अमृत मोटाय रहेरे ।।२।। जीव किसान खेती बोवाये, वाणी खाद दिवाय रहेरे ।।३।। कहत केशवानन्द ऐसा है मति मंद, थोडे कष्ट घबराय रहेरे ।।४।।

३७ पद पीलु

दास की आस, तजोरे गमारा । अज चेतन में व्यापक है सारा ।टेक।। एक अकाश में भेद बहुत हैं, घट मठ मघी काश है न्यारा ।।१।। चौथा महाकाश तुम जानो । तैसे ही चतन में, भेद सुन प्यारा ।।२। एक कूटस्थ जीव पुनि कहिये । ब्रह्म ये, चारी परकारा । ३।। भाग त्याग से, भेद दूर कर । लीजिये एक, रूप निरधारा ।।४।। मन के अनेक में, सूत्र एक है। केशवानन्द त्यों ही आप विचारा ।।५।

३८ पद

केशोवा आगे, नाचत आवे गोविंदा ।।टेक।। सुर से गावे ताल बजावे । फदावत है मतिमंदा ।।१।। जिन के गान से, छूटत माया । हानि होत जग-फंदा ।।२।। हिरदे आकाश में होवे प्रकाश । उगि गये पूरन चन्दा ।।३।। दूर होगय तिमिरि-अज्ञान । छल गये पूरन मन्दा ।।४। कहत केशम्दा, सुनोजी गोविंदा । रहियो सदा आनन्दा ।।५।।

३९ पद कव्वाली

मस्ता बोही लेवे हैं यार, ज्ञान रस के जो पीवे प्याला ।।टेक।। मन स कल्पना दीन्ही निकाल दूर किया सब माया का जाल। चित्त स चिन्ता दीन्ही टाल छोम मोह सब म र गिरा न बाले ।।१।। दूर हुआ सभी भरम का भूत, न बनवे बाप किसी के पूत ।

मारा अविद्या पर खासा जूत, सदा अलमस्त है रहने वाले ॥२॥ कोई मजा मानते धन्न, कोई पुत्र और दारा जन्न। कोई महल मकान वाबन, ये सब जमदन्ड के खाने वाले ॥३॥ अपना सरूप है आनन्द, उसी को कहते ब्रह्मानन्द। लखा निज पूर्ण केशवानन्द, जनम के दुःख मिटाने वाले ॥४॥

४० पद कव्वाली

फकीरी वोही कमाते यार, सदा मन को वश करने वाले ॥टेक॥ मन को लगाया परमानन्द, देखते हरदम पूनमचन्द। ताकर भयो प्रकाशानन्द, भरम तम के जो नसाने वाले ॥१। फेंकर फाक गये त्रीलोक, बाकी रखा न कोई ओक। लागे नाहीं फिर कोई शोक, ऐसे जनम मिटाने वाले ॥२॥ की कृत कृत्य भया निज आप, लगाता नहीं जहाँ कोई छाप ॥ दिया अविद्या हो गई माप, भेद का भेद उड़ाने वाले ॥३॥ रकर रमि रहा सब ही ठोर, वहाँ पर चले न किसी का जोर। मन बुद्धि सारी होगये थोर, अगममे गमको लाने वाले ॥४॥ करले सदा एकान्त में वास, किया है वासना सारी नास। लखा चित पूरन चेतन खास केशवानन्द कर्म जराने वाले ॥५॥

४१ होली

काहे को,धन जोड़े होरे गोरी,देह जलेगा जैसे फागुन की होरी ॥टेक॥ बहुत कष्ट से धन है कमायो,जोड़त लाख करोरी॥निशि दिन

चिन्ता करत है मन में, मात्र सेस नहिं थोरी ॥ कन्यों चित माफछ सोरी॥१॥दिन में आलम बात सखो है रात में शीत सकोरी। भूख प्यास को दुंद सखो है॥कष्ट सखो है भारी,मन्द कोइ न भखोरी॥२॥ धर्म पुण्य नहिं एक कियोहै,साधु की करत ठठोरी। मात पिता को घर स निकाले,वस भये कामिनि नारी,आयु सब विरथा खोयोरी॥३॥ जब यमराज दशा दिश घेरे,चले न किसो की जोरी। कहे केशवानन्द पकड़ भ्रम कूं, गले लगावत डोरी, यही है कर्म की चोरी ॥४॥

४२ होली

बिन ज्ञान मुक्ति नहिं होई। लाख उपाय करो नर कोइ। टेक॥ तन सुखाय के पिंजरा कियो है नख शिख जटा धराई। अन्न को त्याग फलाहार किया है, तो भी न भाइ उठाइ, वृथा सब उमर है खोई ॥१॥ ऊपर स बहु त्याग कियो है भीतर आश लगाइ। आंखें मूंद ध्यान धर बैठे मार के आग कमाई, दबो एसे सुरत छोइ ॥२॥ घर क माहिं अंधार रहत है कोटिन करे उपाई। बिन प्रकाश के तम नहिं नसि है चाह दंड से मारि भगाई, देखो एसे भ्रम में खाइ ॥३॥ मल विक्षेप दूर सब कर के, गुरुशरण को आइ। कहे भ्रम केशव न छूट्यो है, ताही स तम है नसाई, कहे केशवानन्द जनोइ ॥४॥

४३ होली

बिन सतगुरु के सुन्न न किमारी ॥ चाहे फिरो कोइ जंगल झारी ॥ टेक ॥ तीन भवन का मालिक बना है, पांचों तत्व समारी।

दसो दिशा में खिरको लगी हैं, तही में चार अटारी, वहीं है श्यामबिहारी ॥१॥ अज्ञान-किमाड़ मोह-जंजीर, माया का ताला है भारी। काम क्रोध बहु गूल जड़ी है, हंकार की चोकठ ठाड़ी, वाही से खुले नहिं जारी ॥२॥ शम दम श्रद्धा समाधान हो, और उपरति धारो। चारों साधन सम्पन्न होयकर गुरुजी के ओर पधारी, चाहे जो मेटन ख्वारी ॥३॥ गुरू के प्रसाद साधु की संगत, खुलगये भाग हमारी। ज्ञान की कुंजी दी है दयाकरि, खुलगये गगन किमारी, केशवानंद आप समारी ॥४॥

४४ होली

लियो है उबारी, गुरुजी मोहिं लियो है उबारी ॥टेक॥ आश। नदिया मनोरथ जल है, राग को मगर रहोरी। तृष्णा चिता की लहरें उठति है, मोह की धार है भारी, धीरज तरु दियो है उपारी ॥ १ ॥ भ्रम के भँवर दुर्वास दोउ तट, लोभ को मच्छ वहोरी। काम क्रोध बहुसर्प रहत है, तासे लियो है उबारी, ऐसे गुरु पर बलिहारी ।.२। ज्ञान की नौका दया पवन से, दे सत् संग पतवारी, विचार विवेक की पंखा लगी है। जुक्ति सहारे उतारी, लगाजल सारेखारी ॥३॥ जो जो आय बैठे नौका पर, पार उतर गये सारी। जो यह नौका को त्याग कियो है, डूब गये मूढ़ अनारी, कहे केशवानन्द विचारी ॥४॥

चिन्ता करत है मन में, नाम लेत नहिं थोरी ॥ धन्यो चित भाग्य भोरी॥१॥दिन में भोजन चाव सजो है रात में सीत सजोरी। भूख प्यास को द्वंद सज्यो है॥कष्ट सज्यो है भारी,अन्त कोई न कमोरी॥२॥ धर्म पुण्य नहिं एक कियाहै,साधु की करत ठठोरी। मात पिता को घर स निकासे वस भये कामिनि नारी,आयु सब विरथा खोयोरी॥३॥ जब जमराज पड़ो दिश घेरे,चले न किसी की ओरी। कहे केशवानन्द पकड़ जम कूटे, गले श्यामवत होगे, यही है कर्म की खोरी॥४॥

४२ होली

बिन ज्ञान मुक्ति नहिं होई। लाख उपाय करो नर कोई। टेक। तन सुखाय के पिंजरा कियो है नख शिख भस्म चढ़ाई। अन्न को त्याग फलाहार कियो है, तो भो न चाह छुटाई, वृथा सब उमर है खोई ॥१॥ ऊपर से बहु त्याग कियो है भीतर आश लगाई। आँखें मूँद ध्यान धर बैठे भार के भाग कमाई, पड़ो एसे मुरख खोई ॥२॥ घर के माहिं अंधार रहत है, कोटिन करे उपाई। बिन प्रकाश के तम नहिं नाशे है चाहे दंड से मारि भगाई, देखो ऐसे भ्रम में खोइ ॥३॥ मल विक्षेप दूर सब कर के, गुरुशरण जो आइ। कहे ब्रह्म केशव ने समझ्यो है, ताही न तम है नसाई, कहे केशवानन्द सन्तोई ॥४॥

४३ होली

बिन सतगुरु के खुले न किवारी ॥ चाहे फिरो कोइ जंगल झारी ॥ टेक ॥ तीन महल का मकान बना है, चारों तरफ अटारी।

दसो दिशा में खिरकी लगी हैं, तहीं में चार अटारी, वहीं है स्यामविहारी ॥१॥ अज्ञान-किमाड़ मोह-जंजीर, माया का ताला है भारी। काम क्रोध बहु गूढ़ जड़ी है, हंकार की चोकठ ठाढ़ी, वाही से खुले नहिं जारी ॥२॥ शम दम श्रद्धा समाधान हो, और उपरति धारो। चारों साधन सम्पन्न होयकर गुरुजी के ओर पधारी, चाहे जो मेटन ख्वारी ॥३॥ गुरू के प्रसाद साधु की संगत, खुलगये भाग हमारी। ज्ञान की कुंजी दी है दयाकरि, खुलगये गगन किमारी, केशवानंद आप समारी ॥४॥

४४ होली

लियो है उबारी, गुरुजी मोहिं लियो है उबारी ॥टेक॥ आशा नदिया मनोरथ जल है, राग को मगर रहोरी। तृष्णा चिता की लहरें उठति है, मोह की धार है भारी, धीरज तरु दियो है उपारी ॥ १ ॥ भ्रम के भँवर दुर्वास दोउ तट, लोभ को मच्छ बडोरी। काम क्रोध बहुसर्प रहत हैं, तासे लियो है उबारी; ऐसे गुरु पर वलिहारी ॥२। ज्ञान की नौका दया पवन से, दे सत् संग पतवारी, विचार विवेक की पंखा लगी है। जुक्ति सहारे उतारी, लगाजल सारेखारी ॥३॥ जो जो आय बैठे नौका पर, पार उतर गये सारी। जो यह नौका को त्याग कियो है, डूब गये मूढ़ अनारी, कहे केशवानन्द विचारी ॥४॥

४७ होली राग ठुमरी

खोईरे, खोईरे, हरिके भजन बिन, उमरि सब खोईरे ॥टेक॥ बालापन सब खेलि बितायो, तृष्णा अधिक बढ़ारे ॥ मात पिता से हठ करते हैं, आकाश के चन्द्र मंगाई रे ॥१॥ युवापन में काम के बस भये, सूझे न एक उपाई रे ॥ लोक वेद का कहा नहिं माने युवति के अंग लिपटाईरे ॥ २ ॥ बिरध भये तन कापन लागे, होत न एक कमाई रे ॥ घर के लोग सब ताड़न करत हैं, जैसे बुढा बैल बिलाई रे ॥३॥ तीनों पन सब बीत गये हैं, को तब करेगा सहाई रे ॥ मारि के सोटा प्रान निकासे, अन्त चला तू तो रोई रे ॥४॥ दंड देइके सवाल पूछत हैं, जबाब न एक बनि आई रे ॥ कहे केशवानन्द सुनो भाई साधो, आखिर दिन नर्क डूबोई रे ॥५॥

४८ कवित्त

संत है सुजान जिन अन्त कियो काम सब, गुरु के प्रसाद से ढहायो काल जाल है । सकल्प बिकल्प सब दूर कियो श्रवण करि, मल को निवारि शुभ कर्म धर्म चाल है ॥ अज्ञान को जराय दीन्ह मन को निर्मल कीन्ह, भरम सब दूर कियो सरूप ज्ञाना नल है । अहं ब्रह्म आप जाने पंच कोसा तीत माने -कहे केशवानद ऐसे, सत को बहाल है ॥

४७ होली राग ठुमरी

खोईरे, खोईरे, हरिके भजन बिन, उमरि सब खोईरे ॥टेक॥ बालापन सब खेलि बितायो, तृष्णा अधिक बढ़ारे ॥ मात पिता से हठ करते हैं, आकाश के चन्द्र मंगाई रे ॥१॥ युवापन में काम के बस भये, सूझे न एक उपाई रे ॥ लोक वेद का कहा नहिं माने युवति के अंग लिपटाईरे ॥ २ ॥ बिरध भये तन कांपन लागे, होत न एक कमाई रे ॥ घर के लोग सब ताडन करत हैं, जैसे बुढ़ा बैल बिलाई रे ॥३॥ तीनों पन सब बीत गये हैं, को तब करेगा सहाई रे ॥ मारि के सोटा प्रान निकासे, अन्त चला तू तो रोई रे ॥४॥ दंड देइके सवाल पूछत हैं, जवाब न एक बनि आई रे ॥ कहे केशवानन्द सुनो भाई साधो, आखिर दिन नर्क डुबोई रे ॥५॥

४८ कवित्त

मत हे सुजान जिन अन्त कियो काम सब, गुरू के प्रसाद से बहायो वाल जाल है। सकल्प बिकल्प सब दूर कियो श्रवण करि, मल को निवारि शुभ कर्म धर्म चाल है ॥ अज्ञान को जराय दीन्ह मन को निर्मल कीन्ह, भरम सब दूर कियो सरूप ज्ञाना नल है। अहं ब्रह्म आप जाने पंच कोसा लीन माने कहे केशवानद ऐसे, सन्त को वहाल है ॥

४६ कवित्त

कोई मांगे धन जन कोइ मांगे स्वर्ग लोक, कोइ मांगे राज कोइ कुलवंती नारी है। जो २ इच्छा आगे करे तृष्णाहू अधिक बढ़े, लेश सुख पावे न अविद्या कूप भारी है॥ मानुष जन्म पाये मुक्ति के द्वारे आये, गुरू के शरण होके छोड़ी जग ख्वारी है। ये सब तो विनाशी सुख आप अविनाशी रूप, कहै केशवानन्द सुख आत्मा विचारी है॥

५० कवित्त

जग सुख तृष्णा त्याग, एक ब्रह्म हृदय मान, द्वैत को निवारि दिल ब्रह्म में बसाइये। काम क्रोध लोभ मोह, तृष्णा स मारि लेके, जारि ज्ञान आगि कर नाम रूप नसाइये॥ मिथ्या प्रपंच देखि, मन में न मोह मान, आन सुख खान, अस्ति भाति प्रिय धमकाइये। कहै केशव भयो चैन, गुरू के इसारा सैन, खुले ज्ञान दिव्य नैन, भरम सब नसाइये॥

५१ कवित्त

मारा है अज्ञान जिन; शूरवीर मानो तिन, दुःख को निवारि जो ब्रह्म में चरत है। क्षमा के कवच कीन; वैराग को तो ढाल लीन, ज्ञान के तरवार स तो मारं मोह दल है॥ मारे काम क्रोध लोभ; अहंकार सब दूर किये, मन को पकड़ कर, कियो चकचूर है। पाया है अखंड राज शांति के सुख समाज कहै केशवानन्द धू, आनन्द होय रहत है॥

५२ कवित्त

भूल के अज्ञान से करत है हाय २, देखतो सँभार कर; दूसरो न कोई है। जैसे ताना पेटा मन, देखियन रूई रुई, पटके स्वरूप से तो, भिन्न नहीं जोई है ॥ घट मठ देखिबे में, लागत है भिन्न २, उपाधि सब दूर किये, एक नभ होई है। जल में तरंग जैसे, वायु में वधुरा तैसे, ब्रह्म को विवर्त ऐसे, आप केशव सोई है ॥

५३ लावणी

हम रहले देश एकांत में सदा उदासा, हम काट दई सब जन्म मरन की फांसा ॥टेक॥ हम करते गिरि खोह नदी तट वासा, हम करते शयन शिला पर रैन उजासा ॥ वन बाग कभी अरु कभी मसान के माही, हम खाते भिक्षा माँगि उपाधी नाहीं ॥ हम करते गुप्त विचार स्वयं परकाशा ॥ १ ॥ सुत भ्राता माता तात कुटुम्ब परिवारा, ये सब स्वप्ने का जाल माया विस्तारा। माया का जाला रूप भये हम जग से न्यारा, हम लियो ब्रह्म एक जान होते नहि भारा ॥ उठाया मन से भेद दूर भयी आशा ॥२॥ जब तीनों लोक के भोग त्याग सब कीन्हा। तब सतगुरू शरन मे आय जोग हम लीना ॥ उठ गयी चित से भीति रूप जब चीन्हा, तब मिटगये दीरघ रोग ज्ञान गुरु दीन्हा ॥ मिट गयी जनम की आस अविद्या भयो नाशा ॥३॥ हम रखते

नहीं संसार से कुछ भी नाता । हम रहते मगन विचार मन में माता ॥ नाहीं हम करते कपट दंभ नहिं माया । नहिं करते दगा न द्रोह न अम्मी जाया ॥ केशवानन्द रस्ता अब आप नरखाते माता ॥४॥

५४ लावणी

करो इसी के पाठ है भाया दशहरा ॥ करो सब देवी का प्रसन्न बांध शमशेरा ॥टेक॥ काया देवल के अन्दर हमेशा रहवे, सिंहासन अंत करण के ऊपर बसते ॥ पृथ्वी—अप्पर हंकार—वाल लिये मारी, है पडद ७ कर जोड खारही सारी ॥ कोई कथा कोई पक्ष कोई कमरा ॥१॥ दश इन्द्रिय का दमन पाठ मन जाने । श्रुति का सिद्धांत संतोष पुजारी माने ॥ है सत्व पात्र मझा के हैं बहु फूल ॥ शांति का चन्दन बड़ा करो अनुकूला ॥ दया जल से स्नान कराया प्रेमा साफी से पोछ बहुरि बैठाया । निष्काम आरति करो हमारो बहरा ॥ २ ॥ बंद ज्ञान सुविचार बार अरसर के । मन मारि प्रेम—अग्नी का पकावो संभरि के । धर्म पुण्य की बत्ती है अबीर गुलाबी, शीतल सुगन्ध आकाश भया है बाकी । युद्ध सत्व अब देवी हुयी प्रसन्ना, दश दीया है हुक्म सबों को हन्ना ॥ अज्ञान पाड़ा बली ये न्यारा ॥३॥ जो इस विधि स कोई भी करे दशहरा;वो पावे चारो राज और दश सहरा ॥ जो कोई नर मारे मूलि कभी भी बकरा । ऐसा नर करता नरक वास हमेशा ॥ है धर्म अहिंसा प्रथम हि वेद बतावे गीता अरु स्मृति उपनिषद् आदि भी गावे ॥ ठे समाज केशवानन्द देवरे बहरा ।४॥

५५ लावणी दोहावली

अब नहीं भावत किसी की वात । मार दिया भेद पाँच पर लात ।।टेक।। कोई जीव ईश मे वताते भेद, कोई जीव जीव परस्पर भेद । तीजे जीव को जड गावे, चौथे जड जड वतलावे ।।

दोहा—जड़ अरु ईसके भेद को, छेद करत कोइ शूर ।
लखाजव व्यापक एक रस, किया जगत सब धूर ।।

उठ गये दिलसे जगत् के नात, अव नहीं मानत किसी की वात ।।१।।
मैं ही हू सकल जगत आधार, मेरे मांहिं होत व्योहार ।। न तो भी छिपते कोई विकार, जैसे आकासमें नानाकार ।।

दोहा—जैसे एरन के ऊपरे. वनते नाना औजार ।
तैसे कूटस्थ निज रूप में, होता है कारोवार ।।

लगावे नहीं अब दूजा हात, अब नहीं मानत किसी की वात ।।२।।
नहीं कोई वरन हमारा, हमन सब आश्रम को जारा । छुटी जब ज्ञान की धारा, वहगया वेद का भारा ।।

दोहा—जैसे स्फटिक स्वच्छ में, रक्त पुष्प के जोग ।
तैसे आतम शुद्ध में, कल्प रहे हैं लोग ।।

नहीं कोई है जात और पात, अब नहीं मानत किसी की वात ।।३।।
कोइ यह लखते विरले वात, तजाजिन मात तात के नात ।। हैं रहते मस्त औ मौज में, नहीं आवें फिर या भगमे ।

दोहा—कच्चा हीरा के बनिज, पर स तौलगि पूर ।
जाळगि मिले न पारखी, घन पर चढ़ै तो चूर ॥
कशवानंद छला सा आप अजान, अब नहीं मानत किसी की बात ॥ ४ ॥

५६ लावणी दोहावली

मूरख नहिं मानत है दिन रात, करे मनोती खोटी बात ॥टेक॥
हरि के भजन स होत उदास, झूठ निंदा में अति पियास ॥
सत्संगत में नहिं धरा ध्यान, जुआ रंडी में बहुत है स्यान ॥

दो—बानी मधुरी बोलके, मोह लेत सब लोग ।
कपट गाँठ खोले नहीं, जुआ नरक के जोग ॥
कि जैसे मोर सर्प को खात, मूरख नहीं मानत है दिन रात ॥१॥
धर्म के माहिं न करत बनाउ, फँसाता आप मायाजाल ॥ दिन २
पल २ बीतता जाय, तो भी करता है हाय हाय ॥

दोहा—दिवस बिताया काम में, रात यामिनी संग ।
माया फंद जब दिया भगवा, छूट जाय सब रंग ॥
तब तुझ क्या लगेगा हात मूरख नहिं मानत है दिन रात ॥२॥
संत अरु गुरु स कर विरोध, जरा नहिं मन का कर निरोध ॥
घूमा करता है मैं मरा, विचार कर कोई नहीं तरा ॥

दोहा—बाज दिखाव हंस की, करमो जैसे काग ।
दरिया है धनमाल हीरा, जिसका तुले साग ॥

वृथा क्यों रटता मात और तात, मूरख नहिं मानत है दिन रात ॥३॥ यहाँ पर मचाया है बहु शोर, वहाँ पर नहीं चलेगा जोर ॥ यहाँ पर समझना है तुझे बात, तो कर ले सत् गुरुजी से नात ॥

दोहा—गुरू शरन में आइ के, लीजे राम पिछान ।
केशवानन्द मौका ना मिले अब, भूलो तो हरि की आन ॥

मारो भेद भरम पर लात, मूरख नहिं मानत है दिन रात । ४॥

५७ लावणी दोहावली

सवेरे उठ महादेव कहना, जगत सब माया का स्वप्ना ।.टेक॥ राग-द्वेप कर जग सब भासे, खींचे राग जगत तबनासे ॥ जैसे स्वप्न मे देखे सृष्टी, जावे स्वप्ना होवे नष्टी ॥

दोहा—देवन देव महादेव हैं, जाने चतुर सुजान ।
और देव सब कलपति जानो, रज्जू सर्प की भान ॥

उठायी मन से जगत् कल्पना, सवेरे उठ महादेव कहना ॥१॥ एक कूवा से निकली बेल, तासे भया असंख्या नेल ॥ ऐसा देखा अजबा खेल, सब मिल के हुईं एक ही मेल ॥

दोहा—एक ही से अनेक भये, नाम रूप बहु मान ।
न्यारे २ देख के ही, होगये सुमति अजान ॥

जैसे बाजीगर खेलना ॥ सवेरे उठ महादेव कहना ॥२॥ जब तलक देखेगा न्यारे, तब तलक ढोवेगा भारे ॥ अब तो मूल जा सारे, फिरे है क्यों मारे मारे ॥

दोहा—महादेव और देव को एकहि जाने भेव ।
भेद भरम को त्याग के एकहि देव की सेव ॥

तब तुम्हे मिटे जनम मरणा, सबेरे कर महादेव कहना ॥३॥ यह सिद्धांत कहा भाई वेद पुराण गुरु गाई ॥ केशवानन्द ने सुनाई, सज्जन सुनेंगे चितलाई ॥

दोहा—चित देकर के सुनेंगे, जिनके विमल विवेक ।
क्या सुनेंगे कपटी भरमो, उनके नहीं अलेक ॥

जैसा करना वैसा भरना सबरे उठ महादेव कहना ॥ ४ ।

५८ भजन

राम मेरे मैंना नहीं जाऊँगा ॥ टेक ॥ मारे जाऊँ काशी जी, नहीं हरिद्वार रे ॥ नहीं जाऊं बद्रीनाथ, नहीं मठ जाऊँगा ॥१॥ नहीं इच्छा है स्वर्ग की, नहीं बैकुण्ठ रे । ना तो इच्छा राम राज की, यथा न समाऊँगा ॥ २ ॥ जैसे मिरग नाभि में, रहे कस्तूरी रे । जाने बिना भटकत फिरे, दमो निध, माजाऊँगा ॥३॥ व्यापक राम है नहीं, मेरे दूर रे ॥ समझ करके केशवानन्द, वसी में समाऊँगा ॥४॥

५९ पद—बधावा

आज मेरे भाग जगे, साधू आये पाहुना । हरिप निरखि के,
प्रेम की दो झारी भरकर, शीश बिछौना ॥
, शान्ति जल से धोवना ॥१॥ [illegible] रस

के भोजन कर, छत्तीस रँग व्यजना ।। सोने के तो थार भारके, आनन्द से जिमावना ।।२।। कंचन के तो गडुवा भर कर, मोद से अचावना । लोंग सुपारी वास देकर, पान खिलावना ।३।। सुखद की तो आसन करके, तापर पौड़ावना । कहे केशवानन्द अपना मन, प्रभु में लगावना ।।४।।

६० पद–बरसाती

सत् संग बदरिया बरसे, होन लगी प्रेम कमाई हो राम ।।टेक।। समदम बैल विवेक हराई, तनु मध खेत्र चलाई हो राम । जोत २ के कियो है निरमल, धर्म के बीज बोवाई हो राम ।।१।। ऊग गयी वेल निशी दिन बाढ़े, सत के टेकादिवाई हो राम ।। श्रद्धा बसत फुलेला–बहु ग, ज्ञान के फल लगवाई हो राम ।।२।। पकि गये फल तपित होगये दिल, मन से बासना उठाई हो राम ।। जरि गये कर्म खुटि गये बीजे, तीनों लोक की चाह मिटाई हो राम ।।३।। कहत केशवानन्द, पायो है आनन्द, ऐसी सत् सँग महिमा हो राम । भाग विना नहिं मिलता सत् सग, जिसकी पूरबली कमाई हो राम ।।४।।

६१ भैरवी

मनारे तुम्हे, बिन पकड़े नाछौंड़ूँ ।।टेक।। ना देखूँ हाथ नाहिं देखू पाँव, अनुभव ज्ञान से धारूँ ।।१।। सकल्प विकल्प रूप तेरो है, प्रम के नाम से पकड़ू ।।२।। ऊपर जाय तो राज मेरा है, नीचे

दोहा—महादेव और देव को एकहि जानो भेव ।
भेद भरम को त्याग के एकहि देव को सेव ॥
तब तुझे मिटे जनम मरण, सबेरे उठ महादेव कहना ॥३॥ यह सिद्धांत कहा भाई सब पुराण गुरु गाई ॥ केशवानन्द ने सुनाई, सज्जन सुनेंगे चितलाई ॥
दोहा—चित देकर के सुनेंगे, जिनके विमल विवेक ।
क्या सुनेंगे कपटी भरमी, उनके मती अनेक ॥
जैसा करना वैसा भरना सवेरे उठ महादेव कहना ॥ ४ ॥

५८ भजन

राम मेरे मैंना कहीं जाऊंगा ॥ टेक ॥ नातो जाऊं काशी जी, नहीं हरिद्वारे ॥ नहीं जाऊं बद्रीनाथ, नहीं भटकाऊंगा ॥१॥ नहीं इच्छा है स्वर्ग की, नहीं वैकुण्ठ रे । ना तो इच्छा राज साज का, वृथा न गमाऊंगा ॥ २ ॥ जैसे मिरग नाभि में, रहे कस्तूरी रे । जाने बिना भटकत फिरे, इमी बिरथा नामाऊंगा ॥३॥ व्यापक राम है सही, मेरे दूर रे ॥ समझ करके केशवानन्द, उसी में समाऊंगा ॥४॥

५९ पद—बधावा

आज मेरे भाग जग, साधू आये पाहुना । हरिप निरखि के, दर्शन करना ॥टेक॥ प्रेम की तो झारी भरकर, धीक विछौना ॥ धरम का तो आसन देके, शान्ति मन स पोवना ॥१॥ द रस

तैसे अज्ञ मूर्खन को । १॥ सुन्दर कामिनि काल नागिनि, स्पर्श करत बहु प्रेम को ॥ ध्यान हरत है प्राण खात है, मुवे भेजे नरकन को ।२॥ धन पुत्रन को मानत है प्यारो, जैसे घूघा रात्रिन को ॥ आखिर एक दिन छूट जायेंगे, लेय चलेगा उस बन को ॥३॥ कृपा-सिन्धु दया-निधि स्वामी, अब तो रोको मन को ॥ केशवानन्द शरन तेरी अब न, भूलूंगा भजन को ॥४॥

६५ दादरा

दुष्ट संग से सदा, रहना उदास रे । टेक॥ जैसे ओला खेत का, करता विनास रे ॥ आप विलाय के फिर करता है, सकल धान का नास रे ॥१॥ धन घाटे धरम घटे, पड़े भरम फास रे ॥ लोक परलोक दोऊ से जावे, करे नरक में वास रे ॥२॥ तेज घटे बुद्धि घटे, मिटे ज्ञान प्रकाश रे ॥ लख चौरासी से ना छूटे, पड़े दुख के रासरे ॥३॥ सर्प काटे बिच्छू कटे, सो है दु:ख खासरे । केशवानन्द दुष्ट से बचना, यही रहा है भाष रे ॥४॥

६६ बनजारा

अब निश्चय मेरा मन माना, कहीं मुझे नहीं है जाना ॥टेक॥ रज्जू जाने बिन सर्प सीप मे रजत माने जी ॥ भ्रम करके भय को लाना ॥१॥ तैसे ही ब्रह्म को न जानै, आप विषै दुख माने जी । शुभा-शुभ कर्म को ठाना ॥२॥ मेरा स्वरूप है व्यापक, ज्ञान यही है दुख नाशकजी ॥ महा आकाश सम आना ॥३।

मिच संगै रहूँ ॥३॥ सत् संगति की ओर से थांभू, ज्ञान अगिन स जारूँ ॥४॥ तेरो सब परिवार जीर कर, (केशवानन्द) राज अखंड करूँ ॥५॥

६२ भैरवी

भ्रमर काहे वृथा खुटावत है ॥ टेक ॥ कबहीं तो काम, क्रोध में कबहीं ॥ कबहीं तो छेम में गमावत है ॥१॥ कबहीं तो धन कबहीं तो जन में, पुत्र के संग छकावत है ॥२॥ झूठे इन्द्रिय स्वाद के कारन, प्रभु जी को नाम बिसरावत है ॥३॥ बेद गुरु के उपदेश न मान, उल्टे ये गाल फुलावत है ॥४॥ मानुष तन है राम मिलन को, (केशवानन्द) राम में राम समावत है ॥५॥

६३ दादरा–भैरवी

पाया है अनमोल लाल, दूसरा न कोई । टेक॥ जिनके मैं ढूंढन कारन, सकल जगत में भरमोई । सो तो सब मिलि गये प्रेम स, घटहि में बिलोई ॥१॥ दुःख गये दारिद्र गये अरु चिन्ता सब खोई । ब्रह्म आनन्द में मगन होय के पार्गी पर सोई ॥२॥ काम गये क्रोध गये छेम को धुलोई । आशा तृष्णा गया बसी बिति, डंका बजवाई ॥३॥ जो नहिं पाया लाल को सो, रात दिना रोइ ॥ केशवानन्द कहे पुरुषारथ, आप रूप होई ॥४।

६४ असावरी

साधो सही न जाय दुख जग को ॥ टेक ॥ या संसार में सार नहीं है जैसे मृग तृष्णा जल को । धावत ० माण तमस है,

६९ ग़ज़ल

उगा आकाश मे चन्दा, मिटा सब तिमिरका फंदा ।।टेक।। शोभता है सदा आकाश, है तारागण भी सारे पास, हुवा है सारे तम का नाश, दीखता आप स्वच्छन्दा ।।१।। नहीं बंधा नहीं खूला, नहीं कभी भर्म में भूला ।। नहीं कोई गर्भ से मूला, नहीं चोन्यासी का धंधा ।।२।। है पाया सुख चकोरोंने, खिला है बनमें कुमुंदा । हुवा है शोक चकवा को, चकइया दुःख में दुंदा ।।३।। लगे नहीं दाव चोरों का, पड़ा पहरा सिपाही का ।। रास्ता है न जाने का नहीं कोइ खिड़की रोसंदा ।।४।। चले नहीं जोर है जिसका, जिन्होंने सालले चसका ।। केशवानन्द देखकर मुसका, लिया वैराग का कंदा ।।५।।

७० ग़ज़ल

फिदा हम उस पर हैं प्यारे, जिनों ने तत्व धारा है ।। हैं बसते देश निर्जन में जगत सारे से न्यारा है ।। टेक ।। मार कर पाँच अरु पच्चीसा काम घर से निकारा है।।१।। राखते नाहीं कौड़ी पास, किया है वासना को नाश ।। उठाया दिल से जमका त्रास, यही निश्चय विचारा है ।।२।। दृष्टि है जिनकी समान, चाहते नहीं किसी से मान ।। किया है ज्ञान रस का पान, जमको मार पछारा है ।।३।। किया है तन मन धन कुरबान, लिया है ब्रह्म को पहिचान ।। केशवानन्द जिनकी ऐसी बान, वोही आतम हमारा है ।।४।।

यह दुनिया स्वप्न वत झूठी, ज्यों आकाश नीलपन दीठा जी ॥
केशवानन्द करै ना स्वरूप की हाना ॥४॥

६७ वनजारा

सब तजो विषय को भाई, अब जपो शिवोऽहं मन मांई ॥टेक॥ कभी भोगा है राजा होके, कभी देव गण मांही जी ॥ कभी गंधर्वों में आई ॥१॥ कभी भोगा है भेक शूकर में, कभी कीट में आई जी ॥ असंख्य जन्मों का पता नहिं पाई ॥२॥ जब लग विषयों को नहिं त्यागे, तब लग मुक्ती नहीं पावे जी ॥ अब देखो विचार कर भाई ॥३॥ बिन संतोष न काम नसाही, काम अभाव सुख नाहीं जी ॥ केशवानन्द ने बात बताई ॥४॥

६८ गजल

समझ कर झूठ दुनिया को, ये फिर क्यों मन भटकता है ॥ तजो सब भर्म अन्दर से, ये विरथा क्यों लिपटता है ॥टेक॥ मारा गुरु वाक्य बाणों का, कलेजे में खटकता है ॥ तजा सब रागद्वेषों को, विषय से चित सिमटता है ॥१॥ बना हाड़ चाम का पुतला, भरा मल मूत्र का दगला, जानि दुःखरूप ये पुतला, नहीं मन अब लिपटता है ॥२॥ यों विषय-भोग सब खारी, जैसे विष शहद में डारी ॥ खाने में लगे बहुत प्यारी आखिर को प्राण हरता है ॥३॥ जानि निज रूप को व्यापक मिटा सब पाप के थापक ॥ जरा सब कर्म के नाशक, केशवानन्द नहिं भटकता है ॥४॥

७३ ठुमरी

वो तो पर घट दीखे भाई ॥ कहां बाहर देखो जाई ॥टेक॥ जाग्रत स्वप्न सुषुप्ती माहीं, एक रस रहे सदाही ॥ अवस्था तीन व्यतिरेक होजाई, आतम एक रहाई ॥१॥ जिन के आनन्द से आनन्दित, ब्रम्हा आदिक अरु सब पंडित ॥ जैसे गुड़ मे रहे मिठाई, चावल कल्पना लाई ॥२॥ चेतन रूप से है प्रगटाई, जड़ देहन को रहा चेताई ॥ जिन के आसरे होत कमाई वोही निरंजन राई ॥३॥ मगन समझ कर रहो लगन में, जनम मरण मिट जावे जग में ॥ केशवानन्द भर्म सब खोई ऐसी कीनी कमाई ॥४॥

७४ माड

सुन सुनरे मनवा, काहे भूला परदेश ॥टेक॥ इस परदेश में काटा खुबड़ा, पंथ न शुद्ध समेश ॥ नदी नाल जो अगम धार है, बड़े २ शूर बहेश ॥१॥ जंगल झाड़ बहुत हैं जिसमें, सिंह सर्प हमेश । भालू बन्दर राक्षस बहुतेरे, तासे बचावे रमेश ॥२॥ छाड देश यह हाट बाट को, धरले पंथ सुदेश ॥ या पथा में अटक नहीं हैं, कहता मुनि वर वेश ॥३॥ सत् गुरू मिलि या राह बतायी, तामे रागन द्वेष ॥ केशवानन्द आनन्द में मिल गये, श्री गुरू के आदेश ॥४ ।

७५ गुजराती माड

ऐ जन्टलमेनो मेरी मानो, सुनो केना लीजे तनिक विचार ॥ धरमों से करमो से निष्ठा उठाकरके, मनको फँसाया विकार ॥टेक॥

७१ गजल

चलो उस धाम को प्यारे, जहाँ सब काम होजावे ॥ टेक ॥
जमी से भूला उस शिव को, तभी से हुआ तू जीव को ॥ हुआ है मर्म जन्म भर को, अज्ञान निद्रा में सो जावे ॥१॥ है सोता क्या किसी भाभे, मार हैं तुझी पर सारे ॥ मरम का बोझ पटक प्यारे, अब एक क्यों न होजावे ॥२॥ होजा सद् गुरू की शरण जोर कर आनि कुछ करन ॥ होवे मोहादि की हरन, जो मन से बंध खो जावे ॥३॥ आमा है बन्ध को जाई, मागया ज्ञानन्द सोई ॥ केशवानन्द जनम ना होई । ऐसा निश्चय जो हो जावे ॥ ४ ॥

७२ ठुमरी

रक्खो प्रेम लौ लगाई, जो हो, सब घट घट में माई ॥टेक॥
जैसे अगिन शुष्क काष्ट में, अविद्याव रहे छिपाई ॥ प्रगट होत घर्षण करने से, वैसेहि सत् चित मम आई ॥१॥ रहत अगिन पत्थर के माहीं ऊपर दृष्टि से सूझत नाहीं ॥ अन्तर शुभ विरवी होजाई, ताते तम है मसाई ॥२॥ होत प्रगट फिर छिपती नाहीं, जाको पूषा कम्पत माहीं, उठ गयी दुविधा काम कसाई वह अमर अमर पद पाई ॥३॥ करत जतन कोई एक पावे होवत मग्न ना जावे ॥ सत् चित् आनन्द एक के माई, ताम केशवानन्द समाई ॥ ४ ॥

७३ ठुमरी

वो तो पर घट दीखे भाई ॥ कहां बाहर देखो जाई ॥टेक॥ जाग्रत स्वप्न सुषुप्ती माहीं, एक रस रहे सदाही ॥ अवस्था तीन व्यतिरेक होजाई, आतम एक रहाई ॥१॥ जिन के आनन्द से आनन्दित, ब्रह्मा आदिक अरु सब पंडित ॥ जैसे गुड़ मे रहे मिठाई, चावल कल्पना छाई ॥२॥ चेतन रूप से है प्रगटाई, जड़ देहन को रहा चेताई ॥ जिन के आसरे होत कमाई वोही निरंजन राई ॥३॥ मगन समझ कर रहो लगन में, जनम मरण मिट जावे जग में ॥ केशवानन्द भर्म सब खोई ऐसी कीनी कमाई ॥४॥

७४ माड

सुन सुनरे मनवा, काहे भूला परदेश ॥टेक॥ इस परदेश में काटा खुवडा, पथ न शुद्ध समेश ॥ नदी नाल जो अगम धार है, बड़े २ शूर बहेश ॥१॥ जंगल झाड़ बहुत हैं जिसमें, सिंह सर्प हमेश । भालू बन्दर राक्षस बहुतेरे, तासे बचावे रमेश ॥२॥ छांड देश यह हाट बाट को, धरले पंथ सुदेश ॥ या पथा में अटक नहीं हैं, कहता मुनि वर वेश ॥३॥ सत् गुरू मिलि या राह बतायी, तामे रागन द्वेष ॥ केशवानन्द आनन्द में मिल गये, श्री गुरू के आदेश ॥४ ।

७५ गुजराती माड

ऐ जन्टलमेनो मेरी मानो, सुनो केना लीजे तनिक विचार ॥ धरमों से करमों से निष्ठा उठाकरके,मनको फँसाया विकार ॥टेक॥

७१ गजल

चलो उस धाम को प्यारे, जहाँ सब काम होजावे ॥ टेक ॥ अभी से भूला उस शिव को, तभी से हुआ तू जीव को ॥ हुआ है भर्म जन्म भर का, अज्ञान निद्रा में सो जावे ॥१॥ है खोजा क्या किसी भावे, सार हैं तुम्ही पर सारे ॥ भरम का बोझ पटक प्यारे, ब्रह्म एक क्यों न होजावे ॥२॥ होजा सद् गुरु की शरण, बोध कर आनि कुछ करन ॥ होवे मोहादि की हरन, तो मन से बंध को जावे ॥३॥ आया है बन्ध को आई, पागया ब्रह्मानन्द सोई ॥ केशवानन्द जनम ना होई । ऐसा निश्चय जो हो जावे ॥ ४ ॥

७२ ठुमरी

एसो प्रेम तो लगाई, जो तो, सब घट घट में भाई ॥टेक॥ जैसे अगिन शुष्क काष्ट में, अविशय रहे छिपाई ॥ प्रगट होत घर्षण करने से, तैसहि सत् संग मन लाई ॥१॥ रहत अगिन पत्थर के माहीं ऊपर दृष्टि से सूझत नाहीं ॥ अन्दर शुक्ल किरणें होजाई वासे तम है नसाई ॥२॥ होत प्रगट फिर छिपती नाहीं, लाखो भूप कलपत माहीं, चढ गयी दुनिया काम कमाई बढ़ अजर अमर पर पाई ॥३। करत जतन कोई एक पावे ॥होत मस्त मा भाव आवे ॥ सत् चित् आनन्द एक के माहीं, नाम केशवानन्द धराई ॥

अस्ति भाति प्रिय रूप ताहीं में, मन को लगाऊंगा ॥१॥ कोई मानता देह प्राण को, कोइ इन्द्रिगगण सारा ॥ कोइ सूक्षम कारण स्थूल को, ये सब झूंठ लखाऊगा ॥२॥ कोइ देवी कोइ देवल पूजे, कोई भूतगण लारा ॥ कोई मंत्र तंत्र मसान का साधे, मैं नहिं भ्रम में भुलाऊंगा ॥३॥ सब के मालिक सब के प्रेरक सबके साक्षी धारा, ऐसे सत् चित् आनन्द छोड के, केशवानन्द नहिं अटकाऊंगा ॥४॥

७८ कस्तूरी

आज इन्द्रिय-गण नाथूंगा, हरिनाम से पकड २ आतम मे लगाऊगा ॥टेक॥ सत्व गुण रूई शाति पूनी कर, शम दम वंट चढ़ाऊगा ॥ विवेक विचार का चरखा कर के, शुद्ध मन से वटवाऊगा ॥१॥ विराग सूवा सत्-संग भर के, सिघरे नाथ घलाऊंगा ॥ सत्यधर्म की डोर बाध कर, परमातम में रमाऊंगा ॥ ॥ २ ॥ चाहे तो सोऊ, चाहे तो जागूं, चाहे तो खेल खिलाऊंगा ॥ चाहे तो नाचूं, चाहे तो गाऊ, चाहे तो आनद समाऊंगा ॥ ३ ॥ बस भये मन फिर जीता जगत कूं, फिर न जगत् में आऊगा ॥ केशवानन्द आनन्द में मिल कर, दूजा भाव न दिखाऊगा ॥४॥

७६ जोगिया

राम नाम कह मैना, तूतो लख गुरु मुख की सेना ॥टेक.। माया पारधी फंद लगायो, लाला फल धरेना ॥ लालच के बसतू आइ बैठी, फँस गये दोऊ डेना ।१.। धंधे २ में मैना बोले, अब

दुनिया के धंधों में रंगों में फंस कर के,भगवत को दीना बिसार ॥ साईकल पर चढ़ कर के, पंटी बजा करके जाता है बाज़ी बजार ॥१॥ खिसकी का चुस्की की चुस्की लगाकर के,मुख में बनाया सिगार ॥ आतम परमातम निरादर को करके, किया है विलायती अचार ॥२॥ होटल में जाकर के बोतल को भर कर के, रोटी पर कीना शिकार ॥ कार पटलून बूट मांहि आले खाता है मोटा चटार ॥ ३ ॥ वेद सिद्धांत निरादर करके, हैट में हंटर इंकार ॥ लोक परलोक दोऊ से जावे, कंसव है कहता पुकार ॥४॥

७६ गुजराती माड

सच्चिदानन्द है आनन्दकन्द, पूर्णानन्द आन रे ॥टेक॥ अस्ति भाति प्रिय रूप से व्यापि रह्यो सब ठौर ॥ नाम रूप सब कल्पित जाण्यो, ज्यों है ठूंठ का चोर रे ॥१॥ जैसे दूध में घृत रम्यो है, ज्यों है तिलन में तेल ॥ पुष्प के अन्दर गंध मिल्यो है, देह में आतम मेलरे ॥२॥ एक सुवर्ण में भूषण नाना नाना अंग अनूप ॥ सोना विचार जवारी कन्या, सब साना का रूपरे ॥३॥ जाने बिन ज्ञानी बहुत, सब चोरासी जाय ॥ करुणानन्द जाना तू जान, आप में आप समायरे ॥४॥

७७ कस्तूरी

एक मर्द को छोड दूजा कौन, ध्याऊंगा, आज मैं दूजा कौन ध्याऊंगा ॥टेक॥ भीतर बाहर एक रस है, रूप रंग स न्यारा,

काम जराने वाले ४।। अब डमरू को बजाले, तन मन को रिझाने वाले ।।५।। खुल गये दिल के ताले, झट प्रसन्न होने वाले ।।६ उर मे हैं मुंड माले, व्याघ्र-चर्म ओढ़ने वाले ।। ७ ।। केशव आनन्द सभाले, आतम-दरश कराने वाले ।।८।

८२ रेखता

चढा परवन के ऊपर है हाथ पग जिसके है नाहीं नहीं रस्ता है कोई दूजी, बिना पेडी चढे जाही ।।टेक।। जमा कर आसन पर बैठे,रोककर दशो दिश दृष्टी । नेत्र भी है नहीं जिनके, लगायी एक लोताही ।।१।। लक्षणा तीन कहते वेद, जहति अजहति ओ भागही ।। चौथी व्यंजना गावे,जहति अजहती तजो माही ।।२।। लखो भाग त्याग से वृत्ती, बिना तान गान करे निरती ।। तजो हर्ष शोक के झरती, सदा मन मोद में लाही ।।३।। बिना अम्बर बिना भूषण नहीं तीनो गुण हैं ये दूषण । केशवानन्द वानी विन प्रति दिन मोद में जाही ।।४।।

८३ रेखता

भरमना छाँडकर देखो तुम्हे क्या पादशाही है । तुही नौकर तुही चाकर, हुकुम तेरा ही जारी है ।।टेक।। हुकुम से तेरे सूरज ने तेज ज्योति पसारी है ।। शीतल गुण चन्द्रमा ने की है सारी रात उजारी है ।।१।। तेरे भय से पवन चाले, सदा क्या सुख कारी है । कभी मीठा कभी मदा, कभी सुगन्ध भारी है ।।२।। तुही

गुरू मोहि छोडेना, अबकी बार गुरु मोहि वना, मानूंगो आपका कहेना ॥२॥ राम नाम से फंद छुड़ाय, ज्ञान वैराग दोऊ दना ॥ कही कथ स शरण में आमी, गुरु जी के चरण गहेना ॥३॥ निरभय होके मान पिछाना, मिटि गये काल के ताना, केशवानन्द आनन्द छन्द मिल जग म अबना कहेना ॥४॥

८० भूप

बैल वाला सब दुनिया पाउन वाला ॥टेक॥ गुरु में रहे बेहाल, भ्रिम मार दिया है मारल ॥१॥ हाम है मयी तिहाल, वस का गुरु किया काल ॥२॥ घर में है अहाया माला, भव दूर भया सब जाला ॥३॥ है फंद गया जग जाल, बिषयों स भया निराल ॥४॥ देखा है शंकर भोला, हटाया भिख स मोला ॥५॥ गले पड़ी शेष की माला, है बैठन को मृगछाला ॥६॥ सिर बहे गंग का नाला, फहरे तरंग बहु झाला ॥७॥ कंठ है जिनका नीला, मूत पिशाच हैं करते लीला ॥८॥ भंग धतूर पिय प्याला फुंकार करें हैं व्याला ॥९॥ बामांग सुशहिमाला, गाद में गनपति बाला ॥१०॥ है केशवानन्द संभाला पया है अमरत्याला ॥११॥

८१ भूप

बाबा बैल वाले, अमै बरदान दने वाले । टेक। कर त्रिशूल त्रिफल वाले मार त्रीताप निकालन वाले ॥१। गल में सर्प हैं काले पंच बिषयों से मुकाम वाले ॥२॥ जटा में गंगा संभाले, त्रासे तृष्णा बुझाने वाले ॥३॥ शंकर निजन वाले जिससे

काम जराने वाले ४॥ अब डमरू को बजाले, तन मन को रिझाने वाले ॥५॥ खुल गये दिल के ताले, झट प्रसन्न होने वाले ॥६ उर मे हैं मुड माले, व्याघ्र–चर्म ओढ़ने वाले ॥ ७ ॥ केशव आनन्द संभाले, आतम–दरश कराने वाले ॥८।

८२ रेखता

चढ़ा परवन के ऊपर है हाथ पग जिसके है नाही नहीं रस्ता है कोई दूजी, विना पेडी चढे जाही ।टेक॥ जमा कर आसन पर बैठे,रोककर दशो दिश दृष्टी । नेत्र भी हैं नही जिनके, लगायी एक लोताही ॥१॥ लक्षणा तीन कहते वेद, जहति अजहति ओ भागही ॥ चौथी व्यंजना गावे,जहति अजहती तजो माही ॥२॥ लखो भाग त्याग से वृत्ती, विना तान गान करे निरतो ॥ तजो हर्ष शोक के झरती, सदा मन मोद में लाही ॥३॥ विना अम्बर विना भूषण नही तीनों गुण हैं ये दूषण । केशवानन्द वानी दिन प्रति दिन मोद मे जाही ॥४॥

८३ रेखता

भरमना छोड़कर देखो तुझे क्या पादशाही है । तुही नौकर तुही चाकर, हुकुम तेरा ही जारी है ॥टेक॥ हुकुम से तेरे सूरज ने तेज ज्योति पसारी है ॥ शीतल गुण चन्द्रमा ने की है सारी रात उजारी है ॥१॥ तेरे भय से पवन चाले, सदा क्या सुख कारी है ।कभी मीठा कभी मन्द, कभी सुगन्ध भारी है ॥२॥ तुही

चक्रवर्ती है राजा, तेरे जय का बजे बाजा। चतुरंगी फौज है साजा, गावें गुण वेद सारी है ॥३॥ है ऐसा बोध तुम जिनके, चौरासी फेर क्यों भटके॥ केशवानन्द अब नहीं मटके, एकता को संभारी है ॥४॥

८४ रासड़ा

विषय से भागना हो। चोर ठगों वत जान विषय से भागना हो ॥टेक॥ विषय पोष पसार्यो फन्दा, जीव मृग दीखे नहीं अन्धा। अब तो छोड़ काम का धन्धा, प्रभु चरणन मन लावना हो ॥१॥ भोगत भोग कल्प बहु बीत्यो, तो भी भोग से रह गयो रीतो॥ काम क्रोध को अब तो जीता, एक सन्तोष विन पावना हो ॥२॥ जनम मरण के बांध लगायो, तो भी बोध को ख्याल न पायो॥ उत्तम समय आज है बीता, भरा अब मानना हो। ३॥ सत संगत से फन्दा काटो, काम क्रोध को अन्दर डाटो॥ केशवानन्द मरम सब माटी एक ब्रह्म को जोवना हो ॥४।

८५ रासड़ा

भरम में भूलना हो। जनम मरन के दुःख मिटावो, भरम में भूल नाहो। टेक॥ अपनी भूल स हा सप भासे, जबरो ज्ञान से सर्प नाश॥ तब हो डर सब दूर हो भाग दुःख होवे नाशनाहो। १॥ बाजीगर का मूठ तमाशा, जाने विना सत हो भासा। विचार किये से होवे नाशा, अजर अमर अब जोवना हो ॥२॥

जैसे बालक लकड़ी माहीं, घोड़ा मानि कुदावे ताही। दौड़त आप सड़क पर जाही, मन में माने मोद अधिक कुदावना हो ॥३॥ तैसे अपने आपको भूला, गर्भ वास मे आपै झूला। नख सिख छाई अविद्या मूला, तासे छूटो कर साधना हो ॥४॥ चारो साधन सम्पन्न होयकर, ज्ञान सलाका अंजन लाकर। केशवानन्द भर्म सब खोकर, तान चादर अब सोवना हो ॥५॥

८६ रासड़ा

मानुष जनम कठिन से पाया, जनम सुधारना रे ॥टेक॥ घट के अन्दर निरमल गंगा, तासे करो पाप को भंगा ॥ तब ही चढे ज्ञान की रंगा जनम मल काढ़ नारे ॥१॥ निरभय होकर रहो जगत् में, सगत करले संत भगत मे। मत कोइ फसो बुरे कर्म में, चित को विषय से छारना रे ॥२॥ भोगत २ जनम बिताया, बिन सन्तोष शान्ती नहिं आया, चित्तको कर समाधान भरम को फारनारे ॥३॥ सबके अन्दर चेतन स्वामी, रंग रूप से रहित अनामा ॥ केशवानन्द सोई सुन्दर स्वामी, दिल का झाड़ गुबार, मिटे सब रारना रे ॥४॥

८७ जंगला

यह संसार पार होवन को, शीघ्र उपाय करो मेरे पियारे ॥टेक॥ यह नश्वर तनु थिर न रहत है, घड़ी पहर ठहराव पियारे। कंचन माया देखि लुभाया, जैसे नदी के आब पियारे ॥१॥ छिन

जड़ी है ॥१॥ देखन में बहु सुन्दर दीसे, इन्द्रिय महँनव द्वार झड़ी है ॥ मूरख देखि के बहुत लुभाने, जाने नहीं यह नरक जड़ी है ॥२॥ जेकर अजबहु दुःख उठावे, तेकर भवजल नहीं तरी है ॥ तझ ताको दुख रूपहि जाने, विषयन से मन खींच रही है ॥३॥ चार दिना के रंग तमाशा, आखिर तो वनवास खरी है ॥ कहे केशवानन्द अब तो समझ प्राणी तेरे शिर पर काल चरी है ॥४॥

६० जंगला

जनम मरण के दुख मेटन को, पुरषारथ करे क्यों न पियारे ॥टेक॥ असंख्य जनम से फिरता भटकता, कभी भेड़ बकरा मेरे पियारे ॥ कबहीं हाथी कबहीं घोड़ा, कबहीं कच्छप में, परत मेरे पियारे ॥१॥ चार लाख चौरयासी भरम के, मानुष तन में आया मेरे प्यारे । या तनु मे ना जतन कियो तो, पुनि २ नरक भरे मेरे पियारे ॥२॥ सत् शास्त्र अरु गुरु शरण मे, आय वचन रत होवा मेरे पियारे ॥ छोड़ दे काम क्रोध मद ममता, काहे को तृष्णा में जरत पियारे ॥३॥ बिना ज्ञान के भरम न जावे, सीप ज्ञान बिन रजत है पियारे ॥ केशवानन्द जेवरी बिनु जाने, डरप २ कर भगत पियारे ॥ ४ ॥

६१ ग़ज़ल धुमाल

भरम ना दिल से जब छूटी और नहिं कोई दिखता है ॥टेक॥ जहां पर सूर्य ना चन्दा, वहाँ पर आप स्वच्छंदा ॥ नहीं कोई जालओ

में बहु आय छिन में भटजाय, दीपक जोत परमात पियारे। नीचे स निकसि ऊपर बिछाव है, ता में न दिछ खाओ मेरे पियारे ॥२॥
पार हवन को सतसंग नैया, विचार क कर पतवार पियारे। सत् गुरु दया भार कृपा पवन म, सहसा पार लगाव मेर पियारे ॥३॥
काठ पली न आल पसाच्या, छोड़त न राजा राव मेरे पियारे। कहें केशवानन्द छांड़ फन्द सब, गुरु के शरन गहि आव पियारे ॥४॥

८८ जगला

जाक घट में ज्ञान मगन हो, ताको सुभाव रहे नहिं जाने ।टेक।। सूर्य प्रकाश भया जब मान में, तारागण की जोत छिपाने। काम क्रुधा सब बैठे आदर में, मोह तस्कर वे सारे लुकाने ॥१॥ तम पूरन स वस्तु प्रगट हो, भरम गय जिमि जेवरी जाने। तैसे ही भूल के जीव बन वे अज्ञान गये फिर नाहिं माने ॥२॥ कोऊक निंदत कोऊक बंदत, काऊक मान करे मनमाने। कोऊ कहत यह मूरख दीसे कोऊक दिल में कामि पिछाने ॥ ३ ॥ केशवानन्द कछु स राग न द्वष है, जैसे काच में प्रति बिंब मान। साक्षी रूप से देखे तमाशा, समझ २ कर मन मुसकान ॥४॥

८६ जगला

ऊपर क्या बहु रूप दिखावे ॥ भीतर तो भंगार भरी है ।।टेक।। अस्थी मांस त्वचा मेवा मिश्रित वीर्य रुधिर पर कफ भरी है ॥ मुख जिव्हा श्रुति मंत्र कर ढाऊ, ढाऊ मुगा मल अम

तव आगिरस्ता है ॥१॥ जिसे है मानता प्यारा, वो होता सारे से न्यारा ॥ कमाया पाप के भारा, एक ना साथ चलता है ॥ २ ॥ जवै तू करता कमाई, तवै तुझे मिलते हैं आई ॥ न इसमें झूंठ है राई सभी मतलब का नाता है ॥३॥ छांड़ सब कपट चतुराई, प्रभू से नेह कर भाई ॥ केशवानन्द कहे समुझाई, तबहि आनँद माता है ॥ ४ ॥

९४ ग़ज़ल धुमाल

क्या है सुख विषयो में मूरख ने आलिपटता है ।टेक॥ हाड़ सूखा जभी श्वानो, धरा है मुख में मानो ॥ चावता जोर से जानो रुधिर मुख से टपकता है ॥१॥ लगा है हाड़ में आई, मानता इसे सुखदाई ॥ न जाने कुछ भी अपनाई, ये चस २ के चिपटता है ॥२॥ मिटा सब तेज वो बुद्दी, भूला पर लोक की शुद्दी विषय सुख मन में है लुब्धी, उमर सारी निपटता है ॥३॥ सहा शीतोष्ण अतिभारी, पड़ा है काम वेगारी ॥ है ऐसा मूढ़ अनारी, केशवानन्द यों भटकता है ॥४॥

९५ ग़ज़ल धुमाल

हमारा देश वोही है, जहाँ पर नहिं अन्धेरा है । टेक । नहीं चन्दा नहीं सूरज, नहीं बिजली न तारा है ॥ नहीं मणि मोती की जोती, पच भूतों से न्यारा है ॥१॥ नहीं दिक् काल वो धारा, नही जग जाल है लारा ॥ नहीं कोइ ग्रन्थ की धारा, नहीं सञ्झा सवेरा

फन्दा भर्साहित जीव जरता है ॥१॥ नहीं है धूप वा छायाँ, नहीं कोइ काल न आया ॥ जगत सब झूंठ है माया, वेद इस भांति कहता है ।२॥ कर्म का जाल है फाँसी, यहीं से मूला अविनाशी ॥ भटकता मथुरा औ काशी, वृथा पच २ के मरता है ॥३॥ अजन्मा कर्म केशवानन्द, जहाँ पर नहीं कोई द्वंद ॥ विचरते हैं सदा आनन्द, अमाना सैर करता है ॥ ४ ॥

६२ गजल धुमाल

घुसा है चोर घर में यार, तुझ क्या नाहिं सुझता है ॥ सोया है नींद में गाफिल माल सारा ये लुटता है ॥ टेक ॥ तोड़ा सब द्वार का ताला, चोर है पाँच और वाला ॥ खुला है जिसने माला, जरा नहिं काम करता है ॥१॥ जगाते चार चौकीदार, तो भी नहिं जागता गँमार ॥ है सोया अनादि काल से यार, जरा नहिं टेर सुनता है ॥२॥ सुखी है हर कामों से बचा है माल चोरों से ॥ परिहर होता नहिं मन से, सदा आनन्द रहता है ॥ ३ ॥ जगाने वाला केशवानन्द जहाँ पर चोर की नहिं सन्द ॥ सोने फिर हो करके निरद्वंद वृथा ही क्यों मरमता है ॥ ४ ॥

६३ गजल धुमाल

हरि से प्रेम करने में, तुझे क्या जोर आता है ॥ किया है नेह विषयों से समय सारा ये जाता है ॥ टेक ॥ बालपन खेल में खोया जवानी काम बस होया ॥ [illegible]

९८ कुण्डलिया

हीरा २ सब कोइ कहे, हीरा के तो तौल ॥ जो हीरा घट मे वशे, सो हीरा अनमोल ॥ सो हीरा अनमोल याहि तू क्यों ना जोवे । काम क्रोध मद लोभ, विषय में विरथा खोवे ॥ कहे केशवानन्द, जोहरी खोजो पक्का । छोड जगत के जाल फिरे क्यों खावे धक्का ॥

९९ कुण्डलियां

आतमनदी जल संजम, विवर्त सत्य को जान । तटदोई जहशील है, दया उर्मि पहिचान ॥दया उर्मि पहचान निहाले तिस में भाई, महाभारत में कृष्ण युधिष्टिर का समुझाई ॥ कहे केशवा-नन्द जो न्हाले अन्दर माही ॥ वो पाते पद निर्वाण स्नान जल मलना जाही ॥

१०० कुण्डलियां

ब्रम्ह माया का बाधक है साधक ताकू ज्ञान । ज्ञान होत है विरति में कहते सन्त सुजान॥ कहते सन्त सुजान विरती का काम यही है । दूर करे आवरण कु मारे दंड सही है ॥ कहै केशवानन्द, है चेतन स्वय प्रकाशा, तासे नरंचक भेद, हुआ अविद्या नाशा ॥

१०१ कुण्डलियां

तन वन मे बहु सर्प हैं, और हैं सिह सियार । यासे वचना कठिन है, कहते संत पुकार ॥ कहते सत पुकार जतन कर वचना

है ।।२।। हैं चारों वेद यूं गाता, पार नहीं कोई नहीं पाता ।। दीप को भारता माता, यही बुद्धि विचारा है ।।३।। कहा सोई रूप केशवानन्द, तजा जन्म मोक्ष का सब फन्द ।। विचरते हैं सदा निरद्वंद, जाके सारा निवेरा है ।।४।।

६६ गजल धमाल

पड़ा को मोह के बश में गुरु न भार्यामारा है ।।टेक।। माया से रात दिन करता ये मेरा है ७ ।। नहीं कोई मेरा वो तेरा, सभी मग-जाल सा रहा है ।।१।। यही भव दुःख है भारी, करे क्यों समय की ख्वारी ।। अन्त में नहीं कोई यारी, ये सब मिथ्या पसारा है ।।२।। दिया गुरुजी ने ऐसा माल, छूट्या है सारा मालो माल ।। मार दिया है सारा काल, दारिद्र को निकारा है ।।३।। सदा रहते हैं हम सत मान लिया है मन विषय से तान ।। लगाया जिसमें ये ध्यान, केशवानन्द काम सारा है । ४ ।।

६७ कुण्डलिया

पाँच विषय हैं जगत में, जाको करूं बखान । मरें पाँच स पाँच ये, जिनको लेहु पिछान ।। जिनको लेहु पिछान सब्द से मृग को जानो । दीपक देखि पतङ्ग, स्पर्श स कुञ्जर मानो ।। रस के बश है मीन, भमर बश गंध के कहिये । इनसे बचते सो सूर, परमपद सांई लहिये ।। कह केशवानन्द काम,फल क्यों का यही है ।। मार काल कर पाँच सोई फकम्म सही है ।।

९८ कुण्डलिया

हीरा २ सब कोइ कहे, हीरा के तो तौल ॥ जो हीरा घट मे बशे, सो हीरा अनमोल ॥ सो हीरा अनमोल याहि तू क्यों ना जोवे । काम क्रोध मद लोभ, विषय में बिरथा खोवे ॥ कहे केशवानन्द, जोहरी खोजो पक्का । छोड़ जगत के जाल फिरे क्यों खावे धक्का ॥

९९ कुण्डलियां

आतमनदी जल संजम, विवर्त सत्य को जान । तटदोई जहशील है, दया उर्मि पहिचान ॥दया उर्मि पहचान निहाले तिस मे भाई, महाभारत में कृष्ण युधिष्ठिर का समुझाई ॥ कहे केशवा-नन्द जो न्हाते अन्दर माही ॥ वो पाते पद निर्वाण स्नान जल मलना जाही ॥

१०० कुण्डलियां

ब्रम्ह माया का वाधक है साधक ताकूं ज्ञान । ज्ञान होत है विरति में कहते सन्त सुजान॥ कहते सन्त सुजान विरती का काम यही है । दूर करे आवरण कु मारे दड सही है ॥ कहै केशवानन्द, है चेतन स्वय प्रकाशा, तासे नरंचक भेद, हुआ अविद्या नाशा ॥

१०१ कुण्डलियां

तन वन में बहु सर्प हैं, और हैं सिंह सियार । यासे बचना कठिन है, कहते संत पुकार ॥ कहते सत पुकार जतन कर बचना

प्यारे । ले वैराग की ढाल मार सु ज्ञान खड्ग से सारे ॥ कह केशवानन्द सबहिं पावे सुखरासी । छुटायी चित की भीति मिट गयी लख चोरासी ॥

१०२ कुण्डलियाँ

प्रथमहिं साधे चक्षु का विवेक गुरु से पाय । चक्षु की पूजा रूप है, कहें वेद में गाय ॥ कहें वेद में गाय ताको समझ असारा । नासिका इन्द्रिय सुवास करे सम दर्शों निरधारा ॥ कहे केशवानन्द भाव है सम्य अधीना । योग भोग कुयोग करे सम कोइ प्रवीना ॥

१०३ कुण्डलिया

काम इन्द्रिय कुटिल है, वश किये सुर मुनि देव । ताले बचता शूर कोइ, धा क्षमा गुरु सेव ॥ जो क्षमो गुरु सेव लिया एक ज्ञान सहारा । जब आत्मा उपजा काम का मूल उपारा । कहे केशवानन्द कामिनी काम की खानी । तासे रहो असंग कहत यूं मुनिवर ज्ञानी ॥

१०४ कुण्डलिया

जिह्वा इन्द्रिय चहे स्वाद को चाहे मीठा अरु मधुर ॥ प्रारब्ध वसात् जो कुछ मिले पावे विचार कर सो चतुर ॥ पावे विचार कर चतुर वर्मे पकवान मेवाई मन से वासना हटाई । ताते जिह्वा

मांग सोते मसान में जाई ॥ कहे केशवानन्द पायो सुख अखंडा । फिरते सदा स्वछ्द लिये वैराग का झंडा ॥

१०५ कुण्डलियां

पंच तत्व की गूदड़ी तामें रंग अनेक । ये पांचों से है परे, करके देख विवेक ॥ करके देख विवेक तू ही है अचल अनादी । सत् चित आनन्द एक है कहते पडित वादी ॥ कहे केशवानन्द तू ही है अज अविनाशी । सदा तुही एक रस सब ही घट २ का वासी ॥

१०६ कुण्डलियां

कहूँ लक्षण हंस के लखे कोइ बुद्धि निघान । दूर किया सब नीर को लिया दूध को छान ॥ लिया दूध को छान बसत मान सरोवर माहीं । चुगते मोती फल सदा छोमरीयो निकट न जाहीं ॥ कहे केशवानन्द कुण्डलीये है बनाई, किया यह विचार भर्म अन्दर से जाई.

१०७ कुण्डलियां

राम नाम को गहो नित, क्यों गहता है चाम । चाम केगहने छांड कर, भजो सदा एक राम ॥ भजो सदा एक राम विचार ऐसा अबकीजे, मानुषदेह अनमोल, सोध परमातम लीजे ॥ कहे केशवानन्द तबहिं हो सुफल कमाई । राम नाम पचिान,वृथा क्यों आयु गमाई ॥

उलट करोवो वृत्ति रूप रामहि निज जोवो ॥ कहे केशवानन्द, तवहि पावे अविनाशी । कट गये दीरघ रोग, हुआ मन ब्रह्म मे वासी ॥

११२ कुण्डलिया

डई यह तन पाय के करना सदा विचार । क्या असार अरु सार है, ताको करो सुमार ॥ ताको करो सुमार आत्मा सत्य बताया । झूठा जग संसार वेद ने योंहीं गाया ॥ कहे केशवानन्द मे झूठी काया माया । झूठे मात अरु तात, झूठे सुत जननी जाया ॥

११३ कुण्डलिया

उऊ उसपरब्रह्म का करिये सदा तलाश । परब्रह्म जाने विना, होता है वड हास ॥ होता है वड हास फिरे करता मजदूरी ॥ जैसे मूल कर सिंह होगये मेडा मेडों ॥ कहे केशवानन्द न जव लग ब्रह्म को जाने । तब तक मिटेन भेद न छूटे आने जाने ॥

११४ कुण्डलिया

ऋऋ ऋते आवे हो, ऋते कर फिर जाय । चन्दरोज के रहन में अहंकार क्यों भाय ॥ अहंकार क्यों भाय न है कछु तेरा मेरा । प्रीति करो शिव संगवही है मेरा तेरा ॥ कहे केशवानन्द, बाँधकर मुठी आया । झूठा है जग जाल पसारे हाथों आया ।

११५ कुण्डलिया

लृह्व लीजे राम को, हृदे सदा पहिचान । मिले दूध अरु नीर ज्यों, हंस लेत है छान ॥ हंस लेत है छान, नीर जग किया

१०८ कुण्डलिया

आया है सो जायगा, राजा रंक कंगाल । रचा खेल यह माया ने पकड़ा काल के गाल ।। पकड़ा काल के गाल मुलुक बांधे कस कस के । भूलने का यह मजा, खबर लेवे नस २ के ।। कहे केशवानन्द, न जब तक हरि को ध्यावे ।। तब तक छूटे न मार, छूटे नहिं आवे जावे ।।

१०९ कुण्डलियां

कोइला काले होगये, निकसत अग्नि माहिं ।। मगन अनेकों करो पर, कालापन नहिं जाहिं ।। कालापन नहिं जाहि धोयों घृत क्षीर मगन पे । सद्गुन कोऊ आयमले मनमें अपनावे ।। कहे केशवानन्द न यो भी मिटे भी स्याही । जबहि मिले निज आग, मिटे तबही वह स्याही ।।

११० कुण्डलियां

वैसे ही भूले आपको करन लगे बहुपाप काम क्रोध मद लोभ में करन लगे कलाप ।। करने लगे कलाप पूजता देवा देवी । आत्म-स्वरूप को छोड़ करत है सदा सेवी ।। कहे केशवानन्द न जब तक रूप समावे ।। तब तक छूटे न फांस, बहुरि आवे अरु जावे ।।

१११ कुण्डलिया

अमर आप जगत् में झूठ है क्या धाम । धाम झूठा वास कर, ख्याल करो यह धाम ।। ख्याल करो यह धाम धाम में आयु न खोवो ।

उलट करोवो वृत्ति रूप रामहिं निज जोवो ॥ कहे केशवानन्द, तबहि पावे अविनाशी । कट गये दीरघ रोग, हुआ मन ब्रह्म में वासी ॥

११२ कुण्डलिया

ईई यह तन पाय के करना सदा विचार। क्या असार अरु सार है, ताको करो सुमार ॥ ताको करो सुमार आत्मा सत्य बताया । झूठा जग संसार वेद ने योहीं गाया ॥ कहे केशवानन्द ये झूठी काया माया । झूठे मात अरु तात, झूठे सुत जननी जाया ॥

११३ कुण्डलिया

उऊ उसपरब्रह्म का करिये सदा तलाश । परब्रह्म जाने विना, होता है बड हास ॥ होता है बड हास फिरे करता मजदूरी ॥ जैसे मूल कर सिंह होगये मेढा मेडी ॥ कहे केशवानन्द न जब लग ब्रह्म को जाने । तब तक मिटे न भेद न छूटे आने जाने ॥

११४ कुण्डलिया

ऋऋ ऋते आये हो, ऋते कर फिर जाय । चन्द्रोज के रहन में अहंकार क्यों भाय ॥ अहंकार क्यों भाय न है कछु तेरा मेरा । प्रीति करो शिव संगवही है मेरा तेरा॥ कहे केशवानन्द, बाँधकर मुठी आया । झूठा है जग जाल पसारे हाथों आया ।

११५ कुण्डलिया

लृलृ लीजे राम को, हृदे सदा पहिचान । मिले दूध अरु नीर गो, हंस लेत है छान ॥ हस लेत है छान, नीर जग किया

दोहा—

स्वर ज्ञान के अर्थ को, समुझे चितदे कोइ ।
ज्ञान रूप में गरक रहे, जनम न दूजा होइ ॥
भूल चूक को माफ करो, सज्जन दीन दयाल ।
केशवानन्द की बीनती, बुद्धि है मम बाल ॥
कहना सुनना बहुत है, गुनना थोड़े माहिं ।
थोड़े महँ जो जन गुने, संशय शोक नसाहिं ॥
समिधा सूखी बहुत हैं, अग्नि रंचक मात्र ।
जो अग्नि के लगत ही, राख होत पल आत्र ॥

११६ तत्व बत्तीसी चौपाई

कका काया अन्दर भाई। सबका साक्षी रहा समाई॥ आपहि द्रष्टा होवे जबही। जग मिथ्या ये लखता सबही॥ खखा खबर करो मेरे प्यारे॥ काम क्रोध से होबो न्यारे॥ लोभ मोह कर रहा छिपाई। जैसे बादल सूर्य ढकाई॥ गगा गावन की गुरुवानी॥ तासे होय सकल भ्रम हानी ॥ भ्रम होत अधिष्ठान आसरे। रज्जू सर्प देख के ससरे॥ घघा घर में रहो समाई। दूजे का घर होय दुखदाई॥ जैसे अफीमची अमल को खाई। दूजे घर घुस गया पिटाई॥ ङङा ऊपर नीचे समाया। अंत न शेष सारदा पाया॥ सो आनन्द को गुरू लखावे। हद लख के वेहद को जावे॥ चचा चमन खिली अति भारी। ताकी रंगत अजब निहारी॥ मूरख देखकर फँस गये सारे। ज्ञानी तासे रहे

है न्यारा । सूक्ष्म रूप है आप ज्ञेय निश्चय निरधारा ॥ कहे केशवानन्द मिट तबही कंगाली । ध्येयक शिशु पनिहार थाम की बैठा ताली ॥

११६ कुण्डलिया

धरे ऐसा धरम कर जासे होय उद्धार । काम क्रोध मद लोभ के, तज दो सभी विकार ॥ तज दो सभी विकार धार हिम्मत ना हारी । जैसे मोती काज शूर जल रया पर पहारी ॥ कहे केशवानन्द, शीश जावे तो जावे । सच्चा शूर है वही न पीछे का भी भागे ॥

११७ कुण्डलिया

जो भी और दूजा नहीं, समझीजे संसार । जैसे मनके अनेक में व्यापरहा एक तार ॥ व्यापरहा एक तार तैसे ही आपको जानो । वचन कहूं मनके किसी की एक न मानो ॥ कहे केशवानंद ऐसा निश्चय कीजे । माया आयें तो आयें न पीछे चित को पाजे ॥

११८ कुण्डलिया

ब्रह्म ब्रह्म के अंग से, जगत भया विस्तार । जैसे पुष्प से हुई, निकसत है बहुसार ॥ निकसत है बहुसार, सूत से पट बुनावे । कोई मस [illegible] सारि कोई किमखाब कहावे ॥ कहे केशवानन्द सभी पट हुई स्वरूपा ब्रह्म जाने आप एक सब ब्रह्म सरूपा ।

दूजा रग मिले वदरंगा ॥ दद्दा दर्श करोरे भाई । चूक पडे तो फिर पछिताई ॥ दमन करो सदा इन्द्रिय को । दसों दिशा से रोको मन को ॥ धधा धर्म यही है भाई । मानुप देह वृथा नहिं जाई ॥ यहही देह अमोल है भाई । लख निज रूप नारायण होई ॥ नन्ना नाम रूप को त्यागो । सत् चित् आनन्द रूप मे लागो ॥ पाच अश मे जगत है सारा । अस्ति भाति प्रिय रूप तुम्हारा ॥ पपा परम धर्म यहि भाई । आप रूप में रहो समाई ॥ आगम निगम पुराण बखाना । एक रूप है ब्रह्म समाना ॥ फफा फक्की ज्ञान की फकी । होवे निश्चय रहो निशंकी ॥ रोग दोष को भय नहिं कीजे । कटगये रोग अभय पद लीजे ॥ बबा वर बश मन को जीतो । सब ही ज्ञान रस अमृत पीतो ॥ जो नर मन को जीता विषय से । वही देश एकात बसैसे ॥ भभा भरम का बुरुज ढहाया । ब्रह्म-ज्ञान का गोला चलाया ॥ माया महल उड़े बुद २ ही । जैसे पिंजारा रूई धुन ही ॥ ममा मरम भेद पच छेदा । रहा न रंचक भेद अभेदा ॥ नाश कर्म होवे निष्कर्मा । यह सतो के निश्चय धर्मा ॥ यया यारी चोरी न करना । करपुरुपारथ पेट को भरना ॥ जो अन्याय करे पेट कारन ॥ सो पशु मूढ है जान हजारन । ररा रमि रहा सब के माही । कीट पतग ब्रह्म लों आई ॥ जो जानें यह रमझ समज को ॥ वोही पहुँचे अजवा घर को ॥ लला लीन होवो उस माहीं । पुनः उलट कर जगत न आहीं ॥ तारा सूर्य प्रकाश न करई । स्वयं

दूजा रंग मिले वदरंगा ॥ दद्दा दर्श करोरे भाई । चूक पड़े तो फिर पछिताई ॥ दमन करो सदा इन्द्रिय को । दसो दिशा से रोको मन को ॥ धधा धर्म यही है भाई । मानुष देह वृथा नहिं जाई ॥ यहहीं देह अमोल है भाई । लख निज रूप नारायण होई ॥ नन्ना नाम रूप को त्यागो । सत् चित् आनन्द रूप में लागो ॥ पांच अंश में जगत है सारा । अस्ति भाति प्रिय रूप तुम्हारा ॥ पपा परम धर्म यहि भाई । आप रूप में रहो समाई ॥ आगम निगम पुराण बखाना । एक रूप है ब्रह्म समाना ॥ फफा फकी ज्ञान की फकी । होवे निश्चय रहो निशंकी ॥ रोग दोष को भय नहिं कीजे । कटगये रोग अभय पद लीजे ॥ बबा बर बश मन को जीतो । तब हीं ज्ञान रस अमृत पीतो ॥ जो नर मन को जीता विषय से । वही देश एकांत बसैसे ॥ भभा भरम का बुरुज ढहाया । ब्रह्म-ज्ञान का गोला चलाया ॥ माया महल उड़े धुन २ ही । जैसे पिंजारा रूई धुन ही ॥ ममा मरम भेद पच छेदा । रहा न रंचक भेद अभेदा ॥ जाश कर्म होवे निष्कर्मी । यह संतो के निश्चय धर्मो ॥ यया यारी चोरी न करना । करपुरुषारथ पेट को भरना ॥ जो अन्याय करे पेट कारन ॥ सो पशु मूढ है जान हजारन । ररा रमि रहा सब के माही । कीट पतंग ब्रह्म लों आई ॥ जो जाने यह रमझ समज को ॥ वोही पहुँचे अजवा घर को ॥ लला लीन होवो उस माहीं । पुन. उलट कर जगत न आहीं ॥ तारा सूर्य प्रकाश न करई । स्वयं

रूप आगादि सो मरई ॥ यथा आकाश घट में भाई ओत पोत रहा समाई ॥ काहू कहत घट में आशा । सारे घट आकाश में आशा ॥ ऐसा ज्ञान करो मन प्यारे । राख पवन जाय सुधारे ॥ जो कछु करना स्वास के पहिले । बिन निश्चय फिर पछोगे पहले ॥ ऐसा निश्चय सेत को कहना । फिर आनो नहि होय मरना ॥ जीवन मरन अविद्या करावे । निजस्वरूप में मूरख गावे ॥ सत्त श्रवण मनन नित कीजे । निदिध्यास में चित्त का दीजे ॥ तब हो चित्त को होवे चैना ॥ ब्रह्म निज रूप गुरू की सैना ॥ ब्रह्म दर-सम देखो नूरा । सो नर जानो जग में पूरा ॥ दुवे जनम नहीं कछु भटके । जो न जानि चौरासी भटके ॥ इच्छा इच्छा करो मन माहीं । हर्ष शोक मद संशय भाहीं ॥ हर्ष शोक ये मन के धर्मा । ब्रह्म रूप होवो निष्कर्मा ॥ ज्ञाना तकनी रसमत भीजा ॥ मान हरे मद मन को कीजो ॥ धर्म पुण्य में भाग लगावे । ज्ञान ध्यान से मन को झुकावे ॥ सखा ज्ञान हुवा मन पूरा । ब्रह्म-ज्ञान में हरदम सूरा ॥ यही ज्ञान वशिष्ठ बतलाया । व्यास आदि मन पुराण गाया ॥ जो यह पचीसी पढ़ मन भाई । जनम मरण संताप नसाई ॥ करे विचार पावे निर्वाणा । द्वैत मरम के कटे बाना ॥ मच्छर मूढ़ नहीं हो कोई । गुरु करि कृपा सुधारे सोई ॥

१२० दोहा

ब्रह्म पचीसी के अर्थ को, जो कोइ लेय पिछान । दुःख [illegible] ॥ [illegible] ज्यों निज रूप में

मन में राखो धीर। जैसे हीरा घनन से, चोट सहे गंभीर॥ ज्ञानी ज्ञान को पाय के, रहते सदा आनन्द। संशय शोक रहे नहीं, कहत केशवानन्द॥

१२१ ग़ज़ल

अगर चाहो जो कुशलाई। करो वह देश भलाई॥ कड़ापन दिल से तुम छोडो। जो दिल मे होवे नरमाई॥टेक॥ मातृवत् जान पर जननी॥ द्रव्य पर को नहीं हरनी॥ दम्भ पाखंड को तजनी। यही है चाल चतुराई॥१॥ सबहीसे मित्रता कीजे। सुहित के काम को लीजे॥ अमीरस प्रेम से पीजे। सुफल होवेगी कमाई॥२॥ ये छिन में स्वास छुट जावे। न कछु भी हाथ मे आवे॥ तू सिर धुन २ के पछतावे। जनम मानुष का गमाई॥३॥ कहा अब मानले मेरा। निकट स्वराज का डेरा। तजो भ्रम पाप का घेरा। केशवानन्द बात जनाई॥४॥

१२२ होली

सत् गुरूजी से खेलो होरी। मैल मनके धोवोरी॥टेक॥ सत्संग केतो फरश बैठ कर, विषय वासना टारी॥ मल विक्षेप, आवरण दूर कर। तब होवे अधिकारी, प्रेम को रंग चढोरी॥१॥ साधन चार बजाओ बाजा। शम दम दोऊ करतारी॥ वैराग्य विवेक के झाँझ हैं बाजे, श्रद्धा तितिक्षा सारी, मुमुक्षुता तान तोड़ोरी॥२॥ मनन श्रवण अबीर उड़ावो निदिध्यासन रंग घोरोरी। ज्ञान पिचकारी

मुख पर मारो, वस्त्र भींज गये सारी, रंग में मस्त भयोरी ॥३॥
काम, क्रोध, अरु छेम, मोह ईंधन एकत्र करोरी। संचित आगम
भव तृपना, फूंक दियो निमि होरी, केशवानन्द सन लखोरी ॥४॥

१२३ होली

सुजन जन ही खेलेंगे होरी। कहा खेले मन्द मति भोरी टेक।
लक्ष चोरासी भ्रमि कर आयो, मनुज जन्म पायोरा। जरा विचार
करो चित्त अन्दर, देवगण चाह करोरी, ताहि क्यों वृथा
खोयोरी ॥ १ ॥ बालापन सब खेलि गंवायो, युवा मस्त भयोरी।
पर तिरिया पर मन को चाहे मात पिता दहि गारी,
महा उनमत्त भयोरी ॥ २ ॥ वृद्धपन में सब अंग कांपे, उपाय
न एक चलोरी। तृष्णा चिन्ता भरमार भरो है ओसी आंख
चौंप करोरी, सुहायी फिर यों मरोरी ॥३॥ विवेक विचार करो मन
अन्दर, साथ ठाठ जमो रा, श्वास के छूटते विछुड़ जावेंगे घर
दौलत परिवारी, केशवानन्द आप कहो री ॥४॥

१२४ होली

आयो दाम न हारो भाई, करो संभाल कमाई ॥टेक॥ चार
दिशा का घर बाकी है, चोखड़ रचवी न्यारी ॥ दिवस निशा दोय
पासा डारी, मारत चोट बनाई काल की घट चतुराई ॥१॥ चारों
खानी गोटी जामो होरी पकी बनाई। निडर होय के सब को मारे,
[illegible]

क्षमा सिर कुण्डी, दया त्राण बनाई ॥ ढाल कृपान विराग ज्ञान, सत्य सुकृत से चलाई, काल नियरे नहि आई ॥३॥ ऐसा खेल जो खेले खिलारी, अटकी गोटि छुड़ाई ॥ सर्व्व ओर से वह बचि गयी है,पक्की घर में आई, केशवानन्द कहि समुझाई ॥४॥

१२५ होली

शिवजी पूजन करू तुम्हारी, आप हो वीर बिहारी ॥टेक॥ आत्मा आप है गिरजाजी मति, प्राण बन्यो सहचारी ॥ शरीर मन्दिर में आप विराजे, पूजा को तैयारो, सत्य व्रत थार भरारी ॥१॥ चित्त के चन्दन, प्रेम की पाली, अक्षत दया चढ़ारी ॥ शान्ति जल से स्नान कराओ, शील संतोष पयढारी, मनवा बन्यो है पुजारी ॥०॥ क्षमा गुलाल अबीर उड़ावो, निष्काम आरती बारो ॥ ब्रह्मानन्द नैवेद्य धर्यो है, घड़ी घंट घमसारी, करुणा मुदिता आरती उतारी ॥३॥ पादप्रदक्षिणा अरु जिव्हास्तुति, अपर्ण सर्व्वस्व करोरी । या विधि पूजा जो नर कीन्ही, जन्म मरन भये दूरी, केशवानन्द आप भयोरी ॥४॥

१२६ दादरा

समझ मन स्वपने को संसार ॥टेक॥ स्वपने माहिं बहुत सुख पायो राजपाट परिवार ॥१॥ जागपड़ा तब लाव न लशकर, ज्यों का

क्षण क्षण हि तपावे, अवा कुलाल के तास ॥२॥ जब तक जीवे अंतः जरावे, मुवे होली सम खास ॥३॥ अस शरीर में अहम् भाव करि, हुवा विवेक का नाश ॥४॥ केशवानन्द लखो अविनाशी, नहि तो हो जमपुर में हाँस ॥५॥

१२६ होली (पद कुटिया, धूल उड़ान)

उडावो उड़ावो, कुटिया की धूल उड़ावो ॥टेक॥ कुटिया बनी है पंच भूत की तामें जगत् पसारो ॥ सत्व अंश मे ज्ञान इन्द्रियां अंत करण समारो, ताहि में आतम पावो ॥१॥ रजो अंश है कर्म इन्द्रियें, पांचो प्राण लगावो ॥ तामें कोइ रूप नहीं है अपना, परिछिन्न अह को जरावो, तबहि निज रूप को पावो ॥२॥ सार वस्तु है रूप आपनो, गो को दूर बहावो ॥ दस दिशि दरशन होत हमेशा, निश्चय धजा उड़ावो, ये ही मेवज को खावो ॥३॥ चारो साधन कोट बनावो, श्रवण मनन दोउ बारी ॥ निज निदिध्यास है नीर निरंतर तामें मल २ न्हावो, मल विक्षेप नसावो ॥४॥ अहं ब्रह्मास्मि प्रगट भयो पावक कुटिया में लगिगयो झारो ॥ कुटिया अरु कुटिया अभिमानी, जरि भये दोऊ छारो, राख सब गगन समावो ॥५॥ कुटिया का अभिमान करे सो, मूरख मूढ़ गमारो ॥ एक घर छोड दिया है अपना, काहे करो मुख कारो, केशवानन्द कहि समझावो ॥ ६ ॥

त्यों निरुधार ॥२॥ मात तात भ्राता सुत वनिता, मिथ्या सर्व विकार ॥३॥ कर सत् संग ज्ञान जब जाग्यो, नहिं कोइ म्हारो म भार ॥४॥ भमक चाम की वृत्ति न सूझे, यह सब माया असार ॥५॥ फुरवे हि साँस सब विकार जार्वेगे, त्यों मनके हा हार ॥६॥ कर निष्काम प्रेम भक्ति को, जो चाहो भव पार ॥७॥ सत्य धर्म को कबहु न त्यागो, केशवानन्द निरधार ॥८॥

१२७ पद

प्रभुजी से करो ना यारो, मन सुम ॥टेक॥ स्वारथ वश परिवार सबहि है मात पिता सुत नारी ॥१॥ मन्त समय कोइ काम न आवे, सास ससुर अरु सारी ॥२॥ जड कपटन करि मात कमायो, मन में धर्मंग भयो भारी ॥३॥ अब यमराज कंठ में घेरें, सुध बध बिसरि है सारी ॥४॥ ज्ञान वैराग्य हृदय में धारो जो चाहो भव पारी ।५॥ नर देही का काम यही है, कहते संत विचारी ॥६॥ दया धर्म्म हृदय में राखो, बिगड़ी बात सम्हारो ॥७॥ केशवानन्द अमर पद पइहो, तजो जगत् सप सारो ॥८॥

१२८ पद

दद जर त्रिमि पास ॥ समझ मन ॥टेक॥ तृष्णा आग अहनिशि फूंके, जिमि समुद्र अनत कर राश ॥१॥ काम क्रोध

१३२ दोहा

जो निरख्या निज रूप को, देखन जोगन कोय । हम तुम दफ्तर गुम भये, प्रहर तान के सोय ॥१॥ अस्ति भाति प्रिय रूप में नाम रूप दो बाध । वक्र भाव कैसे रहे, लागी शुद्ध समाध ॥२॥ धीर नीर में प्रीति सम, मिलि रहा एकहि जान । कपट खटाई परत ही, विलग २ होय मान ॥३॥ मुख्य प्रीति का विषय है, आतम ब्रह्म सरूप । तासे ना प्रीती करे, क्यों न पड़े भव कूप ॥४॥ गुरु २ सब कोइ कहे, गुरू लखे ना कोय । एक बार जो गुरु लखे, वह खुद गुरू होय सोय ॥५॥

१३३ राग बंगला

कुटी में क्यों करता अभिमान, कुटिया नरकों की है खान ॥टेक॥ प्रथम गर्भ पिताजी धारे, पीछे माता जान ॥ नरक द्वार से निकस पड़ी है, नरक द्वार समान ॥१॥ प्रथम दिवस संयोग भयो है, तीजे दधी जमान ॥ तीन मास में पिंड सम जानो, चौथे नख शिख कान ॥२॥ पंचम मास आकार बन्यो है, चेते पिंड में प्रान । छटे मास पुष्ट सब होगये, सप्तम तेज बल जान ॥३॥ अष्ट मास में दुर्बल भयो है, नौमें पूर्ण निर्मान ॥

१३० पद कालिंगड़ा

कुटिया लगी अति खारी ॥ मोमन कुटिया लगी अति खारी ॥टेक॥ या कुटिया में बहुत दुख पायो, मल-मूत्र लाग रहारी ॥ १ ॥ या कुटिया अति जड़ परिणामी, बरत ए विकारी ॥ २ ॥ या कुटिया में भयो है अनुभव, लगो पंचताप बीमारी ॥३॥ जो अभिमान करे सोइ मूरख, वाकी मति गइ मारी ॥ ४ ॥ कुटिया छोड़े का दुख सभी को, सुरपति नर अधिकारी ॥ ५ ॥ केशव सत गुरु भेद लखायो, छुटि गई कल्पना सारी ॥ ६ ॥

१३१ पद कलिंगड़ा

सच्चे पति स लाग ॥ सुबुधी, सच्चे पति से लाग ॥ टेक ॥ सच्चे पतित्रिकालअबाध है, ता संग खेलो फाग ॥१॥ झूठे पति संग बहुत दुख पायो, यासे पीठ दे भाग ॥२॥ शील संतोष की साड़ी पहरो, भूषण पहिरो वैराग ॥३॥ सच्चे पति निज रूप कूटस्थ है, ताम करो अनुराग ॥४॥ निर्भय होकर रहो जगत में डरो न जग की आग ॥५॥ केशव सच्चा सतगुरु मिलिया खोइ भरम के दाग ॥६॥

१३२ दोहा

जो निरख्या निज रूप को, देखन जोगन कोय । हम तुम दफ्तर गुम भये, चद्दर तान के सोय ॥१॥ अस्ति भाति प्रिय रूप में नाम रूप दो बाध । वक्र भाव कैसे रहे, लागी शुद्ध समाध ॥२॥ धीर नीर में प्रीति सम, मिलि रहा एकहि जान । कपट खटाई परत ही, बिलग २ होय मान ।३। मुख्य प्रीति का विषय है, आतम ब्रह्म सरूप । तासे ना प्रीती करे, क्यो न पड़े भव कूप ॥४॥ गुरु २ सब कोइ कहे, गुरू लखे ना कोय । एक बार जो गुरु लखे, वह खुद गुरू होय सोय ॥५॥

१३३ राग बंगला

कुटी में क्यों करता अभिमान, कुटिया नरको की है खान ॥टेक॥ प्रथम गर्भ पिताजी धारे, पीछे माता जान ॥ नरक द्वार से निकस पही है, नरक द्वार समान ॥१॥ प्रथम दिवस संयोग भयो है, तीजे दधी समान ॥ तीन मास में पिंड सम जानो, चौथे नख शिख कान ॥२॥ पंचम मास आकार धन्यो है, चेते पिंड मे प्रान । छटे मास पुष्ट सब होगये, सप्तम तेज बल जान ॥३॥ अष्ट मास में दुर्बल भयो है, नौमें पूर्ण निर्मान ॥

१३० पद कालिंगड़ा

कुटिया लगी अति खारी ॥ मोमन कुटिया लगी अति खारी ॥टेक॥ यह कुटिया में बहुत दुख पायो, मल-मूत्र लाग रहारी ॥ १ ॥ यह कुटिया अति जड़ परिणामी, परत पट विकारी ॥ २ ॥ या कुटिया में भयो है अनुभव, लगी पंचकोष बीमारी ॥३॥ जो अभिमान करे सोइ मूरख, ताकी मति गई मारी ॥ ४ ॥ कुटिया रूखे का पंच सभी को, सुरपति नर अधिकारी ॥ ५ ॥ केशव दास गुरु भेद लखायो, छुटि गई कल्पना सारी ॥ ६ ॥

१३१ पद कलिंगड़ा

सच्चे पति से लाग ॥ सुबुद्धी, सच्चे पति से लाग ॥ टेक ॥ सच्चे पतिनिष्कामअकाम हैं, ता संग खेलो फाग ॥१॥ झूठे पति संग बहुत दुख पायो, वासे पीठ दे भाग ॥२॥ शील संतोष की साड़ी पहरो, भूषण पहिरो वैराग ॥३॥ सच्चे पति निज रूप कूटस्थ है, तासे करो अनुराग ॥४॥ निर्भय होकर रहो जगत में, डरो न जग की आग ॥५॥ केशव सच्चा सतगुरु मिलिया तोड़ भरम के दाग ॥६॥

रती करत है, बुद्धी होगई हान ॥४॥ ग्राम छोड़ कर जंगल रहते, सोवे चद्दर तान ॥ ज्ञान ध्यान की राह न पाई, अन्तर मैला जान ॥५॥ काला नाग वसे बात्रो में कितनो हि दूध पियान ॥ औसर पाके काटे उसको, असर जाति का जान ॥६॥ बड़े भाग मानुष तन पाके समझो चतुर सुजान ।। ज्ञान बिना सुख तीन काल नहिं कहते वेद पुरान ॥७॥ सच्चा लेना सच्चा देना, सच्चा रूप पिछान ॥ केशवानन्द आनन्द घन व्यापक,लखते एक समान ॥८॥

शेर—

सूर्य वत प्रकाश हो, पर आतिस की तरह गरम नहीं ।
चंद्र सम शीतल सदा, पर जलवत् नरम नहीं ॥
आकाशवत् भरपूर हो, नाम रूप सब कूर हो ।
सच्चिदानन्द जहूर हो, सो केशवानन्द का नूर हो ॥

—o—

१३५ दोहा

गुसे तीनों गुण को, प पकड़ा मजबूत ।
नसे तत्व ज्ञान कर, माया करी निपून ॥
ईश्वर के पर पंच में, मालव देश के माहिं ।
शहर एक रतलाम है, राजस्थान हैं ताहिं ॥
ताके पश्चिम भाग में, भील एक है स्थान ।
सागोदिया खाल कहत हैं, नाम यही पहिचान ॥

कुटिया कारन बहुत दुख पायो, कष्ट कर्यातर मान ॥४॥ नरक द्वार में प्रगट भयो है, सुख होय मूढ़ अज्ञान ॥ आनन्द में सब मगन भये हैं, भाजत नष्ट निशान ॥५॥ इस कुटिया में तीन अवस्था बाल युवा अरु ज्ञान ॥ बाल मातानी युवा मस्तानी वृद्धा चिंता खान ॥६॥ कुटी बनी थी वह पूजेभजन को, उलटे फंसा अभिमान भरम करम में वाद्या जोड़ा, फल गया कुफल खान ॥७॥ अन्दर नरक बाहरहु नरक, है नरकहि नख शिख मान ॥ जो अभिमान करे कुटिया का, पड़ते चारो खान ॥८॥ जिसको सच्चा गुरु मिला है, बताया गगन निशान ॥ केशव कुटिया की धूल उड़ा के, सोवे चदर तान ॥९॥

१३४ बंगला

समझे कुटिया का अभिमान सुनले कथा लगा कर कान ॥टेक॥ अस्थि मांस की कुटी बनी है मल मूतर अस्थान ॥ रोम राम स नरक झरत है, आखिर मिथ्या आन ॥१॥ रावण कुम्भकरण खरदूषण महाबाहु बान ॥ जिन २ कुटिया राग करा है, तिन ० की भई हान ॥२॥ हिरनाकुश दुर्योधन राजा मधुकैटभ बलवान ॥ कुटिया का अभिमान करे से रहा न नाम निशान ॥३॥ तनक बड़ाई तन धन पाकर चाहत है बड़ा मान ॥ खान पान में

उभय श्वास के बीच में, सुरत कुटी को जान ।
तामें बैठ प्रगट भयो, तत्त्व गुटका ज्ञान ॥
सम्वत की संख्या कहूँ, सुनिये चित्त दे कान ।
वसु आठ नव ग्रह है, शशी शशी पहिचान ॥
फाल्गुण कृष्ण द्वितिया भौमवार को आन ।
ता दिन पद पूरण भयो, तत्त्व गुटका ज्ञान ॥

—०—

इति श्री महात्मा परमहंस परिव्राजकाचार्य स्वामीजी
श्री केशवानन्दजी महाराज (श्री केशव भगवान)
कृत तत्त्व-ज्ञान गुटका समाप्त